



श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित

अष्टपाहुड

भाषा वचनिकाकार :
पण्डितवर श्री जयचन्द्रजी छाबड़ा
जयपुर (राजस्थान)

भाषा परिवर्तनकर्ता :
पण्डित महेन्द्रकुमारजी जैन, काव्यतीर्थ
मदनगंज-किशनगढ़ (राजस्थान)

सम्पादन एवं प्रस्तावना
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
जयपुर

प्रकाशक :
सत्साहित्य प्रकाशक पाटनी ग्रंथमाला, कलकत्ता
एवं

पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५ (राज.)

फोन : ०१४१-२७०७४५८, २७०५५८१ फैक्स : २७०४१२७

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१. दर्शनपाहुड		दर्शन भ्रष्ट होकर भी दर्शन धारकों से अपनी विनय चाहते हैं वे दुर्गति के पात्र हैं	१८
भाषाकारकृत मंगलाचरण, देशभाषा लिखने की प्रतिज्ञा	१	लज्जादि के भय से दर्शन भ्रष्ट का विनय करे वह भी उसी के समान (भ्रष्ट) है	१९
भाषा वचनिका बनाने का प्रयोजन तथा लघुता के साथ प्रतिज्ञा व मंगल	२	दर्शन की (मत की) मूर्ति कहाँ पर कैसे है कल्याण तथा अकल्याण का निश्चायक	२०
कुन्दकुन्दस्वामिकृत भगवान को नमस्कार तथा दर्शनमार्ग लिखने की सूचना	३	सम्यग्दर्शन ही है	२१
धर्म की जड़ सम्यग्दर्शन है, उसके बिना वन्दन की पात्रता भी नहीं	३	कल्याण अकल्याण के जानने का फल जिन वचन ही सम्यक्त्व के कारण होने से दुःख के नाशक हैं	२२
भाषावचनिका कृत दर्शन तथा धर्म का स्वरूप दर्शन के भेद तथा भेदों का विवेचन	५	जिनागमोक्त दर्शन (मत) के भेषों का वर्णन	२२
दर्शन के उद्बोधक चिह्न	६	सम्यग्दृष्टि का लक्षण	२३
सम्यक्त्व के आठ गुण और आठ गुणों का प्रशामादि चिह्नों में अन्तर्भाव	८	निश्चय व्यवहार भेदात्मक सम्यक्त्व का स्वरूप रत्नत्रय में भी मोक्षसोपान की प्रथम श्रेणि (पेड़ि)	
सुदेव-गुरु तथा सम्यक्त्व के आठ अंग	१० से १२	सम्यग्दर्शन ही है अतएव श्रेष्ठ रत्न है तथा धारण करने योग्य है	२४
सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य चारित्र मोक्ष का कारण नहीं	१२	विशेष न हो सके तो जिनोक्त पदार्थ श्रद्धान ही करना चाहिए क्योंकि वह जिनोक्त सम्यक्त्व है	२५
सम्यक्त्व के बिना ज्ञान तथा तप भी कार्यकारी नहीं	१२	जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय इन पंचात्मकतारूप हैं वे वंदना योग्य हैं तथा	
सम्यक्त्व बिना सर्व ही निष्फल है तथा उसके सद्भावों में सर्व ही सफल है	१३	गुणधारकों के गुणानुवाद रूप हैं	२५
कर्मरजनाशक सम्यग्दर्शन की शक्ति जल-प्रवाह के समान है	१५	यथाजात दिगम्बर स्वरूप को देखकर मत्सर भाव से जो विनयादि नहीं करता है वह	
जो दर्शनादित्रय में भ्रष्ट हैं वे कैसे हैं	१५	मिथ्यादृष्टि है	२६
भ्रष्ट पुरुष ही आप भ्रष्ट होकर धर्मधारकों के निंदक होते हैं	१६	वंदना नहीं करने योग्य कौन ?	२७
जो जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं वे मूल से ही भ्रष्ट हैं और वे सिद्धि को भी प्राप्त नहीं कर सकते	१७	वंदना करने योग्य कौन ?	२८
जिनदर्शन ही मोक्षमार्ग का प्रधान साधक रूप मूल है	१७	मोक्ष में कारण क्या है ?	२९
		गुणों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठपना	३०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ज्ञानादि गुणचतुष्क की प्राप्ति में ही निस्संदेह जीव सिद्ध है	३०	अनेक शक्तिसहित परीषहों के जीतनेवाले ही कर्म का क्षय तथा निर्जरा करते हैं वे वंदन योग्य हैं	४९
सुरासुरवंद्य अमूल्य रत्न सम्यग्दर्शन ही है	३१	इच्छाकार करने योग्य कौन ?	५०
सम्यग्दर्शन का माहात्म्य	३१	इच्छाकार योग्य श्रावक का स्वरूप	५०
स्थावर प्रतिमा अथवा केवल ज्ञानस्थ अवस्था	३२	अन्य अनेक धर्माचरण होने पर भी इच्छाकार के अर्थ से अज्ञ है उसको भी सिद्धि नहीं	५१
जंगम प्रतिमा अथवा कर्म देहादि नाश के अनन्तर निर्वाण प्राप्ति	३२	इच्छाकार विषयक दृढ़ उपदेश	५१
२. सूत्रपाहुड			
सूत्रस्थ प्रमाणीकता तथा उपादेयता	३५	जिनसूत्र के जाननेवाले मुनियों के स्वरूप का वर्णन	५२
भव्य (त्व) फलप्राप्ति में ही सूत्र मार्ग की उपादेयता	३५	यथाजातरूपता में अल्प परिग्रहग्रहण से भी क्या दोष होता है उसका कथन	५२
देशभाषाकारनिर्दिष्ट अन्य ग्रंथानुसार आचार्य परम्परा	३६	जिनसूत्रोक्त मुनि अवस्था परिग्रह रहित ही है परिग्रहसत्ता में निंद्य है	५४
द्वादशांग तथा अंगबाह्य श्रुत का वर्णन	३७	प्रथम वेश मुनि का है तथा जिन प्रवचन में ऐसे मुनि वंदना योग्य हैं	५५
दृष्टान्त द्वारा भवनाशकसूत्रज्ञानप्राप्ति का वर्णन	४१	दूसरा उत्कृष्ट वेष श्रावक का है तीसरा वेष स्त्री का है	५५
सूत्रस्थ पदार्थों का वर्णन और उसका जानने वाला सम्यग्दृष्टि	४२	वस्त्रधारकों के मोक्ष नहीं, चाहे वह तीर्थंकर भी क्यों न हो, मोक्ष नग्न (दिगम्बर) अवस्था में ही है स्त्रियों के नग्न दिगम्बर दीक्षा के अवरोधक कारण	५६
व्यवहार परमार्थ भेदद्वयरूप सूत्र का ज्ञाता	४३	सम्यक्त्वसहित चारित्र धारक स्त्री शुद्ध है पापरहित है	५७
मल का नाशकर सुख को पाता है	४३	स्त्रियों के ध्यान की सिद्धि भी नहीं	५८
टीका द्वारा निश्चय व्यवहार नयवर्णित	४४	जिन सूत्रोक्त मार्गानुगामी ग्राह्यपदार्थों में से भी अल्प प्रमाण ग्रहण करते हैं तथा जो सर्व इच्छाओं में रहित हैं वे सर्व दुःख रहित हैं	५८
व्यवहार परमार्थसूत्र का कथन	४४	३. चारित्रपाहुड	
सूत्र के अर्थ व पद से भ्रष्ट है वह मिथ्यादृष्टि है	४६	नमस्कृति तथा चारित्र पाहुड लिखने की प्रतिज्ञा	६०
हरिहरतुल्य भी जो जिनसूत्र से विमुख है उसकी सिद्धि नहीं	४७		
उत्कृष्ट शक्तिधारक संघनायक मुनि भी	४७		
यदि जिनसूत्र से विमुख है तो वह	४८		
मिथ्यादृष्टि ही है	४८		
जिनसूत्र में प्रतिपादित ऐसा मोक्षमार्ग	४८		
और अन्य अमार्ग	४८		
सर्वारंभ परिग्रह से विरक्त हुआ जिनसूत्रकथित	४९		
संयमधारक सुरासुरादिकर वंदनीक है	४९		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
टीकाकारकृत आयतन का अर्थ तथा इनसे		है तथा उसका धारक पात्र कैसा होता है ?	११४
विपरीत अन्यमत-स्वीकृत का निषेध	९१	दीक्षा का अंतरंग स्वरूप तथा दीक्षाविषय	
चैत्यगृह का कथन	९२	विशेषकथन	११४
जंगमथावर रूप जिनप्रतिमा का निरूपण	९३	दीक्षा का बाह्यस्वरूप तथा विशेष कथन प्रब्रज्या	
दर्शन का स्वरूप	९५	का संक्षिप्त कथन	११५
जिनबिंब का निरूपण	९६	बोधपाहुड (षट्जीवहितंकर) का संक्षिप्त कथन	१२४
जिनमुद्रा का स्वरूप	९८	सर्वज्ञप्रणीत तथा पूर्वाचार्यपरंपरागत अर्थ का	
ज्ञान का निरूपण	९८	प्रतिपादन	१२७
दृष्टान्त द्वारा ज्ञान का दृढीकरण	९९	भद्रबाहुश्रुतकेवली के शिष्य ने किया है ऐसा	
विनयसंयुक्तज्ञानी के मोक्ष की प्राप्ति होती है	९९	कथन	१२८
मतिज्ञानादि द्वारा मोक्षलक्ष्यसिद्धि में बाण		श्रुतकेवली भद्रबाहु की स्तुति	१२८
आदि दृष्टान्त का कथन	१००		
देव का स्वरूप	१००	५. भावपाहुड	
धर्म, दीक्षा और देव का स्वरूप	१०१	जिनसिद्धसाधुवन्दन तथा भावपाहुड कहने की	
तीर्थ का स्वरूप	१०२	सूचना	१३०
अरहंत का स्वरूप	१०३	द्रव्यभावरूपलिंग में गुण दोषों का उत्पादक	
नाम की प्रधानता से गुणों द्वारा अरहंत का कथन	१०४	भावलिंग ही परमार्थ है	१३१
दोषों के अभाव द्वारा ज्ञानमूर्ति अरहंत का कथन	१०५	बाह्यपरिग्रह का त्याग भी अंतरंगपरिग्रह के	
गुणस्थानादि पंच प्रकार से अरहंत की स्थापना		त्याग में ही सफल है	१३२
पंचप्रकार है	१०५	करोड़ों भव तप करने पर भी भाव के	
गुणस्थान स्थापना से अरहंत का निरूपण	१०६	बिना सिद्धि नहीं	१३३
मार्गणा द्वारा अरहंत का निरूपण	१०७	भाव के बिना (अशुद्ध परिणति में) बाह्य	
पर्याप्तिद्वारा अरहंत का कथन	१०८	त्याग कार्यकारी नहीं	१३३
प्राणों द्वारा अरहंत का कथन	१०९	मोक्षमार्ग में प्रधान भाव ही हैं, अन्य अनेक	
जीवस्थान द्वारा अरहंत का निरूपण	१०९	लिंग धारने से सिद्धि नहीं	१३४
द्रव्य की प्रधानता द्वारा अरहंत का निरूपण	११०	अनादि काल से अनंतानंत संसार में भावरहित	
भाव की प्रधानता से अरहंत का निरूपण	१११	बाह्यलिंग अनंतबार छोड़े तथा ग्रहण किये हैं	१३४
अरहंत के भाव का विशेष विवेचन	१११	भाव के बिना सांसारिक अनेक दुःखों को	
प्रब्रज्या (दीक्षा) कैसे स्थान पर निर्वाहित होती		प्राप्त हुआ है, इसलिए जिनोक्त भावना की	
		भावना करो	१३५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
नरकगति के दुःखों का वर्णन	१३५	निगोद के दुःखों का वर्णन	१४५
तिर्यचगति के दुःखों का वर्णन	१३६	क्षुद्र भवों का कथन	१४६
मनुष्यगति के दुःखों का वर्णन	१३७	रत्नत्रय धारण करने का उपदेश	१४६
देवगति के दुःखों का वर्णन	१३७	रत्नत्रय का सामान्य लक्षण	१४७
द्रव्यलिंगी कंदर्पी आदि पाँच अशुभभावना के निमित्त से नीच देव होता है	१३८	जन्म मरण नाशक सुमरण का उपदेश	१४७
कुभावनारूप भाव कारणों से अनेकबार अनंतकाल पार्श्वस्थ भावना भाकर दुःखी हुआ	१३८	टीकाकार वर्णित १७ सुमरणों के भेद तथा सर्व के लक्षण	१४७
हीन देव होकर महर्द्धिक देवों की विभूति देखकर मानसिक दुःख हुआ	१३९	द्रव्य श्रमण का त्रिलोक में ऐसा कोई भी परमाणु मात्र क्षेत्र नहीं जहाँ कि जन्म मरण को प्राप्त नहीं हुआ। भावलिंग के बिना बाह्य जिनलिंग प्राप्ति में भी अनंत काल दुःख सहे	१५०
मदमत्त अशुभभावनायुक्त अनेक बार कुदेव हुआ	१३९	पुद्गल की प्रधानता से भ्रमण क्षेत्र की प्रधानता से भ्रमण और शरीर के रोग प्रमाण की अपेक्षा से दुःख का वर्णन	१५१
गर्भजन्य दुःखों का वर्णन	१४०	अपवित्र गर्भ-निवास की अपेक्षा दुःख का वर्णन	१५३
जन्म धारण कर अनंतानंत बार इतनी माताओं का दूध पीया कि जिसकी तुलना समुद्रजल से भी अधिक है	१४०	बाल्य अवस्था संबंधी वर्णन	१५४
अनंत बार मरण से माताओं के अश्रुओं की तुलना समुद्र के जल से अधिक है	१४१	शरीरसंबंधी अशुचित्व का विचार कुटुम्ब से छूटना वास्तविक छूटना नहीं, किन्तु भाव से छूटना ही वास्तविक छूटना है	१५५
अनंत जन्म के नख तथा केशों की राशि भी मेरु से अधिक है	१४१	मुनि बाहुबलीजी के समान भावशुद्धि के बिना बहुत कालपर्यन्त सिद्धि नहीं हुई	१५६
जल थल आदि अनेक तीन भुवन के स्थानों में बहुत बार निवास किया	१४२	मुनि पिंगल का उदाहरण तथा टीकाकार वर्णित कथा	१५६
जगत के समस्त पुद्गलों को अनन्तबार भोगा तो भी तृप्ति नहीं हुई	१४२	वशिष्ठ मुनि का उदाहरण और कथा	१५७
तीन भुवन संबंधी समस्त जल पिया तो भी प्यास शांत न हुई	१४३	भाव के बिना चौरासी योनियों में भ्रमण भाव से ही लिंगी होता है, द्रव्य से नहीं	१५९
अनंत भवसागर में अनेक शरीर धारण किये जिनका कि प्रमाण भी नहीं विषादि द्वारा मरण कर अनेक बार अपमृत्युजन्य तीव्र दुःख पाये	१४४	बाहु मुनि का दृष्टान्त और कथा द्वीपायन मुनि का उदाहरण और कथा भावशुद्धि की सिद्धि में शिवकुमार मुनि का दृष्टान्त तथा कथा	१६० १६१ १६२

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
भावशुद्धि बिना विद्वत्ता भी कार्यकारी नहीं	१६२	भाव के फल का माहात्म्य	१७६
उसमें उदाहरण अभव्यसेन मुनि	१६३	भावों के भेद और उनके लक्षण	१७६
विद्वत्ता बिना भी भावशुद्धि कार्यकारिणी है		जिनशासन का माहात्म्य	१७७
उसका दृष्टान्त शिवभूति तथा शिवभूति की कथा	१६३	दर्शनविशुद्धि आदि भावशुद्धि तीर्थकर	
नग्नत्व की सार्थकता भाव से ही है	१६४	प्रकृति की भी कारण है	१७८
भाव के बिना कोरा नग्नत्व कार्यकारी नहीं	१६५	विशुद्धि निमित्त आचरण का उपदेश	१७८
भावलिङ्ग का लक्षण	१६५	जिनलिङ्ग का स्वरूप	१७९
भावलिङ्गी के परिणामों का वर्णन	१६६	जिनधर्म की महिमा	१८०
मोक्ष की इच्छा में भावशुद्ध आत्मा का चिंतवन	१६६	प्रवृत्ति निवृत्तिरूप धर्म का कथन पुण्यधर्म	
आत्मचिंतवन भी निजभाव सहित कार्यकारी है	१६६	नहीं है, धर्म क्या है ?	१८१
सर्वज्ञ प्रतिपादित जीव का स्वरूप	१६६	पुण्य प्रधानताकर भोग का निमित्त है,	
जिसने जीव का अस्तित्व अंगीकार किया		कर्मक्षय का नहीं	१८२
है उसी के सिद्धि है	१६८	मोक्ष का कारण आत्मीक स्वभावरूप	
जीव का स्वरूप वचनगम्य न होने पर भी		धर्म ही है	१८२
अनुभवगम्य है	१६९	आत्मीक शुद्ध परिणति के बिना अन्य समस्त	
पंचप्रकार ज्ञान भी भावना का फल है	१७०	पुण्य परिणति सिद्धि से रहित हैं	१८३
भाव बिना पठन श्रवण कार्यकारी नहीं	१७१	आत्मस्वरूप का श्रद्धान तथा ज्ञान मोक्ष का	
बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो, तो तिर्यक		साधक है ऐसा उपदेश	१८३
आदि सभी नग्न हैं	१७१	बाह्य हिंसादि क्रिया बिना सिर्फ अशुद्ध भाव	
भाव बिना केवल नग्नपना निष्फल ही है	१७२	भी सप्तम नरक का कारण है उसमें उदाहरण-	
पापमलिन कोरा नग्न मुनि अपयश का ही		तंदुल मत्स्य की कथा	१८४
पात्र है	१७२	भावबिना बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है	१८५
भावलिङ्गी होने का उपदेश	१७३	भावशुद्धिनिमित्तक उपदेश	१८५
भावरहित कोरा नग्नमुनि निर्गुण निष्फल	१७४	भावशुद्धि का फल	१८७
जिनोक्त समाधि बोधि द्रव्यलिङ्गी के नहीं	१७४	भावशुद्धि के निमित्त परीषहों के जीतने का	
भावलिङ्ग धारणकर द्रव्यलिङ्ग धारण करना		उपदेश	१८७
ही मार्ग है	१७५	परीषह-विजेता उपसर्गों से विचलित नहीं	
शुद्ध भाव मोक्ष का कारण अशुद्ध भाव		होता उसमें दृष्टान्त	१८८
संसार का कारण	१७५	भावशुद्धि निमित्त भावनाओं का उपदेश	१८९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
भावशुद्धि में ज्ञानाभ्यास का उपदेश	१८९	भावना सामान्य का कथन	२०३
भावशुद्धि के निमित्त ब्रह्मचर्य के अभ्यास का कथन	१८९	उत्तरभेदसहित शीलव्रत भाने का उपदेश	२०४
भावसहित चार आराधना को प्राप्त करता है, भावरहित संसार में भ्रमण करता है	१९०	टीकाकार द्वारा वर्णित शील के अठारह हजार भेद तथा चौरासी लाख उत्तर गुणों का वर्णन, गुणस्थानों की परिपाटी	२०७
भाव तथा द्रव्य के फल का विशेष अशुद्ध भाव से ही दोषरहित आहार किया, फिर उसी से दुर्गति के दुःख सहे	१९१	धर्मध्यान शुक्लध्यान के धारण तथा आर्तरौद्र के त्याग का उपदेश	२०७
सचित्त त्याग का उपदेश	१९२	भवनाशक ध्यान भावश्रमण के ही है	२०८
पंचप्रकार विनय पालन का उपदेश	१९३	ध्यानस्थिति में दृष्टान्त	२०९
वैयावृत्य का उपदेश	१९४	पंचगुरु के ध्यावने का उपदेश	२०९
लगे हुए दोषों को गुरु के सन्मुख प्रकाशित करने का उपदेश	१९४	ज्ञानपूर्वक भावना मोक्ष का कारण है	२१०
क्षमा का उपदेश	१९५	भावलिङ्गी के संसार परिभ्रमण का अभाव होता है	२११
क्षमा का फल	१९५	भाव धारण करने का उपदेश तथा भावलिङ्गी उत्तमोत्तम पद तथा उत्तमोत्तम सुख को प्राप्त करता है	२१२
क्षमा के द्वारा पूर्वसंचित क्रोध के नाश का उपदेश	१९६	भावश्रमण को नमस्कार	२१२
दीक्षाकाल आदि की भावना का उपदेश	१९६	देवादि ऋद्धि भी भावश्रमण को मोहित नहीं करती तो फिर अन्य संसार के सुख क्या मोहित कर सकते हैं	२१३
भावशुद्धिपूर्वक ही चार प्रकार का बाह्यलिङ्ग कार्यकारी है	१९७	जबतक जरारोगादि का आक्रमण न हो तबतक आत्मकल्याण करो	२१४
भाव बिना आहारादि चार संज्ञा के परवश होकर अनादिकाल संसार भ्रमण होता है	१९८	अहिंसा धर्म का उपदेश	२१४
भावशुद्धिपूर्वक बाह्य उत्तरगुणों की प्रवृत्ति का उपदेश	१९९	चार प्रकार के मिथ्यात्वियों के भेदों का वर्णन	२१६
तत्त्व की भावना का उपदेश	१९९	अभव्य विषयक कथन	२१८
तत्त्वभावना बिना मोक्ष नहीं	२०१	मिथ्यात्व दुर्गति का निमित्त है	२१९
पापपुण्यरूपबंध तथा मोक्ष का कारण भाव ही है	२०२	तीन सौ त्रेसठ प्रकार के पाखंडियों के मत को छुड़ाने का और जिनमत में प्रवृत्त करने का उपदेश है	२२०
पापबंध के कारणों का कथन	२०२		
पुण्यबंध के कारणों का कथन	२०३		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
सम्यग्दर्शन बिना जीव चलते हुए मुरदे के समान है, अपूज्य है	२२०	शुद्धभावनिमित्त आचार्यकृत सिद्धपरमेष्ठी की प्रार्थना	२३३
सम्यक्त्व की उत्कृष्टता	२२१	चार पुरुषार्थ तथा अन्य व्यापार सर्व भाव में ही परिस्थित हैं, ऐसा संक्षिप्त वर्णन	२३४
सम्यग्दर्शनसहित लिंग की प्रशंसा	२२२	भाव प्राभृत के पढ़ने-सुनने-मनन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा उपदेश तथा पण्डित जयचंद्रजी कृत ग्रन्थ का देशभाषा में सार	२३६
दर्शनरत्न के धारण करने का आदेश	२२२		
असाधारण धर्मों द्वारा जीव का विशेष वर्णन	२२३		
जिनभावना-परिणत जीव घातिकर्म का नाश करता है	२२५		
घातिकर्म का नाश अनंत-चतुष्टय का कारण है	२२५		
कर्मरहित आत्मा ही परमात्मा है, उसके कुछेक नाम	२२६		
देव से उत्तम बोधि की प्रार्थना	२२७		
जो भक्तिभाव से अरहंत को नमस्कार करते हैं वे शीघ्र ही संसार बेलि का नाश करते हैं	२२८		
जलस्थित कमलपत्र के समान सम्यग्दृष्टि विषयकषायों से अलिप्त है	२२८		
भावलिङ्ग विशिष्ट द्रव्यलिङ्गी मुनि कोरा द्रव्यलिङ्गी है और श्रावक से भी नीचा है	२२९		
धीर वीर कौन ?	२३०		
धन्य कौन ?	२३१		
मुनिमहिमा का वर्णन	२३१		
मुनि सामर्थ्य का वर्णन	२३१		
मूलोत्तर-गुण-सहित मुनि जिनमत आकाश में तारागण सहित पूर्ण चंद्रसमान है	२३२		
विशुद्धभाव के धारक ही तीर्थंकर चक्री आदि के पद तथा सुख प्राप्त करते हैं	२३२		
विशुद्ध भाव धारक ही मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं	२३३		
		६. मोक्षपाहुड	
		मंगलनिमित्त देव को नमस्कार	२३८
		देव नमस्कृति पूर्वक मोक्षपाहुड लिखने की प्रतिज्ञा	२३९
		परमात्मा के ज्ञाता योगी को मोक्ष प्राप्ति	२३९
		आत्मा के तीन भेद	२४०
		आत्मत्रय का स्वरूप	२४०
		परमात्मा का विशेष स्वरूप	२४१
		बहिरात्मा को छोड़कर परमात्मा को ध्याने का उपदेश	२४२
		बहिरात्मा का विशेष कथन	२४२
		मोक्ष की प्राप्ति किसके है	२४४
		बंधमोक्ष के कारण का कथन	२४५
		कैसा हुआ मुनि कर्म का नाश करता है	२४५
		कैसा हुआ कर्म का बंध करता है	२४६
		सुगति और दुर्गति के कारण	२४६
		परद्रव्य का कथन	२४७
		स्वद्रव्य का कथन	२४८
		निर्वाण की प्राप्ति किस द्रव्य के ध्यान से होती है	२४८
		जो मोक्ष प्राप्त कर सकता है उसे स्वर्ग प्राप्ति सुलभ है	२४९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
इसमें दृष्टान्त	२४९	चारित्रविषयक विशेष कथन	२६७
स्वर्गमोक्ष के कारण	२५०	जीव के विशुद्ध अशुद्ध कथन में दृष्टान्त	२६७
परमात्मस्वरूप प्राप्ति के कारण और उस		सम्यत्वसहित सरागी योगी कैसा	२६८
विषय का दृष्टान्त	२५०	कर्मक्षय की अपेक्षा अज्ञानी तपस्वी से ज्ञानी	२६८
दृष्टान्त द्वारा श्रेष्ठ अश्रेष्ठ का वर्णन	२५१	तपस्वी में विशेषता	२६८
आत्मध्यान की विधि		अज्ञानी ज्ञानी का लक्षण	२६९
ध्यानावस्था में मौन का हेतुपूर्वक कथन	२५४	ऐसे लिंगग्रहण से क्या सुख	२७१
योगी का कार्य	२५५	सांख्यादि अज्ञानी क्यों तथा जैन में	
कौन कहाँ सोता तथा जागता है	२५५	ज्ञानित्व किस कारण से	२७२
ज्ञानी योगी का कर्तव्य	२५५	ज्ञानतप की संयुक्तता मोक्ष की साधक है	
ध्यान अध्ययन का उपदेश	२५६	पृथक्-पृथक् नहीं	२७२
आराधक तथा आराधना की विधि के फल		स्वरूपाचरणचारित्र से भ्रष्ट कौन	२७३
का कथन	२५७	ज्ञानभावना कैसी कार्यकारी है	२७४
आत्मा कैसा है	२५८	किनको जीतकर निज आत्मा का ध्यान करना	२७५
योगी को रत्नत्रय की आराधना से क्या		ध्येय आत्मा कैसा	२७५
होता है ?	२५८	उत्तरोत्तर दुर्लभता से किनकी प्राप्ति होती है	२७५
आत्मा में रत्नत्रय का सद्भाव कैसे	२५८	जबतक विषयों में प्रवृत्ति है तबतक	
प्रकारान्तर से रत्नत्रय का कथन	२५९	आत्मज्ञान नहीं	२७६
सम्यग्दर्शन का प्राधान्य	२५९	कैसा हुआ संसार में भ्रमण करता है	२७६
सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	२६०	चतुर्गति का नाश कौन करते हैं ?	२७६
सम्यक्चारित्र का लक्षण	२६२	अज्ञानी विषयक विशेष कथन	२७७
परमपद को प्राप्त करनेवाला कैसा हुआ		वास्तविक मोक्षप्राप्ति कौन करते हैं ?	२७८
होता है	२६३	कैसा राग संसार का कारण है	२७९
कैसा हुआ आत्मा का ध्यान करता है	२६३	समभाव से चारित्र	२७९
कैसा हुआ उत्तम सुख को प्राप्त करता है	२६४	ध्यान योग के समय के निषेधक कैसे हैं	२८०
कैसा हुआ मोक्षसुख को प्राप्त नहीं करता	२६४	पंचमकाल में धर्म ध्यान नहीं मानते हैं, वे	
जिनमुद्रा क्या है ?	२६५	अज्ञानी हैं	२८१
परमात्मा के ध्यान से योगी के क्या		इस समय भी रत्नत्रय-शुद्धिपूर्वक आत्मध्यान	२८२
विशेषता होती है	२६६	इंद्रादि फल का दाता है	२८२

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मोक्षमार्ग में च्युत कौन ?	२८२		
मोक्षमार्गी मुनि कैसे होते हैं ?	२८४		
मोक्षप्रापक भावना	२८४		
फिर मोक्षमार्गी कैसे	२८५		
निश्चयात्मक ध्यान का लक्षण तथा फल	२८५		
पापरहित कैसा योगी होता है	२८६		
श्रावकों का प्रधान कर्तव्य निश्चलसम्यक्त्व			
प्राप्ति तथा उसका ध्यान और ध्यान का फल	२८७		
जो सम्यक्त्व को मलिन नहीं करते वे कैसे			
कहे जाते हैं	२८७		
सम्यक्त्व का लक्षण	२९०		
सम्यक्त्व किसके है	२९०		
मिथ्यादृष्टि का लक्षण	२९१		
मिथ्या की मान्यता सम्यग्दृष्टि			
के नहीं तथा दोनों का परस्पर			
विपरीत धर्म	२९२		
कैसा हुआ मिथ्यादृष्टि संसार में भ्रमता है	२९३		
मिथ्यात्वी लिंगी की निरर्थकता			
जिनलिंग का विरोधक कौन ?	२९४		
आत्मस्वभाव से विपरीत का सभी व्यर्थ है	२९५		
ऐसा साधु मोक्ष की प्राप्ति करता है	२९६		
देहस्थ आत्मा कैसा जानने योग्य है	२९७		
पंचपरमेष्ठी आत्मा में ही हैं अतः वही शरण हैं	२९८		
चारों आराधना आत्मा ही में हैं अतः वही			
शरण है	२९९		
मोक्षपाहुड पढ़ने-सुनने का फल	२९९		
टीकाकारकृत मोक्षपाहुड का साररूपकथन	२९९		
ग्रंथ के अलावा टीकाकारकृत पंच नमस्कार			
मंत्र विषयक विशेष वर्णन	३०२		
		७. लिंगपाहुड	
		अरहंतों को नमस्कार पूर्वक लिंग पाहुड बनाने	
		की प्रतिज्ञा	३०६
		भावधर्म ही वास्तविक लिंग प्रधान है	३०७
		पापमोहित दुर्बुद्धि नारद के समान लिंग की हँसी	
		कराते हैं	३०७
		लिंग धारण कर कुक्रिया करते हैं, वे तिर्यच हैं	३०८
		ऐसा तिर्यच योनि है मुनि नहीं	३०९
		लिंगरूप में खोटी क्रिया करनेवाला	
		नरकगामी है	३०९
		लिंगरूप में अब्रह्म का सेवनेवाला संसार	
		में भ्रमण करता है	३१०
		कौन सा लिंगी अनंत संसारी है	३१०
		किस कर्म का नाश करनेवाला लिंगी	
		नरकगामी है	३११
		फिर कैसा हुआ तिर्यच योनि है	३१२
		कैसा जिनमार्गी श्रमण नहीं हो सकता	३१३
		चोर के समान कौन सा मुनि कहा जाता है	३१४
		लिंगरूप में कैसी क्रियायें तिर्यचता की द्योतक हैं	३१५
		भावरहित श्रमण नहीं है	३१६
		स्त्रियों का संसर्ग विशेष रखनेवाला श्रमण नहीं	
		पार्श्वस्थ से भी गिरा है	३१७
		पुंश्चली के घर भोजन तथा उसकी प्रशंसा	
		करनेवाला ज्ञान भाव रहित है श्रमण नहीं	३१७
		लिंगपाहुड धारण करने का तथा उसका फल	३१८
		८. शीलपाहुड	
		महावीर स्वामी को नमस्कार और शीलपाहुड	
		लिखने की प्रतिज्ञा	३२०

विषय	पृष्ठ	विषयासक्त हुआ किस फल को प्राप्त होता है	३३४
शील और ज्ञान परस्पर विरोध रहित हैं, शील के बिना ज्ञान भी नहीं	३२१	शीलवान तुष के समान विषयों का त्याग करता है	३३४
ज्ञान होने पर भी ज्ञान भावना विषय विरक्ति उत्तरोत्तर कठिन है	३२२	विषय	पृष्ठ
जबतक विषयों में प्रवृत्ति है तबतक ज्ञान नहीं जानता तथा कर्मों का नाश भी नहीं	३२३	अंग के सुन्दर अवयवों से भी शील ही सुन्दर है	३३५
कैसा आचरण निरर्थक है	३२४	मूढ तथा विषयी संसार में ही भ्रमण करते हैं	३३६
महाफल देनेवाला कैसा आचरण होता है	३२४	कर्मबंध कर्मनाशक गुण सब गुणों की शोभा शील से है	३३७
कैसे हुए संसार में भ्रमण करते हैं	३२४	मोक्ष का शोध करनेवाले ही शोध्य हैं	३३७
ज्ञानप्राप्ति पूर्वक कैसे आचरण संसार का नाश करते हैं	३२५	शील के बिना ज्ञान कार्यकारी नहीं, उसका सोदाहरण वर्णन	३३९
ज्ञान द्वारा शुद्धि में सुवर्ण का दृष्टान्त	३२५	नारकी जीवों को भी शील अर्हद्विभूति से भूषित करता है, उसमें वर्द्धमान जिनका दृष्टान्त	३३९
विषयों में आसक्ति किस दोष से है	३२६	मोक्ष में मुख्य कारण शील	३४०
निर्वाण कैसे होता है	३२७	अग्नि के समान पंचाचार कर्म का नाश करते हैं	३४०
नियम से मोक्षप्राप्ति किसके है	३२७	कैसे हुए सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं	३४१
किनका ज्ञान निरर्थक है	३२८	शीलवान महात्मा का जन्मवृक्ष गुणों से विस्तारित होता है	३४१
कैसे पुरुष आराधना रहित होते हैं	३२८	किसके द्वारा कौन बोधि की प्राप्ति करता है	३४२
किनका मनुष्यजन्म निरर्थक है	३२९	कैसे हुए मोक्ष सुख को पाते हैं	३४२
शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी शील ही उत्तम है	३३०	आराधना कैसे गुण प्रगट करती है	३४३
शील मंडित देवों के भी प्रिय होते हैं	३३०	ज्ञान वही है जो सम्यक्त्व और शील सहित है	३४४
मनुष्यत्व किनका सुजीवित है	३३१	टीकाकारकृत शीलपाहुड का सार	३४५
शील का परिवार	३३१	वचनिकाकार की प्रशस्ति	३४६
तपादिक सब शील ही है	३३३		
विषयरूपी विष ही प्रबल विष है	३३४		



प्रस्तावना

आचार्य कुन्दकुन्द

और

अष्टपाहुड

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

आचार्य कुन्दकुन्द

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

शास्त्रसभा में गद्दी पर बैठकर प्रवचन करते समय ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम के साथ-साथ यह उल्लेख भी आवश्यक माना जाता है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में रचा गया है।

प्रवचन के प्रारम्भ में बोली जानेवाली वे पंक्तियाँ इसप्रकार हैं -

“अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये.....विरचितम्। श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।”

उक्त पंक्तियों के उपरान्त मंगलाचरणस्वरूप जो छन्द बोला जाता है, उसमें भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही समग्र आचार्य परम्परा में नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है, शेष सभी को ‘आदि’ शब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिसप्रकार हाथी के पैर में सभी के पैर समाहित हो जाते हैं; उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द में समग्र आचार्यपरम्परा समाहित हो जाती है। दिगम्बर परम्परा के प्रवचनकारों द्वारा प्रवचन के आरम्भ में मंगलाचरणस्वरूप बोला जानेवाला छन्द इसप्रकार है -

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान लगभग प्रत्येक जिनबिम्ब (जिनप्रतिमा या जिनमूर्ति) पर ‘कुन्द-कुन्दान्वय’ उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है। आपकी महिमा बतानेवाले शिलालेख भी उपलब्ध हैं।

कतिपय महत्त्वपूर्ण शिलालेख इसप्रकार हैं -

“कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों

के - चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं।^१”

“यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे मैं समझता हूँ कि वे अन्तर व बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अर्थात् वे अंतरंग में रागादिमल से तथा बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।)”

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्यदेव के नाम एवं काम (महिमा) से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकेषणा से दूर रहनेवाले जैनाचार्यों की विशेषता रही है कि महान से महान ऐतिहासिक कार्य करने के बाद भी अपने व्यक्तिगत जीवन के संबंध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते। आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है। ‘द्वादशानुप्रेक्षा’ में मात्र नाम का उल्लेख है।^३ इसीप्रकार ‘बोधपाहुड़’ में अपने को द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदहपूर्वों का विपुल प्रसार करनेवाले श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य लिखा है।^४

अतः उनके जीवन के संबंध में बाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर करना पड़ता है। बाह्य साक्ष्यों में भी उनके जीवन संबंधी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने यद्यपि आपका उल्लेख बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक किया है, शिलालेखों में भी उल्लेख पाये जाते हैं। उक्त उल्लेखों से आपकी महानता पर तो प्रकाश पड़ता है; तथापि उनसे भी आपके जीवन के संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

बाह्य साक्ष्य के रूप में उपलब्ध ऐतिहासिक लेखों, प्रशस्ति-पत्रों, मूर्तिलेखों, परम्परागत जनश्रुतियों एवं परवर्ती लेखकों के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों द्वारा आलोद्धित जो भी जानकारी आज उपलब्ध है, उसका सार-संक्षेप कुल मिलाकर इसप्रकार है -

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था ? यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दिसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था।

विक्रम संवत् ४९ में आप नन्दिसंघ के पद पर आसीन हुए और मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये।^५ अत्यधिक सम्मान के कारण नाम लेने में संकोच की वृत्ति भारतीय समाज की अपनी सांस्कृतिक विशेषता रही है। महापुरुषों को गाँव के नामों या उपनामों से संबोधित करने की वृत्ति भी इसी का परिणाम

१. वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।

यश्चारुचारणकराम्बुजचञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥ (चन्द्रगिरि शिलालेख)

२.कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यञ्जयितुं यतीषः ।

रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥ (विन्ध्यगिरि शिलालेख)

३. द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ९०

४. बोधपाहुड़, गाथा ६१-६२

५. नन्दिसंघ की पट्टावली

है। कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुति मधुरता की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया। यद्यपि 'आचार्य' पद है, तथापि वह आपके नाम के साथ इसप्रकार घुल-मिल गया कि वह नाम का ही अंग हो गया।

इस संदर्भ में चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेखों में अनेकों बार समागत निम्नांकित छन्द उल्लेखनीय हैं -

“श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्गा श्री गौतमाद्यार्प्रभविष्णवस्ते ।
तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धियुक्तास्तत्सन्ततौ नन्दिगणे बभूव ॥३॥।।
श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसञ्जातसुचारणर्द्धि ॥४॥।।^६

मुनीन्द्रों में श्रेष्ठ प्रभावशाली महर्द्धिक गौतमादि रत्नों के रत्नाकर, आचार्य परम्परा में नन्दिगण में श्रेष्ठ चारित्र के धनी, चारण ऋद्धिधारी पद्मनन्दी नाम के मुनिराज हुए, जिनका दूसरा नाम - आचार्य शब्द है अंत में जिसके - ऐसा कौण्डकुन्द था अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य था।”

उक्त छन्दों में तीन बिन्दु अत्यन्त स्पष्ट हैं - १. गौतम गणधर के बाद किसी अन्य का उल्लेख न होकर कुन्दकुन्द का ही उल्लेख है, जो दिगम्बर परम्परा में उनके स्थान को सूचित करता है। २. उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। ३. उनका पद्मनन्दी प्रथम नाम था और दूसरा नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।

‘आचार्य’ शब्द नाम का ही अंश बन गया था, जो कि ‘आचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः’ पद से अत्यन्त स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि यह नाम उनके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद ही प्रचलित हुआ; परन्तु यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि मूल नाम भी विस्मृत-सा हो गया।

उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं।^७ इस सन्दर्भ में विजयनगर के एक शिलालेख में एक श्लोक पाया जाता है, जो इसप्रकार है -

“आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः ।
एलाचार्यो गृद्धपृच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥”^८

उक्त सभी नामों में कुन्दकुन्दाचार्य नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है। जब उनके मूल नाम पद्मनन्दी को भी बहुत कम लोग जानते हैं तो फिर शेष नामों की तो बात ही क्या करें ?

कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के भाग्यशाली गुरु कौन थे ? - इस संदर्भ में अन्तर्साक्ष्य के रूप में बोधपाहुड़ की जो गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं, वे इसप्रकार हैं -

“सद्वियारो भूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

६. जैनशिलालेख संग्रह, पृष्ठ ३४, ४३, ५८ एवं ७१

७. श्रुतसागर सूरी : षट्प्राभृत टीका, प्रत्येक प्राभृत की अंतिम पंक्तियाँ।

८. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १ किरण ४ (तीर्थंकर भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ-१०२)

बारस अंगवियाणं चउदस पुवंग दिउल वित्थरणं ।

सुयणाणि भद्रबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ ॥६२॥

जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है, वही भाषासूत्रों में शब्दविकाररूप से परिणमित हुआ है; उसे भद्रबाहु के शिष्य ने वैसा ही जाना है और कहा भी वैसा ही है। बारह अंग और चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करनेवाले श्रुतज्ञानी गमकगुरु भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।”

प्रथम (६१वीं) गाथा में यह बात यद्यपि अत्यन्त स्पष्ट है कि बोधपाहुड़ के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य हैं, तथापि दूसरी (६२वीं) गाथा जहाँ यह बताती है कि वे भद्रबाहु ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता पंचम श्रुतकेवली ही हैं, वहाँ यह भी बताती है कि वे कुन्दकुन्द के गमकगुरु (परम्परागुरु) हैं, साक्षात् गुरु नहीं।

इसीप्रकार का भाव समयसार की प्रथम गाथा में भी प्राप्त होता है, जो कि इसप्रकार है -

“वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते ।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धों को वंदन करके श्रुतकेवली द्वारा कथित समय-प्राभृत को कहूँगा।”

इसप्रकार तो उन्हें भगवान महावीर का भी शिष्य कहा जा सकता है, क्योंकि वे भगवान महावीर की शासन परम्परा के आचार्य हैं।

इस संदर्भ में दर्शनसार की निम्न गाथा पर भी ध्यान देना चाहिए -

“जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।

ण विवोहइ तो समणा कहं सुमगं पयाणंति ॥

यदि सीमंधरस्वामी (महाविदेह में विद्यमान तीर्थकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते ?”

क्या इस गाथा के आधार पर उन्हें सीमन्धर भगवान का शिष्य कहा जा सकता है ?

यहाँ प्रश्न इस बात का नहीं है कि उन्हें कहाँ-कहाँ से ज्ञान प्राप्त हुआ था; वस्तुतः बात यह है कि उनके दीक्षागुरु कौन थे, उन्हें आचार्यपद किससे प्राप्त हुआ था ?

जयसेनाचार्यदेव ने इस ग्रन्थ की टीका में उन्हें कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव का शिष्य बताया है और नन्दिसंघ की पट्टावली^९ में जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है; किन्तु इन कुमारनन्दी और जिनचन्द्र का भी नाममात्र ही ज्ञात है, इनके संबंध में भी विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

हो सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समान उनके दीक्षागुरु के भी दो नाम रहे हों। नन्दिसंघ में दीक्षित

९. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृष्ठ ७८

होते समय बालब्रह्मचारी अवयस्क होने के कारण उनका नाम कुमारनन्दी रखा गया हो, बाद में पट्ट पर आसीन होते समय वे जिनचन्द्राचार्य नाम से विश्रुत हुए हों। पट्टावली में जिनचन्द्र नामोल्लेख होने का यह कारण भी हो सकता है। पट्टावली में माघनन्दी, जिनचन्द्र और पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द) क्रम आता है। नन्दिसंघ में नन्द्यन्त (नन्दी है अन्त में जिनके) नाम होना सहज प्रतीत होता है।

पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका के आरम्भ में समागत जयसेनाचार्य का कथन मूलतः इसप्रकार है -

“अथ श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञ-श्रीसीमन्धरस्वामितीर्थकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धा-त्मतत्त्वादिमार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहि-र्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थमथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चा-स्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।

श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव के शिष्य प्रसिद्धकथान्याय से पूर्वविदेह जाकर वीतराग-सर्वज्ञ श्री सीमन्धर स्वामी तीर्थकर परमदेव के दर्शन कर, उनके मुखकमल से निसृत दिव्यध्वनि के श्रवण से शुद्धात्मादि तत्त्वों के साथ पदार्थों को अवधारण कर, ग्रहण कर समागत श्री पद्मनन्दी आदि हैं अपरनाम जिनके, उन श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा अन्तस्तत्त्व और बहिर्तत्त्व को गौण और मुख्य प्रतिपत्ति के लिए अथवा शिवकुमारमहाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिए रचित पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र में अधिकारों के अनुसार यथाक्रम से तात्पर्यार्थ का व्याख्यान किया जाता है।”

उक्त उद्धरण में प्रसिद्धकथान्याय के आधार पर कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा भी की गई है, जिससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य जयसेन के समय (विक्रम की बारहवीं शताब्दी में) यह कथा अत्यधिक प्रसिद्ध थी।

विक्रम की दसवीं सदी के आचार्य देवसेन के दर्शनसार में समागत गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहगमन की चर्चा की गई है। दर्शनसार के अन्त में लिखा है कि मैंने यह दर्शनसार ग्रन्थ पूर्वाचार्यों की गाथाओं का संकलन करके बनाया है। इस स्थिति में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा करनेवाली गाथा भी दसवीं शताब्दी के बहुत पहले की हो सकती है।

इस सन्दर्भ में श्रुतसागर सूरि का निम्नांकित कथन भी दृष्टव्य है - “श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्र-ग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्ड-रीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसंबोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिन-चन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे...

श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य - पंचनामधारी; जमीन से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की ऋद्धि के धारी; पूर्वविदेह की पुण्डरीकिणी नगरी में विराजित सीमन्धर

अपरनाम स्वयंप्रभ तीर्थकर से प्राप्त ज्ञान से भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को संबोधित करनेवाले; श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण; कलिकालसर्वज्ञ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) द्वारा रचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में...।”

उक्त कथन में कुन्दकुन्द के पाँच नाम, पूर्वविदेहगमन, आकाशगमन और जिनचन्द्राचार्य के शिष्यत्व के अतिरिक्त उन्हें कलिकालसर्वज्ञ भी कहा गया है।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द के संबंध में प्रचलित कथाओं का अवलोकन भी आवश्यक है।

‘ज्ञान प्रबोध’ में प्राप्त कथा का संक्षिप्त सार इसप्रकार है -

“मालवदेश वाराणसी नगर में राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य में कुन्दश्रेष्ठी नामक एक वणिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था। उनके एक कुन्दकुन्द नामक पुत्र भी था। बालकों के साथ खेलते हुए उस बालक ने एक दिन उद्यान में बैठे हुए जिनचन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन किए और उनके उपदेश को बड़े ही ध्यान से सुना।

ग्यारह वर्ष का बालक कुन्दकुन्द उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि वह उनसे दीक्षित हो गया। प्रतिभाशाली शिष्य कुन्दकुन्द को जिनचन्द्राचार्य ने ३३ वर्ष की अवस्था में ही आचार्य पद प्रदान कर दिया।

बहुत गहराई से चिन्तन करने पर भी कोई ज्ञेय आचार्य कुन्दकुन्द को स्पष्ट नहीं हो रहा था। उसी के चिन्तन में मग्न आचार्य कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थकर सीमंधर भगवान को नमस्कार किया।

वहाँ सीमंधर भगवान के मुख से सहज ही ‘सद्धर्मवृद्धिरस्तु’ प्रस्फुटित हुआ। समवशरण में उपस्थित श्रोताओं को बहुत आश्चर्य हुआ। नमस्कार करनेवाले के बिना किसको आशीर्वाद दिया जा रहा है? - यह प्रश्न सबके हृदय में सहज ही उपस्थित हो गया था। भगवान की वाणी में समाधान आया कि भरतक्षेत्र के आचार्य कुन्दकुन्द को यह आशीर्वाद दिया गया है।

वहाँ कुन्दकुन्द के पूर्वभव के दो मित्र चारणऋद्धिधारी मुनिराज उपस्थित थे। वे आचार्य कुन्दकुन्द को वहाँ ले गये। मार्ग में कुन्दकुन्द की मयूरपिच्छि गिर गई, तब उन्होंने गृद्धपृच्छिका से काम चलाया। वे वहाँ सात दिन रहे। भगवान के दर्शन और दिव्यध्वनि श्रवण से उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हो गया।

कहते हैं कि वापस आते समय वे कोई ग्रन्थ भी लाये थे, पर वह मार्ग में ही गिर गया। तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भरतक्षेत्र में आ गये। उनका धर्मोपदेश सुनकर सात सौ स्त्री-पुरुषों ने दीक्षा ली।

कुछ समय पश्चात् गिरि-गिरनार पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया, तब ब्राह्मीदेवी ने स्वीकार किया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है।

अन्त में अपने शिष्य उमास्वामी को आचार्य पद प्रदान कर वे स्वर्गवासी हो गये।”

एक कथा ‘पुण्यास्रव कथाकोष’ में भी आती है, जिसका सार इसप्रकार है -

“भरतखण्ड के दक्षिणदेश में ‘पिडथनाडू’ नाम का प्रदेश है। इस प्रदेश के अन्तर्गत कुरुमरई नाम के ग्राम में करमण्डु नाम का धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उनके यहाँ एक ग्वाला रहता था, जो उनके पशु चराया करता था। उस ग्वाले का नाम मतिवरण था।

एक दिन जब वह अपने पशुओं को जंगल में ले जा रहा था, उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि सारा जंगल दावाग्नि से जलकर भस्म हो गया है, किन्तु मध्य के कुछ वृक्ष हरे-भरे हैं। उसे उसका कारण जानने की बड़ी उत्सुकता हुई।

वह उस स्थान पर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास स्थान है और वहाँ एक पेटी में आगम ग्रन्थ रखे हैं। वह पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने सोचा कि इस आगम ग्रन्थ के कारण ही यह स्थान आग से बच गया है। अतः वह उन्हें बड़े आदर से घर ले आया। उसने उन्हें अपने मालिक के घर में एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात् एक मुनि उनके घर पर पधारे। सेठ ने उन्हें बड़े भक्तिभाव से आहार दिया। उसीसमय उस ग्वाले ने वह आगम ग्रंथ उन मुनि को प्रदान किया। उस दान से मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन दोनों को आशीर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठ के घर में उसके पुत्ररूप में जन्म लेगा।

तबतक सेठ के कोई पुत्र नहीं था। मुनि के आशीर्वाद के अनुसार उस ग्वाले ने सेठ के घर में पुत्ररूप में जन्म लिया और बड़ा होने पर वह एक महान मुनि और तत्त्वज्ञानी हुआ। उसका नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।”

इसके बाद पूर्वविदेह जाने की कथा भी पूर्ववत् वर्णित है।

इसी से मिलती-जुलती कथा ‘आराधनाकोष’ में प्राप्त होती है।

आचार्य देवसेन, जयसेन एवं भट्टारक श्रुतसागर जैसे दिग्गज आचार्यों एवं विद्वानों के सहस्राधिक वर्ष प्राचीन उल्लेखों एवं उससे भी प्राचीन प्रचलित कथाओं की उपेक्षा सम्भव नहीं है, विवेक सम्मत भी नहीं कही जा सकती। अतः उक्त उल्लेखों और कथाओं के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर आचार्य परम्परा के चूडामणि हैं।

वे विगत दो हजार वर्षों में हुए दिगम्बर आचार्यों, सन्तों, आत्मार्थी विद्वानों एवं आध्यात्मिक साधकों के आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं; भगवान महावीर और गौतम गणधर के समान प्रातःस्मरणीय रहे हैं, कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में स्मरण किये जाते रहे हैं। उन्होंने इसी भव में सदेह विदेहक्षेत्र जाकर सीमंधर अरहन्त परमात्मा के दर्शन किये थे, उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया था, उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। तभी तो कविवर वृन्दावनदासजी को कहना पड़ा -

“हुए हैं, न होहिंगे; मुनिन्द कुन्दकुन्द से।”^{१०}

विगत दो हजार वर्षों से कुन्दकुन्द जैसे प्रतिभाशाली, प्रभावशाली, पीढ़ियों तक प्रकाश बिखेरनेवाले समर्थ आचार्य न तो हुए ही हैं और पंचम काल के अन्त तक होने की संभावना भी नहीं है।”

भगवान महावीर की उपलब्ध प्रामाणिक श्रुतपरम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के अद्वितीय योगदान की सम्यक् जानकारी के लिए पूर्वपरम्परा का सिंहावलोकन अत्यन्त आवश्यक है। समयसार के आद्य टीकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा समयसार की उत्पत्ति का संबंध बताते हुए लिखते हैं :-

१०. प्रवचनसार परमागम (प्रवचनसार छन्दानुवाद)

“यह श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत गाथाबद्ध समयसार नामक ग्रन्थ है। उसकी आत्मख्याति नामक श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कृत संस्कृत टीका है। इस ग्रन्थ की उत्पत्ति का संबंध इसप्रकार है कि अन्तिम तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ वीतराग परम भट्टारक श्री वर्धमानस्वामी के निर्वाण जाने के बाद पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमें अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी हुए।

वहाँ तक तो द्वादशांग शास्त्र के प्ररूपण से व्यवहार-निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा, बाद में काल-दोष से अंगों के ज्ञान की व्युच्छिन्नि होती गई और कितने ही मुनि शिथिलाचारी हुए, जिनमें श्वेताम्बर हुए; उन्होंने शिथिलाचार पोषण करने के लिए अलग से सूत्र बनाये, जिनमें शिथिलाचार पोषक अनेक कथायें लिखकर अपना सम्प्रदाय दृढ़ किया - यह सम्प्रदाय अब तक प्रसिद्ध है।

इनके अलावा जो जिनसूत्र की आज्ञा में रहे; उनका आचार यथावत् रहा, प्ररूपणा भी यथावत् रहीं; वे दिगम्बर कहलाये। इस सम्प्रदायानुसार श्री वर्धमान स्वामी को निर्वाण प्राप्त करने के ६८३ वर्ष के बाद दूसरे भद्रबाहु स्वामी हुए; उनकी परिपाटी में कितने ही वर्ष बाद मुनि हुए, जिन्होंने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

एक तो धरसेन नामक मुनि हुए, उनको अग्रायणी पूर्व के पाँचवें वस्तु अधिकार में महाकर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उन्होंने यह प्राभृत भूतबली और पुष्पदन्त नाम के मुनियों को पढ़ाया। उन दोनों मुनियों ने आगामी काल-दोष से बुद्धि की मन्दता जानकर उस प्राभृत के अनुसार षट्खण्डसूत्र की रचना करके पुस्तकरूप लिखकर उसका प्रतिपादन किया। उनके बाद जो मुनि (वीरसेन) हुए, उन्होंने उन्हीं सूत्रों को पढ़कर विस्तार से टीका करके धवल, महाधवल, जयधवल आदि सिद्धान्तों की रचना की। उनके बाद उन्हीं टीकाओं को पढ़कर श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्यों ने गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षणसागर आदि शास्त्र बनाये।

इसप्रकार यह प्रथम सिद्धान्तों की उत्पत्ति है। इसमें जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न हुई आत्मा की संसार पर्याय के विस्तार का गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप में संक्षेप से वर्णन है। यह कथन तो पर्यायार्थिकनय को मुख्य करके है; इस ही नय को अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी कहते हैं तथा इसी को अध्यात्मभाषा में अशुद्धनिश्चयनय व व्यवहारनय भी कहते हैं।

भद्रबाहुस्वामी की परम्परा में ही दूसरे गुणधर नामक मुनि हुए। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें अधिकार में तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उस प्राभृत को नागहस्ती नामक मुनि ने पढ़ा। उन दोनों मुनियों से यतिनामक नामक मुनि ने पढ़कर उसकी चूर्णिका रूप में छह हजार सूत्रों के शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका समुद्धरण नामक मुनि ने बारह हजार सूत्र प्रमाण की।

इसप्रकार आचार्यों की परम्परा से कुन्दकुन्द मुनि उन शास्त्रों के ज्ञाता हुए। इसतरह इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञान को प्रधान करके शुद्धद्रव्यार्थिकनय का कथन है। अध्यात्मभाषा में

आत्मा का ही अधिकार होने से इसको शुद्धनिश्चय तथा परमार्थ भी कहते हैं। इसमें पर्यायार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।

इस जीव को जब तक पर्यायबुद्धि रहती है, तब तक संसार रहता है। जब इसे शुद्धनय का उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि होती है तथा अपने आत्मा को अनादि-अनन्त, एक, सर्व परद्रव्यों व परभावों के निमित्त से उत्पन्न हुए अपने भावों से भिन्न जानता है और अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करके शुद्धोपयोग में लीन होता है; तब यह जीव कर्मों का अभाव करके निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा में शुद्धनय का उपदेश करनेवाले पञ्चास्तिकाय, प्रवसनसार, समयसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्र हैं; उनमें समयप्राभृत नामक शास्त्र प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध है, उसकी आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य ने की है।

काल-दोष से जीवों की बुद्धि मन्द होती जा रही है, उसके निमित्त से प्राकृत-संस्कृत के जाननेवाले भी विरले रह गये हैं तथा गुरुओं की परम्परा का उपदेश भी विरला हो गया है; अतः मैंने अपनी बुद्धि अनुसार अन्य ग्रन्थों का अभ्यास करके इस ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका करना प्रारंभ किया है।

जो भव्यजीव इसका वाँचन करेंगे, पढ़ेंगे, सुनेंगे तथा उसका तात्पर्य हृदय में धारण करेंगे; उनके मिथ्यात्व का अभाव होगा तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी - ऐसा अभिप्राय है, अन्य पण्डिताई तथा मान-लोभादि का अभिप्राय नहीं है।

इसमें कहीं बुद्धि की मन्दता तथा प्रमाद से हीनाधिक अर्थ लिखा जाय तो बुद्धि के धारक ज्ञानीजन मूलग्रन्थ देखकर शुद्ध करके वाँचन करना, हास्य मत करना; क्योंकि सत्पुरुषों का स्वभाव गुण-ग्रहण करने का ही होता है - यह मेरी परोक्ष प्रार्थना है।^{११}

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अचेलक परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का अवतरण उससमय हुआ, जब भगवान महावीर की अचेलक परम्परा को उन जैसे तलस्पर्शी अध्यात्मवेत्ता एवं प्रखरप्रशासक आचार्य की आवश्यकता सर्वाधिक थी। यह समय श्वेताम्बर मत का आरम्भकाल ही था। इससमय बरती गई किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान महावीर के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी। भगवान महावीर की मूल दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ आचार्य होने के नाते आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो उत्तरदायित्व थे। एक तो द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम (अध्यात्म-शास्त्र) को लिखितरूप से व्यवस्थित करना और दूसरा शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना एवं कठोर कदम उठाना। दोनों ही उत्तरदायित्वों को उन्होंने बखूबी निभाया।

प्रथम श्रुतस्कन्धरूप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा हो रही थी। द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम का क्षेत्र खाली था। मुक्तिमार्ग का मूल तो परमागम ही है। अतः उसका व्यवस्थित होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था; जिसे कुन्दकुन्द जैसे प्रखर आचार्य ही कर सकते थे।

११. समयसार प्रस्तावना

जिनागम में दो प्रकार के मूलनय बताये गये हैं - निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक। समयसार व नियमसार में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता से एवं प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की मुख्यता से कथन करके उन्होंने अध्यात्म और वस्तुस्वरूप - दोनों को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। उनके ये महान ग्रन्थ आगामी ग्रन्थकारों को आदर्श रहे हैं, मागदर्शक रहे हैं।

अष्टपाहुड़ में उनके प्रशासकरूप के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्घाटन किया, जिसके जाने बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे। इसमें उन्होंने श्वेताम्बर मत का जिस कठोरता से निराकरण किया है, उसे देखकर कभी-कभी ऐसा विकल्प आता है कि कहीं इसे पढ़कर हमारे श्वेताम्बरभाई उनके अध्यात्म से भी दूर न हो जायें। पर यह हमारा भ्रम ही है; क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को पढ़कर विगत दो हजार वर्ष में जितने श्वेताम्बर बन्धुओं ने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है, उतने किसी अन्य द्वारा नहीं। कविवर पण्डित बनारसीदास एवं आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसके जाने-माने उदाहरण हैं।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के द्वारा तो कुन्दकुन्द के शास्त्रों के माध्यम से लाखों श्वेताम्बर भाईयों को भी दिगम्बर धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाया गया है।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के शिरमौर हैं एवं उनके ग्रन्थ दिगम्बर साहित्य की अनुपम निधि हैं; तथापि वर्तमान दिगम्बर जैन समाज उनसे अपरिचित-सा ही था। दिगम्बर समाज की स्थिति का सही रूप जानने के लिए पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है-

“आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्रसभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दिगम्बर जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं।

हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ; अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे।

यदि श्री कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।^{१२}”

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के साथ-साथ इस युग में कुन्दकुन्द को जन-जन तक पहुँचानेवाले पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर तो अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर पैतालीस वर्ष तक अनवरतरूप से किये गये उनके प्रवचन टेपों एवं पुस्तकों के रूप में हमें आज भी उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने आचार्य कुन्दकुन्द रचित परमागमों पर मात्र सरल प्रवचन ही नहीं

१२. जैनसन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

किये, अपितु उक्त परमागमों के सस्ते सुलभ मनोज्ञ प्रकाशन भी कराये; तथा सोनगढ़ (जिला - भावनगर, गुजरात) में श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर का निर्माण कराके, उसमें संगमरमर के पाटियों पर समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार संस्कृत टीका सहित तथा अष्टपाहुड़ उत्कीर्ण कराकर उन्हें भौतिक दृष्टि से अमर कर दिया है। उक्त परमागम मन्दिर आज एक दर्शनीय तीर्थ बन गया है।

पवित्रता और पुण्य के अद्भुत संगम इस महापुरुष (कानजी स्वामी) के मात्र प्रवचन ही नहीं, अपितु व्यवस्थित जीवन भी अध्ययन की वस्तु है; उसका अध्ययन किया जाना स्वतंत्ररूप से अपेक्षित है, तत्संबंधी विस्तान न तो यहाँ संभव ही है और न उचित ही।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इसप्रकार है -

- | | |
|----------------------------|--|
| १. समयसार (समयपाहुड़) | २. प्रवचनसार (पवयणसार) |
| ३. नियमसार (णियमसार) | ४. पंचास्तिकायसंग्रह (पंचत्थिकायसंग्रहो) |
| ५. अष्टपाहुड़ (अट्टपाहुड़) | |

इनके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) एवं दशभक्ति भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। इसीप्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरल काव्य को भी आपकी कृति मानते हैं।^{१३} उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं।

अष्टपाहुड़ में निम्नलिखित आठ पाहुड़ संगृहीत हैं -

- | | | | |
|---------------|----------------|------------------|--------------|
| १. दंसणपाहुड़ | २. सुत्तपाहुड़ | ३. चारित्तपाहुड़ | ४. बोधपाहुड़ |
| ५. भावपाहुड़ | ६. मोक्खपाहुड़ | ७. लिंगपाहुड़ | ८. सीलपाहुड़ |

समयसार जिन-अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था के विशद् विवेचन करनेवाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं।

ये तीनों ग्रन्थराज परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं। उक्त तीनों को नाटकत्रयी, प्राभृतत्रयी और कुन्दकुन्दत्रयी भी कहा जाता है।

उक्त तीनों ग्रन्थराजों पर आचार्य कुन्दकुन्द के लगभग एक हजार वर्ष बाद एवं आज से एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संस्कृत भाषा में गम्भीर टीकायें लिखी हैं। समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई टीकाओं के सार्थक नाम क्रमशः 'आत्मख्याति', 'तत्त्वप्रदीपिका' एवं 'समयव्याख्या' हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग तीन सौ वर्ष बाद हुए आचार्य जयसेन द्वारा इन तीनों ग्रन्थों पर लिखी गई 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सरल-सुबोध संस्कृत टीकायें भी उपलब्ध हैं।

नियमसार पर परमवैरागी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विक्रम की बारहवीं सदी में संस्कृत भाषा

में 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो वैराग्यभाव एवं शान्तरस से सराबोर है, भिन्न प्रकार की अद्भुत टीका है।

अष्टपाहुड के आरंभिक छह पाहुडों पर विक्रम की सोलहवीं सदी में लिखी गई भट्टारक श्रुतसागर सूरी की संस्कृत टीका प्राप्त होती है, जो षट्पाहुड नाम से प्रकाशित हुई। षट्पाहुड कोई स्वतंत्र कृति नहीं है, अपितु अष्टपाहुड के आरंभिक छह पाहुड ही षट्पाहुड नाम से जाने जाते हैं।

यहाँ इन सब पर विस्तृत चर्चा करना न तो संभव है और न आवश्यक ही। यहाँ तो अब प्रस्तुत कृति अष्टपाहुड के प्रतिपाद्य पर दृष्टिपात करना प्रसंग प्राप्त है।

अष्टपाहुड

पाँच सौ तीन गाथाओं में निबद्ध एवं आठ पाहुडों में विभक्त यह अष्टपाहुड ग्रंथ मूलसंघ के पट्टाचार्य कठोर प्रशासक आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी अमर कृति है, जो दो हजार वर्षों से लगातार शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आवाज उठाती चली आ रही है और इसकी उपयोगिता पंचम काल के अन्त तक बनी रहेगी; क्योंकि यह अवसर्पिणी काल है, इसमें शिथिलाचार तो उत्तरोत्तर बढ़ना ही है। अतः इसकी उपयोगिता भी निरन्तर बढ़ती ही जानी है।

आज समृद्धि और सुविधाओं के मोह से आच्छन्न शिथिलाचारी श्रावकों एवं समन्वय के नाम पर सब जगह झुकनेवाले नेताओं द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए साधुवर्ग में व्याप्त अपरिमित शिथिलाचार को भरपूर संरक्षण दिया जा रहा है, पाल-पोष कर पुष्ट किया जा रहा है; अतः आज के संदर्भ में इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

इतिहास साक्षी है कि दिगम्बर जैन समाज में वृद्धिगत शिथिलाचार के विरुद्ध जब-जब भी आवाज बुलन्द हुई है, तब-तब आचार्य कुन्दकुन्द की इस अमर कृति को याद किया जाता रहा है, इसके उद्धरण देकर शिथिलाचार के विरुद्ध समाज को सावधान किया जाता रहा है। इस ग्रंथ के उद्धरणों का समाज पर अपेक्षित प्रभाव भी पड़ता है, परिणामस्वरूप समाज में शिथिलाचार के विरुद्ध एक वातावरण बनता है। यद्यपि विगत दो हजार वर्षों में उत्तरोत्तर सीमातीत शिथिलाचार बढ़ा है; तथापि आज जो कुछ भी मर्यादा दिखाई देती है, उसमें अष्टपाहुड का सर्वाधिक योगदान है।

अष्टपाहुड एक ऐसा अंकुश है, जो शिथिलाचार के मदोन्मत्त गजराज को बहुत कुछ काबू में रखता है, सर्वविनाश नहीं करने देता। यदि अष्टपाहुड नहीं होता तो आज हम कहाँ पहुँच गये होते - इसकी कल्पना करना भी कष्टकर प्रतीत होता है।

अतः यह कहने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करना चाहिए कि अष्टपाहुड की उपयोगिता निरन्तर रही है और पंचम काल के अन्त तक बनी रहेगी।

वीतरागी जिनधर्म की निर्मल धारा के अविरल प्रवाह के अभिलाषी आत्मार्थी जनों को स्वयं तो

इस कृति का गहराई से अध्ययन करना ही चाहिए, इसका समुचित प्रचार-प्रसार भी करना चाहिए, जिससे सामान्यजन भी शिथिलाचार के विरुद्ध सावधान हो सकें। इसमें प्रतिपादित विषय-वस्तु संक्षेप में इसप्रकार है -

(१) दर्शनपाहुड

छत्तीस गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में मंगलाचरणोपरान्त आरम्भ से ही सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए आचार्यदेव लिखते हैं कि जिनवरदेव ने कहा है कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है; अतः जो जीव सम्यग्दर्शन से रहित हैं, वे वंदनीय नहीं हैं। भले ही वे अनेक शास्त्रों के पाठी हों, उग्रतप करते हों, करोड़ों वर्ष तक तप करते रहें; तथापि जो सम्यग्दर्शन से रहित हैं, उन्हें आत्मोपलब्धि नहीं होती, निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती, आराधना से रहित होने के कारण वे संसार में ही भटकते रहते हैं; किन्तु जिनके हृदय में सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, उन्हें कर्मरूपी रज का आवरण नहीं लगता, उनके पूर्वबद्ध कर्मों का भी नाश हो जाता है।

जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों से ही भ्रष्ट हैं, वे तो भ्रष्टों में भी भ्रष्ट हैं; वे स्वयं तो नाश को प्राप्त होते ही हैं, अपने अनुयायियों को भी नष्ट करते हैं। ऐसे लोग अपने दोषों को छुपाने के लिए धर्मात्माओं को दोषी बताते रहते हैं।

जिसप्रकार मूल के नष्ट हो जाने पर उसके परिवार - स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल की वृद्धि नहीं होती; उसीप्रकार सम्यग्दर्शनरूपी मूल के नष्ट होने पर संयमादि की वृद्धि नहीं होती। यही कारण है कि जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा है।

जो जीव स्वयं तो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, पर अपने को संयमी मानकर सम्यग्दृष्टि से अपने पैर पुजवाना चाहते हैं; वे लूले और गूंगे होंगे अर्थात् वे निगोद में जावेंगे, जहाँ न तो चल-फिर ही सकेंगे और न बोल सकेंगे; उन्हें बोधिलाभ अत्यन्त दुर्लभ है। इसीप्रकार जो जीव लज्जा, गारव और भय से सम्यग्दर्शन रहित लोगों के पैर पूजते हैं, वे भी उनके अनुमोदक होने से बोधि को प्राप्त नहीं होंगे।

जिसप्रकार सम्यग्दर्शन रहित व्यक्ति वंदनीय नहीं है, उसीप्रकार असंयमी भी वंदनीय नहीं है। भले ही बाह्य में वस्त्रादि का त्याग कर दिया हो, तथापि यदि सम्यग्दर्शन और अंतरंग संयम नहीं है तो वह वंदनीय नहीं है; क्योंकि न देह वंदनीय है, न कुल वंदनीय है, न जाति वंदनीय है; वंदनीय तो एक मात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप गुण ही है; अतः रत्नत्रय-विहीन की वंदना जिनमार्ग में उचित नहीं है।

जिसप्रकार गुणहीनों की वंदना उचित नहीं है, उसीप्रकार गुणवानों की उपेक्षा भी अनुचित है। अतः जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवन्त मुनिराजों की भी मत्सरभाव से वंदना नहीं करते हैं, वे भी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा नहीं हैं।

अरे भाई! जो शक्य हो करो, जो शक्य न हो, न करो, पर श्रद्धान तो करना ही चाहिए; क्योंकि केवली

भगवान ने श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा है। यह सम्यग्दर्शन रत्नत्रय में सार है, मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है। इस सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं।

इसप्रकार सम्पूर्ण दर्शनपाहुड सम्यक्त्व की महिमा से ही भरपूर है। इस पाहुड में समागत निम्नांकित सूक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं -

१. दंसणमूलो धम्मो - धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।
२. दंसणहीणो ण वंदिव्वो - सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति वंदनीय नहीं है।
३. दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं - जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, उनको मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।
४. सोवाणं पढमं मोक्खस्स - सम्यग्दर्शन मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है।
५. जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइं तं च सदहणं - जो शक्य हो, करो; जो शक्य न हो, न करो; पर श्रद्धान तो करो ही।

(२) सूत्रपाहुड

सत्ताईस गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में अरहंतों द्वारा कथित, गणधर देवों द्वारा निबद्ध, वीतरागी नग्न दिगम्बर सन्तों की परम्परा से समागत सुव्यवस्थित जिनागम को सूत्र कहकर श्रमणों को उसमें बताये मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि जिसप्रकार सूत्र (डोरा) सहित सुई खोती नहीं है, उसीप्रकार सूत्रों (आगम) के आधार पर चलनेवाले श्रमण भ्रमित नहीं होते, भटकते नहीं हैं।

सूत्र में कथित जीवादि तत्त्वार्थों एवं तत्संबंधी हेयोपादेय संबंधी ज्ञान और श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। यही कारण है कि सूत्रानुसार चलनेवाले श्रमण कर्मों का नाश करते हैं। सूत्रानुशासन से भ्रष्ट साधु संघपति हो, सिंहवृत्ति हो, हरिहर-तुल्य ही क्यों न हो; सिद्धि को प्राप्त नहीं करता, संसार में ही भटकता है। अतः श्रमणों को सूत्रानुसार ही प्रवर्तन करना चाहिए।

जिनसूत्रों में तीन लिंग (भेष) बताये गये हैं; उनमें सर्वश्रेष्ठ नग्न दिगम्बर साधुओं का है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का है और तीसरा आर्यिकाओं का है। इनके अतिरिक्त कोई भेष नहीं है, जो धर्म की दृष्टि से पूज्य हो।

साधु के लिंग (भेष) को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं -

“जह जायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु।

जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिगोदम् ॥१८॥

जैसा बालक जन्मता है, साधु का रूप वैसा ही नग्न होता है। उसके तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं होता। यदि कोई साधु थोड़ा-बहुत भी परिग्रह ग्रहण करता है तो वह निश्चित रूप से निगोद जाता है।”

वस्त्र धारण किए हुए तो तीर्थकरों को भी मोक्ष नहीं होता है तो फिर अन्य की तो बात ही क्या करें? एक मात्र नग्नता ही मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है। स्त्रियों के नग्नता संभव नहीं है, अतः उन्हें मुक्ति भी संभव नहीं है। उनकी योनि, स्तन, नाभि और काँखों में सूक्ष्म त्रसजीवों की उत्पत्ति निरन्तर होती रहती है। मासिक

धर्म की आशंका से वे निरन्तर त्रस्त रहती हैं तथा स्वभाव से ही शिथिल भाववाली होती हैं, अतः उनके उत्कृष्ट साधुता संभव नहीं है, तथापि वे पापयुक्त नहीं हैं, क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन, ज्ञान और एकदेश चारित्र हो सकता है।

इसप्रकार सम्पूर्ण सूत्रपाहुड में सूत्रों में प्रतिपादित सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी गई है।

(३) चारित्रपाहुड

पैंतालीस गाथाओं में निबद्ध इस चारित्रपाहुड में सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र के भेद से चारित्र के भेद किये गये हैं और कहा गया है कि जिनोपदिष्ट ज्ञान-दर्शन शुद्ध सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और शुद्ध आचरणरूप चारित्र संयमाचरण है।

शंकादि आठ दोषों से रहित, निःशंकादि आठ गुणों (अंगों) से सहित, तत्त्वार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानकर श्रद्धान और आचरण करना ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र है।

संयमाचरण चारित्र सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार का होता है। ग्यारह प्रतिमाओं में विभक्त श्रावक के संयम को सागार संयमाचरण चारित्र कहते हैं। पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति आदि जो उत्कृष्ट संयम निर्ग्रन्थ मुनिराजों के होता है, वह अनगार संयमाचरण चारित्र है।

जो व्यक्ति सम्यक्त्वाचरण चारित्र को धारण किये बिना संयमाचरण चारित्र को धारण करते हैं, उन्हें मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती; सम्यक्त्वाचरण सहित संयमाचरण को धारण करनेवाले को ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

उक्त सम्यक्त्वाचरण चारित्र निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः यहाँ प्रकारान्तर से यही कहा गया है कि बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के मात्र बाह्य क्रियाकाण्डरूप चारित्र धारण कर लेने से कुछ भी होनेवाला नहीं है।

इसप्रकार इस अधिकार में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित निर्मल चारित्र धारण करने की प्रेरणा दी गई है।

(४) बोधपाहुड

बासठ गाथाओं में निबद्ध और आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा आदि ग्यारह स्थानों में विभक्त इस पाहुड में ग्यारह स्थानों के माध्यम से एक प्रकार से दिगम्बर धर्म और निर्ग्रन्थ साधु का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है। उक्त ग्यारह स्थानों को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक समझाया गया है। इन सबके व्यवहारिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि निश्चय से निर्दोष निर्ग्रन्थ साधु ही आयतन हैं, चैत्यगृह हैं, जिनप्रतिमा हैं, दर्शन हैं, जिनबिंब हैं, जिनमुद्रा हैं, ज्ञान हैं, देव हैं, तीर्थ हैं, अरहंत हैं और प्रव्रज्या हैं।

(५) भावपाहुड

भावशुद्धि पर विशेष बल देनेवाले एक सौ पैंसठ गाथाओं के विस्तार में फैले इस भावपाहुड का सार

‘आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार’ नामक ग्रन्थ में सुव्यवस्थित रूप से दिया गया है, जिसका संक्षिप्त रूप इसप्रकार है -

बाह्य परिग्रह का त्याग भावों की शुद्धि के लिए ही किया जाता है, परन्तु रागादि अंतरंग परिग्रह के त्याग बिना बाह्य त्याग निष्फल ही है; क्योंकि अंतरंग भावशुद्धि बिना करोड़ों वर्ष तक भी बाह्य तप करें, तब भी सिद्धि नहीं होती। अतः मुक्तिमार्ग के पथिकों को सर्वप्रथम भाव को ही पहिचानना चाहिए।

हे आत्मन् ! तूने भावरहित निर्ग्रन्थ रूप तो अनेक बार ग्रहण किये हैं, पर भावलिंग बिना-शुद्धात्मतत्त्व की भावना बिना चतुर्गति में भ्रमण करते हुए अनन्त दुःख उठाये हैं। नरकगति में सर्दी, गर्मी, आवासादि के; तिर्यचगति में खनन, ज्वलन, वेदना व्युच्छेदन, निरोधन आदि के; मनुष्यगति में आगन्तुक, मानसिक, शारीरिक आदि एवं देवगति में वियोग, हीन भावना आदि के दुःख भोगे हैं।

अधिक क्या कहें, आत्मभावना के बिना तू माँ के गर्भ में महा अपवित्र स्थान में सिकुड़ के रहा। आजतक तूने इतनी माताओं का दूध पिया है कि यदि उसे इकट्ठा किया जावे तो सागर भर जावे। तेरे जन्म-मरण से दुःखी माताओं के अश्रुजल से भी सागर भर जावे। इसीप्रकार तूने इस अनंत संसार में इतने जन्म लिये हैं कि उनके केश, नख, नाल और अस्थियों को इकट्ठा करें तो सुमेरु पर्वत से भी बड़ा ढेर हो जावे।

हे आत्मन् ! तूने आत्मभाव रहित होकर तीन लोक में जल, थल, अग्नि, पवन, गिरि, नदी, वृक्ष, वन आदि स्थलों पर सर्वत्र सर्व दुःख सहित निवास किया; सर्व पुद्गलों का बार-बार भक्षण किया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई। इसीप्रकार तृषा से पीड़ित होकर तीन लोक का समस्त जल पिया, तथापि तृषा शान्त न हुई। अतः अब समस्त बातों का विचार कर, भव को समाप्त करनेवाले रत्नत्रय का चिन्तन कर।

हे धीर ! तुमने अनन्त भवसागर में अनेकबार उत्पन्न होकर अपरिमित शरीर धारण किये व छोड़े हैं, जिनमें से मनुष्यगति में विषभक्षणादि व तिर्यचगति में हिमपातादि द्वारा कुमरण को प्राप्त होकर महादुःख भोगे हैं। निगोद में तो एक अन्तर्मुहूर्त में छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण किया है।

हे जीव ! तूने रत्नत्रय के अभाव में दुःखमय संसार में अनादिकाल से भ्रमण किया है, अतः अब तुम आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप रत्नत्रय की प्राप्ति करो, ताकि तुम्हारा मरण कुमरण न बनकर सुमरण बन जाए और शीघ्र ही शाश्वत सुख को प्राप्त करो।

अब आचार्य भावरहित मात्र द्रव्यलिंग धारण करने के पश्चात हुए दुःखों का वर्णन करते हैं।

हे मुनिवर ! तीन लोक में कोई ऐसा स्थल शेष नहीं है, जहाँ तूने द्रव्यलिंग धारण कर जन्म-मरण धारण न किया हो। न ही कोई पुद्गल ऐसा बचा है, जिसे तूने ग्रहण कर छोड़ा न हो; फिर भी तेरी मुक्ति नहीं हुई, अपितु भावलिंग न होने से अनंतकाल तक जन्म-जरा आदि से पीड़ित होते हुए दुःखों को ही भोगा है।

अधिक क्या कहें, इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में ९६-९६ रोग होते हैं, फिर सम्पूर्ण शरीर के रोगों का तो कहना ही क्या है ? पूर्वभवों में उन समस्त रोगों को तूने सहा है एवं आगे भी सहेगा ।

हे मुनि ! तू माता के अपवित्र गर्भ में रहा । वहाँ माता के उच्छिष्ट भोजन से बना हुआ रस रूपी आहार ग्रहण किया । फिर बाल अवस्था में अज्ञानवश अपवित्र स्थान में, अपवित्र वस्तु में लेटा रहा व अपवित्र वस्तु ही खाई ।

हे मुनि ! यह देहरूपी घर मांस, हाड़, शुक्र, रुधिर, पित्त, अंतड़ियों, खसिर (रुधिर के बिना अपरिपक्व मल) वसा और पूय (खराब खून) - इन सब मलिन वस्तुओं से भरा है, जिसमें तू आसक्त होकर अनन्तकाल से दुःख भोग रहा है ।

समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे धीर ! जो सिर्फ कुटुम्बादि से मुक्त हुआ, वह मुक्त नहीं है; अपितु जो आभ्यन्तर की वासना छोड़कर भावों से मुक्त होता है, उसी को मुक्त कहते हैं - ऐसा जानकर आभ्यन्तर की वासना छोड़ । भूतकाल में अनेक ऐसे मुनि हुए हैं, जिन्होंने देहादि परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ रूप धारण किया, किन्तु मानादिक नहीं छोड़े; अतः सिद्धि नहीं हुई । जब निर्मान हुए, तभी मुक्ति हुई । द्रव्यलिंगी उग्रतप करते हुए अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कर लेता है, किन्तु क्रोधादि के उत्पन्न होने के कारण उसकी वे ऋद्धियाँ स्व-पर के विनाश का ही कारण होती हैं, जैसे बाहु और द्वीपायन मुनि ।

भावशुद्धि बिना एकादश अंग का ज्ञान भी व्यर्थ है; किन्तु यदि शास्त्रों का ज्ञान न हो और भावों की विशुद्धता हो तो आत्मानुभव के होने से मुक्ति प्राप्त हुई है । जैसे - शिवभूति मुनि ।

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाव रहित नग्नत्व अकार्यकारी है । भाव सहित द्रव्यलिंग में ही कर्मप्रकृति के समूह का नाश होता है । हे धीरमुनि ! इसप्रकार जानकर तुझे आत्मा की ही भावना करना चाहिए ।

जो मुनि देहादिक परिग्रह व मानकषाय से रहित होता हुआ आत्मा में लीन होता है, वह भावलिंगी है । भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मैं परद्रव्य व परभावों से ममत्व को छोड़ता हूँ । मेरा स्वभाव ममत्व रहित है, अतः मैं अन्य सभी आलम्बनों को छोड़कर आत्मा का आलम्बन लेता हूँ । ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर, योग - ये सभी भाव अनेक होने पर भी एक आत्मा में ही हैं । संज्ञा, संख्यादि के भेद से भी उन्हें भिन्न-भिन्न कहा जाता है । मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वरूप शाश्वत आत्मा ही हूँ; शेष सब संयोगी पदार्थ परद्रव्य हैं, मुझसे भिन्न हैं । अतः हे आत्मन् ! तुम यदि चार गति से छूटकर शाश्वत सुख को पाना चाहते हो तो भावों से शुद्ध होकर अतिनिर्मल आत्मा का चिन्तन करो । जो जीव ऐसा करता है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है ।

जीव अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण, अनिर्दिष्ट-संस्थान व चेतना गुणवाला है । चैतन्यमयी ज्ञानस्वभावी जीव की भावना कर्मक्षय का कारण होती है ।

भाव की महिमा बताते हुए आचार्य कहते हैं कि श्रावकत्व व मुनित्व के कारणभूत भाव ही हैं। भावसहित द्रव्यलिंग से ही कर्मों का नाश होता है। यदि नग्नत्व से ही कार्यसिद्धि हो तो नारकी, पशु आदि सभी जीवसमूह को नग्नत्व के कारण मुक्ति प्राप्त होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, अपितु वे महादुःखी ही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भावरहित नग्नत्व से दुःखों की ही प्राप्ति होती है, संसार में ही भ्रमण होता है।

बाह्य में नग्न मुनि पैशून्य, हास्य, भाषा आदि कार्यों से मलिन होता हुआ स्वयं अपयश को प्राप्त करता है एवं व्यवहार धर्म की भी हंसी कराता है; इसलिए आभ्यन्तर भावदोषों से अत्यन्त शुद्ध होकर ही निर्ग्रन्थ बाह्यलिंग धारण करना चाहिए।

भावरहित द्रव्यलिंग की निरर्थकता बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस मुनि में धर्म का वास नहीं है, अपितु दोषों का आवास है, वह तो इक्षुफल के समान है, जिसमें न तो मुक्तिरूपी फल लगते हैं और न रत्नत्रयरूप गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं। अधिक क्या कहें, वे तो नग्न होकर भी नाचनेवाले भांड के समान ही हैं।^{१४}

अतः हे आत्मन् ! पहले मिथ्यात्वादि आभ्यन्तर दोषों को छोड़कर, भावदोषों से अत्यन्त शुद्ध होकर, बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग धारण करना चाहिए।

शुद्धात्मा की भावना से रहित मुनियों द्वारा किया गया बाह्य परिग्रह का त्याग, गिरिकन्दरादि का आवास, ज्ञान, अध्ययन आदि सभी क्रियाएँ निरर्थक हैं। इसलिए हे मुनि ! लोक का मनोरंजन करनेवाला मात्र बाह्यवेष ही धारण न कर, इन्द्रियों की सेना का भंजन कर, विषयों में मत रम, मनरूपी बन्दर को वश में कर, मिथ्यात्व, कषाय व नव नोकषायों को भावशुद्धिपूर्वक छोड़, देव-शास्त्र-गुरु की विनय कर, जिनशास्त्रों को अच्छी तरह समझकर शुद्धभावों की भावना कर; जिससे तुझे क्षुधा-तृषादि वेदना से रहित त्रिभुवन चूड़ामणी सिद्धत्व की प्राप्ति होगी।

हे मुनि ! तू बाईस परीषहों को सह; बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना कर; भावशुद्धि के लिए नवपदार्थ, सप्ततत्त्व, चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान आदि की नाम-लक्षणादिकपूर्वक भावना कर; दशप्रकार के अब्रह्मचर्य को छोड़कर नवप्रकार के ब्रह्मचर्य को प्रगट कर। इसप्रकार भावपूर्वक द्रव्यलिंगी मुनि ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप को प्राप्त करता है, भावरहित द्रव्यलिंगी तो चारों गतियों में अनन्त दुःखों को भोगता है।

हे मुनि ! तू संसार को असार जानकर केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए निर्मल सम्यग्दर्शन सहित दीक्षा लेने की भावना कर, भावों से शुद्ध होकर बाह्यलिंग धारण कर, उत्तम गुणों का पालन कर। जीव, अजीव, आस्रव, बंध और संवरतत्त्व का चिन्तन कर, मन-वचन-काय से शुद्ध होकर आत्मा का चिन्तन कर; क्योंकि जबतक विचारणीय जीवादि तत्त्वों का विचार नहीं करेगा, तबतक अविनाशी पद की प्राप्ति नहीं होगी।

१४. अष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा ७१

हे मुनिवर ! पाप-पुण्य बंधादि का कारण परिणाम ही है। मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योगरूप भावों से पाप का बंध होता है। मिथ्यात्व रहित सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य को बाँधता हैं। अतः तुम ऐसी भावना करो कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से आच्छादित हूँ, मैं इन्हें समाप्त कर निज स्वरूप को प्रकट करूँ। अधिक कहने से क्या ? तू तो प्रतिदिन शील व उत्तरगुणों का भेद-प्रभेदों सहित चिन्तन कर।

हे मुनि ! ध्यान से मोक्ष होता है। अतः तुम आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म व शुक्ल ध्यान को धारण करो। द्रव्यलिंगी के धर्म व शुक्ल ध्यान नहीं होता, अतः वह संसाररूप वृक्ष को काटने में समर्थ नहीं है। जिस मुनि के मन में रागरूप पवन से रहित धर्मरूपी दीपक जलता है, वही आत्मा को प्रकाशित करता है, वही संसाररूपी वृक्ष को ध्यानरूपी कुल्हाड़ी से काटता है।

ज्ञान का एकाग्र होना ही ध्यान है। ध्यान द्वारा कर्मरूपी वृक्ष दग्ध हो जाता है, जिससे संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, अतः भावश्रमण तो सुखों को प्राप्त कर तीर्थकर व गणधर आदि पदों को प्राप्त करते हैं; पर द्रव्यश्रमण दुःखों को ही भोगता है। अतः गुण-दोषों को जानकर तुम भाव सहित संयमी बनो।

भावश्रमण विद्याधरादि की ऋद्धियों को नहीं चाहता, न ही वह मनुष्य-देवादि के सुखों की वांछा करता है। वह चाहता है कि मैं शीघ्रातिशीघ्र आत्महित कर लूँ।

हे धीर ! जिसप्रकार गुड़मिश्रित दूध के पीने पर भी सर्प विषरहित नहीं होता, उसीप्रकार अभव्य जीव जिनधर्म के सुनने पर भी अपनी दुर्मत से आच्छादित बुद्धि को नहीं छोड़ता। वह मिथ्या धर्म से युक्त रहता हुआ मिथ्या धर्म का पालन करता है, अज्ञान तप करता है, जिससे दुर्गति को प्राप्त होता हुआ संसार में भ्रमण करता है; अतः तुझे ३६३ पाखण्डियों के मार्ग को छोड़कर जिनधर्म में मन लगाना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार लोक में जीव रहित शरीर को 'शव' कहते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन रहित पुरुष चल शव है। शव लोक में अपूज्य होता है और सम्यग्दर्शन रहित पुरुष लोकोत्तर मार्ग में अपूज्य होता है। मुनि व श्रावक धर्मों में सम्यक्त्व की ही विशेषता है। जिसप्रकार ताराओं के समूह में चन्द्रमा सुशोभित होता है, पशुओं में मृगराज सुशोभित होता है; उसीप्रकार जिनमार्ग में जिनभक्ति सहित निर्मल सम्यग्दर्शन से युक्त तप-व्रतादि से निर्मल जिनलिंग सुशोभित होता है।

इसप्रकार सम्यक्त्व के गुण व मिथ्यात्व के दोषों को जानकर गुणरूपी रत्नों के सार मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन को भावपूर्वक धारण करना चाहिए।

जिसप्रकार कमलिनी स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होती, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी स्वभाव से ही विषय-कषायों में लिप्त नहीं होता। आचार्यदेव कहते हैं कि जो भावसहित सम्पूर्ण शील-संयमादि गुणों से युक्त हैं, उन्हें ही हम मुनि कहते हैं। मिथ्यात्व से मलिन चित्तवाले बहुत दोषों के आवास मुनिवेष धारी जीव तो श्रावक के समान भी नहीं हैं।

जो इन्द्रियों के दमन व क्षमारूपी तलवार से कषायरूपी प्रबल शत्रु को जीतते हैं, चारित्ररूपी खड्ग से पापरूपी स्तंभ को काटते हैं, विषयरूपी विष के फलों से युक्त मोहरूपी वृक्ष पर चढ़ी मायारूपी बेल को ज्ञानरूपी शस्त्र से पूर्णरूपेण काटते हैं; मोह, मद, गौरव से रहित और करुणाभाव से सहित हैं; वे मुनि ही वास्तविक धीर-वीर हैं। वे मुनि ही चक्रवर्ती, नारायण, अर्धचक्री, देव, गणधर आदि के सुखों को और चारण ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं तथा सम्पूर्ण शुद्धता होने पर अजर, अमर, अनुपम, उत्तम, अतुल, सिद्ध सुख को भी प्राप्त करते हैं।

भावपाहुड का उपसंहार करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञदेव कथित इस भावपाहुड को जो भव्य जीव भलीभांति पढ़ते हैं, सुनते हैं, चिन्तन करते हैं, वे अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भावपाहुड में भावलिंग सहित द्रव्यलिंग धारण करने की प्रेरणा दी गई है। प्रकारान्तर से सम्यग्दर्शन सहित ब्रत धारण करने का उपदेश दिया गया है।

(६) मोक्षपाहुड

एक सौ छह गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में आत्मा की अनन्तसुखस्वरूप दशा मोक्ष एवं उसकी प्राप्ति के उपायों का निरूपण है। इसके आरंभ में ही आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा – इन तीन भेदों का निरूपण करते हुए बताया गया है कि बहिरात्मपना हेय है, अन्तरात्मपना उपादेय है और परमात्मपना परम उपादेय है।

आगे बंध और मोक्ष के कारणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि परपदार्थों में रत आत्मा बंधन को प्राप्त होता है और परपदार्थों से विरत आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है। इसप्रकार स्वद्रव्य से सुगति और परद्रव्य से दुर्गति होती है – ऐसा जानकर हे आत्मन्! स्वद्रव्य में रति और परद्रव्य में विरति करो।

आत्मस्वभाव से भिन्न स्त्री-पुत्रादिक, धन-धान्यादिक सभी चेतन-अचेतन पदार्थ 'परद्रव्य' हैं और इनसे भिन्न ज्ञानशरीरी, अविनाशी निज भगवान आत्मा 'स्वद्रव्य' है। जो मुनि परद्रव्यों से परान्मुख होकर स्वद्रव्य का ध्यान करते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं। अतः जो व्यक्ति संसाररूपी महार्णव से पार होना चाहते हैं, उन्हें अपने शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए।

आत्मार्थी मुनिराज सोचते हैं कि मैं किस से क्या बात करूँ; क्योंकि जो भी इन आँखों से दिखाई देता है, वे सब शरीरादि तो जड़ हैं, मूर्तिक हैं, अचेतन हैं, कुछ समझते नहीं हैं और चेतन तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है।

जो योगी व्यवहार में सोता है, वह अपने आत्मा के हित के कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में सोता है। इसप्रकार जानकर योगीजन समस्त व्यवहार को त्यागकर आत्मा का ध्यान करते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषा बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो जाने, सो ज्ञान; जो देखे, सो दर्शन और पुण्य और पाप का परिहार ही चारित्र है अथवा तत्त्वरुचि सम्यग्दर्शन, तत्त्व का ग्रहण सम्यग्ज्ञान एवं पुण्य-पाप का परिहार सम्यक्चारित्र है।

तपरहित ज्ञान और ज्ञानरहित तप - दोनों ही अकार्य हैं, किसी काम के नहीं हैं, क्योंकि मुक्ति तो ज्ञानपूर्वक तप से होती है। ध्यान ही सर्वोत्कृष्ट तप है, पर ज्ञान-ध्यान से भ्रष्ट कुछ साधुजन कहते हैं कि इस काल में ध्यान नहीं होता, पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि आज भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के धनी साधुजन आत्मा का ध्यान कर लौकान्तिक देवपने को प्राप्त होते हैं और वहाँ से चयकर आगामी भव में निर्वाण की प्राप्ति करते हैं। पर जिनकी बुद्धि पापकर्म से मोहित है, वे जिनेन्द्रदेव तीर्थकर का लिंग (वेष) धारण करके भी पाप करते हैं; वे पापी मोक्षमार्ग से च्युत ही हैं।

निश्चयतप का अभिप्राय यह है कि जो योगी अपने आत्मा में अच्छी तरह लीन हो जाता है, वह निर्मलचारित्र योगी अवश्य निर्वाण की प्राप्ति करता है।

इसप्रकार मुनिधर्म का विस्तृत वर्णन कर श्रावकधर्म की चर्चा करते हुए सबसे पहले निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने की प्रेरणा देते हैं। कहते हैं कि अधिक कहने से क्या लाभ है? मात्र इतना जान लो कि आज तक भूतकाल में जितने सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में भी जितने सिद्ध होंगे, वह सर्व सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है।

आगे कहते हैं कि जिन्होंने सर्वसिद्धि करनेवाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है, वे ही धन्य हैं, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं और वे ही पंडित हैं।

अन्त में मोक्षपाहुड का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि सबसे उत्तम पदार्थ निज शुद्धात्मा ही है, जो इसी देह में रह रहा है। अरहंतादि पंचपरमेष्ठी भी निजात्मा में ही रत हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी इसी आत्मा की अवस्थाएँ हैं; अतः मुझे तो एक आत्मा का ही शरण है।

इसप्रकार इस अधिकार में मोक्ष और मोक्षमार्ग की चर्चा करते हुए स्वद्रव्य में रति करने का उपदेश दिया गया है तथा तत्त्वरुचि को सम्यग्दर्शन, तत्त्वग्रहण को सम्यग्ज्ञान एवं पुण्य-पाप के परिहार को सम्यक्चारित्र कहा गया है। अन्त में एकमात्र निज भगवान आत्मा की ही शरण में जाने की पावन प्रेरणा दी गई है।

इस अधिकार में समागत कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ इसप्रकार हैं -

(१) आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिब्वाणं - आत्मस्वभाव में सुरत योगी निर्वाण का लाभ प्राप्त करता है।

(२) परदब्वादो दुग्गइ सद्दब्वादो हु सुग्गई होइ - परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति होती है।

(३) तम्हा आदा हु मे सरणं – इसलिए मुझे एक आत्मा की ही शरण है ।

(४) जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जमि ।

जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥

जो योगी व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप की साधना के काम में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने काम में सोता है ।

(५) किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।

सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥

अधिक कहने से क्या लाभ है इतना समझ लो कि आज तक जो जीव सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में होंगे, वह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है ।

(७) लिंगपाहुड

बाईस गाथाओं के इस लिंगपाहुड में जिनलिंग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए जिनलिंग धारण करनेवालों को अपने आचरण और भावों की संभाल के प्रति सतर्क किया गया है ।

आरंभ में ही आचार्य कहते हैं कि धर्मात्मा के लिंग (नग्न दिगम्बर साधु वेष) तो होता है, किन्तु लिंग धारण कर लेने मात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं हो जाती । इसलिए हे भव्यजीवों ! भावरूप धर्म को पहिचानो, अकेले लिंग (वेष) से कुछ होनेवाला नहीं है ।

आगे चलकर अनेक गाथाओं में बड़े ही कठोर शब्दों में कहा गया है कि पाप से मोहित है बुद्धि जिनकी, ऐसे कुछ लोग जिनलिंग को धारण करके उसकी हँसी कराते हैं । निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके भी जो साधु परिग्रह का संग्रह करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, उसका चिंतवन करते हैं; वे नग्न होकर भी सच्चे श्रमण नहीं हैं, अज्ञानी हैं, पशु हैं ।

इसीप्रकार नग्नवेष धारण करके भी जो भोजन में गृह्यता रखते हैं, आहार के निमित्त दौड़ते हैं, कलह करते हैं, ईर्ष्या करते हैं, मनमाना सोते हैं, दौड़ते हुए चलते हैं, उछलते हैं, इत्यादि असत्क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, वे मुनि तो है ही नहीं, मनुष्य भी नहीं हैं, पशु हैं ।

आगे चलकर फिर लिखते हैं कि जो मुनि दीक्षा रहित गृहस्थों में और दीक्षित शिष्यों में बहुत स्नेह रखते हैं, मुनियों के योग्य क्रिया और गुरुओं की विनय से रहित होते हैं, वे भी श्रमण नहीं, पशु हैं ।

जो साधु महिलाओं का विश्वास करके उनको विश्वास में लेकर उनमें प्रवर्तते हैं, उन्हें पढ़ाते हैं, प्रवृत्ति सिखाते हैं, ऐसे वेषधारी तो पार्श्वस्थ से भी निकृष्ट हैं, विनष्ट हैं; श्रमण नहीं हैं । इसप्रकार की प्रवृत्तियों में पड़े हुए वेषी मुनि बहुत विद्वान होने पर भी शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी सच्चे श्रमण नहीं हैं ।

अन्त में आचार्य कहते हैं कि इस लिंगपाहुड में व्यक्त भावों को जानकर जो मुनि दोषों से बचकर सच्चा लिंग धारण करते हैं, वे मुक्ति पाते हैं ।

(८) शीलपाहुड

शीलपाहुड की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए शीलपाहुड के अन्त में वचनिकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं -

“शील नाम स्वभाव का है आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञान-दर्शनमयी चेतनास्वरूप है, वह अनादि कर्म के संयोग से विभावरूप परिणमता है। इसके विशेष मिथ्यात्व-कषाय आदि अनेक हैं, इनको राग-द्वेष-मोह भी कहते हैं। इनके भेद संक्षेप से चौरासी लाख किए हैं, विस्तार से असंख्य अनन्त होते हैं, इनको कुशील कहते हैं। इनके अभावरूप संक्षेप से चौरासी लाख उत्तरगुण हैं, इन्हें शील कहते हैं। यह तो सामान्य परद्रव्य के संबंध की अपेक्षा शील-कुशील का अर्थ है और प्रसिद्ध व्यवहार की अपेक्षा स्त्री के संग की अपेक्षा कुशील के अठारह हजार भेद कहे हैं। इनके अभावरूप अठारह हजार शील के भेद हैं।”

वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही शील है, इनकी एकता ही मोक्षमार्ग है। अतः शील को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

“णाणं चरित्तहीणं लिंगगहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ गिरत्थयं सव्व ॥५॥
णाणं चरित्तसुद्धं लिंगगहणं च दंसणविसुद्धं ।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥६॥

चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है, सम्यग्दर्शन रहित लिंगग्रहण अर्थात् नग्न दिगम्बर दीक्षा लेना निरर्थक है और संयम बिना तप निरर्थक है। यदि कोई चारित्र सहित ज्ञान धारण करता है, सम्यग्दर्शन सहित लिंग ग्रहण करता है और संयम सहित तपश्चरण करता है तो अल्प का भी महाफल प्राप्त करता है।”

आगे आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान, चारित्र, तप का आचरण करनेवाले मुनिराज निश्चित रूप से निर्वाण की प्राप्ति करते हैं।

जीवदया, इन्द्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रम्हचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप - ये शील के ही परिवार हैं। विष के भक्षण से तो जीव एक बार ही मरण को प्राप्त होता है, किन्तु विषयरूप विष (कुशील) के सेवन से अनन्तबार जन्म-मरण धारण करने पड़ते हैं।

शील बिना अकेले जान लेने मात्र से यदि मोक्ष होता है तो दशपूर्वों का ज्ञान जिसको था, ऐसा रुद्र नरक क्यों गया ? अधिक क्या कहें, इतना समझ लेना कि ज्ञान सहित शील ही मुक्ति का कारण है। अन्त में आचार्यदेव कहते हैं -

“जिणवयणगहिदसारा विषयविरत्ता तवोधणा धीरा ।
सीलसलिलेण णहादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥३८॥

जिन्होंने जिनवचनों के सार को ग्रहण कर लिया है और जो विषयों से विरक्त हो गये हैं, जिनके तप ही

धन है और जो धीर हैं तथा जो शीलरूपी जल से स्नान करके शुद्ध हुए हैं, वे मुनिराज सिद्धालय के सुखों को प्राप्त करते हैं।”

इसप्रकार इस अधिकार में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित शील की महिमा बताई है, उसे ही मोक्ष का कारण बताया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण अष्टपाहुड श्रमणों में समागत या संभावित शिथिलाचार के विरुद्ध एक समर्थ आचार्य का सशक्त अध्यादेश है, जिसमें सम्यग्दर्शन पर तो सर्वाधिक बल दिया गया है, साथ में श्रमणों के संयमाचरण के निरतिचार पालन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, श्रमणों को पग-पग पर सतर्क किया गया है।

सम्यग्दर्शन रहित संयम धारण कर लेने पर संयमाचरण में शिथिलता अनिवार्य है। सम्यग्दर्शनरहित शिथिल श्रमण स्वयं को तो संसारसागर में डुबोते ही हैं, साथ ही अनुयायियों को भी ले डूबते हैं तथा निर्मल दिगम्बर जिनधर्म को भी कलंकित करते हैं, बदनाम करते हैं। इसप्रकार वे लोग आत्मद्रोही होने के साथ-साथ धर्मद्रोही भी हैं - इस बात का अहसास आचार्य कुन्दकुन्द को गहराई से था। यही कारण है कि उन्होंने इसप्रकार की प्रवृत्तियों का अष्टपाहुड में बड़ी कठोरता से निषेध किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के हम सभी अनुयायियों का यह पावन कर्तव्य है कि उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर हम स्वयं तो चलें ही, जगत को भी उनके द्वारा प्रतिपादित सन्मार्ग से परिचित करायें, चलने की पावन प्रेरणा दें - इसी मंगल कामना के साथ इस उपक्रम से विराम लेता हूँ।



प्रकाशकीय

प्रातःस्मरणीय आचार्यश्री कुन्दकुन्द रचित पंचपरमागमों में अष्टपाहुड ग्रंथ का प्रमुख स्थान है। यह ग्रंथ इसके पहले भी सहयोगी संस्थाओं के सहयोग से आठ बार प्रकाशित हो चुका है। अब हम यह नौवाँ संस्करण आपके कर-कमलों में देते हुए आनंद का अनुभव कर रहे हैं।

आठवें संस्करण में जिसतरह डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल की प्रस्तावना संलग्न थी, उसीतरह इस संस्करण में भी वह प्रस्तावना तो रहेगी ही, साथ ही अष्टपाहुड समग्र ग्रंथ का डॉ. भारिल्ल कृत हिन्दी पद्यानुवाद भी इस संस्करण में दिया है। पद्यानुवाद अत्यंत सरल, सहज एवं गद्यमय पद्य जैसा सुलभ है। इस पद्यानुवाद में आचार्य कुन्दकुन्द के मूल गाथाओं का सर्व रहस्य समझने में पाठकों को विशेष लाभ होगा। अलग रीति से मात्र पद्यानुवाद भी इसके पहले ही हम प्रकाशित कर चुके हैं।

इसके पहले के संस्करण हैंड कम्पोज द्वारा छप चुके हैं। इस समय संस्था ने कम्प्यूटर से कम्पोज कराया है, इसलिए अक्षर बड़े एवं स्पष्ट हुए हैं। स्वाध्याय करनेवाले सभी को यह संस्करण अच्छा भी लगेगा; ऐसा हमें विश्वास है।

अष्टपाहुड ग्रंथ का समग्र परिचय प्रस्तावना में विस्तार से आया है; अतः हम कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझते।

प्रस्तुत प्रकाशन को अल्प मूल्य में पहुँचाने का सर्वाधिक श्रेय शाह भगवानजी भाई कचराभाई ट्रस्ट, लन्दन को जाता है, जिन्होंने १५ हजार १४८ रुपये का आर्थिक सहयोग प्रदान किया है। उनके इस सहयोग के लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

कम्पोज करने का कष्टसाध्य कार्य हमारे जयपुर के श्री टोडरमल सिद्धान्त महाविद्यालय के विद्यार्थी श्री दिनेशजी जैन बड़ामलहरा ने अल्प कालावधि में सुन्दररूप से किया है। प्रूफ देखने का काम मेरे मित्र श्री सौभाग्यमली जैन जयपुर एवं सचिन शास्त्री गढ़ाकोटा ने किया है। दातारों की उदारता से ही इस ग्रंथ को अल्प मूल्य में देना शक्य हो पाया है। अतः उपर्युक्त सभी महानुभावों का हम आभार व्यक्त करते हुए धन्यवाद देते हैं।

प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिलजी बंसल का योगदान भी हमेशा जैसा रहा है, उनके बिना छपाई में सुन्दरता एवं आकर्षण रहना असंभव है। अतः उन्हें भी धन्यवाद।

बालचन्द पाटनी

मंत्री

सत्साहित्य प्रकाशक पाटनी ग्रंथमाला,
कोलकाता (पं. बंगाल)

ब्र. यशपाल जैन एम.ए.

प्रकाशन मंत्री,

पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट,
जयपुर

क्यों पढ़ें अष्टपाहुड़

जिसप्रकार मुमुक्षु जीव समयसार पढ़कर आत्मज्ञान की ओर सम्यक्त्व की ओर उन्मुख होते हैं, उसीप्रकार दर्शन/ज्ञान/चारित्र की सुरक्षा एवं निर्मलता किसप्रकार बढ़ाई जावे, यह ज्ञान अष्टपाहुड़ के स्वाध्याय से प्रगट होता है।

साधक जीव के जीवन में साधना के दौरान बहुत आरोह-अवरोह आते हैं, अनेक अवसरों पर अपने परिणामों की शुद्धता/अशुद्धता के निर्णय में वह स्वयं शंकित हो जाता है। अवसर पाते ही अपने शिथिलाचारों को अनेक तर्कों/कुतर्कों से यह जन/मानव/समाज पुष्ट करने लगता है। इस शिथिलाचार रूपी मदोन्मत्त गज की सीमा में रखने के लिए अष्टपाहुड़ एक अंकुश है।

आचार्य कुन्दकुन्द की अमरकृति अष्टपाहुड़ ही जन/जनतंत्र में व्याप्त शिथिलाचार की शुद्धि का अमोघ शस्त्र है।

कालक्रम के अनुसार इस अवसर्पिणी काल में धर्म की मर्यादा/प्रभाव निरंतर घटता जाता है एवं अधर्म/अनीति/शिथिलाचार बढ़ता जाता है। ऐसे समय में तो इसकी उपादेयता असंदिग्ध है।

अष्टपाहुड़ के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य दर्शनपाहुड़ में 'दंसणमूलोधम्मो - सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है' यह कहकर सम्यक्त्व की महिमा बताते हैं एवं 'दंसणहीणो ण वंदिब्बो - जो सम्यग्दर्शन से रहित है उनकी वंदना नहीं करना चाहिए, दंसणभट्टस्स णत्थि णिब्बाणं - जो सम्यग्दर्शन से रहित है उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती' यह कहकर सम्यग्दर्शन की मोक्षमार्ग में अनिवार्यता का कथन किया गया है।

इसीप्रकार चारित्रपाहुड़ और बोधपाहुड़ में चारित्र और ज्ञान के स्वरूप की विशद चर्चा की गई है। भावपाहुड़ में परिणामों की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है।

मोक्षपाहुड़/लिंगपाहुड़/शीलपाहुड़ में मोक्षमार्ग के यथार्थ स्वरूप यथाजातरूप का विशद निरूपण करते हुए व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध कड़े शब्दों में चेताया गया है।

इसप्रकार मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप जानकर उसके निर्दोष पालन की इच्छा रखनेवाले जीवों के लिए यह ग्रन्थ दीपक की भांति है; अतः प्रत्येक मुमुक्षु जीव को इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।



❁ नमः सिद्धेभ्यः ❁

- : स्वामि कुन्दकुन्दाचार्य विरचित :-

अष्टपाहुड

भाषा-वचनिका

[श्री पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा]

अथ दर्शनपाहुड

१

(दोहा)

श्रीमत वीरजिनेश रवि मिथ्यातम हरतार ।
विघनहरन मंगलकरन वंदू वृषकरतार ॥१॥
वानी वंदू हितकरी जिनमुख-नभतैं गाजि ।
गणधरगणश्रुतभू-झरी-बूंद-वर्णपद साजि ॥२॥
गुरु गौतम वंदू सुविधि संयमतपधर और ।
जिनि तैं पंचमकाल मैं बरत्यो जिनमत दौर ॥३॥
कुन्दकुन्दमुनि कूं नमूं कुमतध्वांतहर भान ।
पाहुड ग्रन्थ रचे जिनहिं प्राकृत वचन महान ॥४॥
तिनिमैं कई प्रसिद्ध लिखि करूं सुगम सुविचार ।
देशवचनिकामय लिखूं भव्य-जीवहितधार ॥५॥

- इसप्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृतगाथाबद्ध पाहुड ग्रन्थों में से कुछ की देशभाषामय वचनिका लिखते हैं -

वहाँ प्रयोजन ऐसा है कि इस हुण्डावसर्पिणी काल में मोक्षमार्ग की अन्यथा प्ररूपणा करनेवाले अनेक मत प्रवर्तमान हैं। उसमें भी इस पंचमकाल में केवली-श्रुतकेवली का व्युच्छेद होने से जिनमत में भी जड़ वक्र जीवों के निमित्त से परम्परा मार्ग का उल्लंघन करके श्वेताम्बर आदि बुद्धिकल्पित मत हुए हैं। उनका निराकरण करके यथार्थ स्वरूप की स्थापना के हेतु दिगम्बर आम्नाय मूलसंघ में आचार्य हुए और उन्होंने सर्वज्ञ की परम्परा के अव्युच्छेदरूप प्ररूपणा के अनेक ग्रन्थों की रचना की है, उनमें दिगम्बर सम्प्रदाय मूलसंघ नन्दि आम्नाय सरस्वतीगच्छ में श्री कुन्दकुन्द मुनि हुए और उन्होंने पाहुडग्रन्थों की रचना की। उन्हें संस्कृत भाषा में प्राभृत कहते हैं और वे प्राकृत गाथाबद्ध हैं।

काल दोष से जीवों की बुद्धि मन्द होती है, जिससे वे अर्थ नहीं समझ सकते; इसलिए देशभाषामय वचनिका होगी तो सब पढ़ेंगे और अर्थ समझेंगे तथा श्रद्धान दृढ़ होगा - ऐसा प्रयोजन विचार कर वचनिका लिख रहे हैं, अन्य कोई ख्याति, बड़ाई या लाभ का प्रयोजन नहीं है।

इसलिए हे भव्यजीवों ! इसे पढ़कर, अर्थ समझकर, चित्त में धारण करके यथार्थ मत के बाह्यलिंग एवं तत्त्वार्थ का श्रद्धान दृढ़ करना। इसमें कुछ बुद्धि की मंदता से तथा प्रमाद के वश अन्यथा अर्थ लिख दूँ तो अधिक बुद्धिमान मूलग्रन्थ को देखकर, शुद्ध करके पढ़ें और मुझे अल्पबुद्धि जानकर क्षमा करें।

अब यहाँ प्रथम दर्शनपाहुड की वचनिका लिखते हैं -

(दोहा)

वंदू श्री अरिहंत कूं मन वच तन इकतान ।

मिथ्याभाव निवारि कैं करै सु दर्शन ज्ञान ॥

अब ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थ की उत्पत्ति और उसके ज्ञान का कारण जो परम्परा गुरु का प्रवाह, उसे मंगल के हेतु नमस्कार करते हैं -

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।

दंसणमगं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥१॥

कृत्वा नमस्कारं जिणवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य ।

दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेन ॥१॥

कर नमन जिणवर वृषभ एवं वीर श्री वर्द्धमान को ।

संक्षिप्त दिग्दर्शन यथाक्रम करूँ दर्शनमार्ग का ॥१॥

इसका देशभाषामय अर्थ – आचार्य कहते हैं कि मैं जिनवर वृषभ ऐसे जो आदि तीर्थकर श्री ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थकर वर्द्धमान, उन्हें नमस्कार करके दर्शन अर्थात् मत का जो मार्ग है, उसे यथानुक्रम संक्षेप में कहूँगा।

भावार्थ – यहाँ 'जिनवरवृषभ' विशेषण है; उसमें जो जिन शब्द है, उसका अर्थ ऐसा है कि जो कर्मशत्रु को जीते सो जिन। वहाँ सम्यग्दृष्टि अत्रती से लेकर कर्म की गुणश्रेणीरूप निर्जरा करनेवाले सभी जिन हैं, उनमें वर अर्थात् श्रेष्ठ। इसप्रकार गणधर आदि मुनियों को जिनवर कहा जाता है; उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान ऐसे भगवान तीर्थकर परमदेव हैं। उनमें प्रथम तो श्री ऋषभदेव हुए और पंचमकाल के प्रारंभ तथा चतुर्थकाल के अन्त में अन्तिम तीर्थकर श्री वर्द्धमानस्वामी हुए हैं। वे समस्त तीर्थकर जिनवर वृषभ हुए हैं, उन्हें नमस्कार हुआ। वहाँ 'वर्द्धमान' ऐसा विशेषण सभी के लिए जानना; क्योंकि सभी अन्तरंग एवं बाह्य लक्ष्मी से वर्द्धमान हैं अथवा जिनवर वृषभ शब्द तो आदि तीर्थकर श्री ऋषभदेव को और वर्द्धमान शब्द से अन्तिम तीर्थकर को जानना।

इसप्रकार आदि और अन्त के तीर्थकरों को नमस्कार करने से मध्य के तीर्थकरों को भी सामर्थ्य से नमस्कार जानना। तीर्थकर सर्वज्ञ वीतराग को तो परमगुरु कहते हैं और उनकी परिपाटी में चले आ रहे गौतमादि मुनियों को जिनवर विशेषण दिया, उन्हें अपरगुरु कहते हैं – इसप्रकार परापर गुरुओं का प्रवाह जानना। वे शास्त्र की उत्पत्ति तथा ज्ञान के कारण हैं। उन्हें ग्रन्थ के आदि में नमस्कार किया ॥१॥

अब, धर्म का मूल दर्शन है, इसलिए जो दर्शन से रहित हो, उसकी वंदना नहीं करना चाहिए – ऐसा कहते हैं –

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।

तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥२॥

दर्शनमूलो धर्मः उपदिष्टः जिनवरैः शिष्याणाम् ।

तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः ॥२॥

अर्थ – जिनवर जो सर्वज्ञदेव हैं, उन्होंने शिष्य जो गणधर आदिक को धर्म का उपदेश दिया है; कैसा उपदेश दिया है ? कि दर्शन जिसका मूल है। मूल कहाँ होता है कि जैसे मन्दिर की नींव और वृक्ष की जड़ होती है, उसीप्रकार धर्म का मूल दर्शन है। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि हे सकर्ण अर्थात् सत्पुरुषो ! सर्वज्ञ के कहे हुए उस दर्शनमूलरूप धर्म को अपने कानों से सुनकर

सद्धर्म का है मूल दर्शन जिनवरेन्द्रों ने कहा।

हे कानवालो सुनो ! दर्शनहीन वंदन योग्य ना ॥२॥

जो दर्शन से रहित हैं, वे वंदन योग्य नहीं हैं; इसलिए दर्शनहीन की वंदना मत करो। जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है, क्योंकि मूलरहित वृक्ष के स्कन्ध, शाखा, पुष्प फलादिक कहाँ से होंगे? इसलिए यह उपदेश है कि जिसके धर्म नहीं है, उससे धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर धर्म के निमित्त उसकी वंदना किसलिए करें ? - ऐसा जानना।

अब, यहाँ धर्म का तथा दर्शन का स्वरूप जानना चाहिए। वह स्वरूप तो संक्षेप में ग्रन्थकार ही आगे कहेंगे, तथापि कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार यहाँ भी दे रहे हैं - 'धर्म' शब्द का अर्थ यह है कि जो आत्मा को संसार से उबारकर सुखस्थान में स्थापित करे सो धर्म है और दर्शन अर्थात् देखना। इसप्रकार धर्म की मूर्ति दिखायी दे, वह दर्शन है तथा प्रसिद्धि में जिसमें धर्म का ग्रहण हो ऐसे मत को 'दर्शन' कहा है। लोक में धर्म की तथा दर्शन की मान्यता सामान्यरूप से तो सबके हैं, परन्तु सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप का जानना नहीं हो सकता; परन्तु छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों की कल्पना करके अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनकी प्रवृत्ति करते हैं और जिनमत सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है, इसलिए इसमें यथार्थ स्वरूप का प्ररूपण है।

वहाँ धर्म को निश्चय और व्यवहार - ऐसे दो प्रकार से साधा है। उसकी प्ररूपणा चार प्रकार से है - प्रथम वस्तुस्वभाव, दूसरे उत्तम क्षमादिक दस प्रकार, तीसरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप और चौथे जीवों की रक्षारूप ऐसे चार प्रकार हैं। वहाँ निश्चय से सिद्ध किया जाय, तब तो सबमें एक ही प्रकार है, इसलिए वस्तुस्वभाव का तात्पर्य तो जीव नामक वस्तु की परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है और वह चेतना सर्व विकारों से रहित शुद्ध-स्वभावरूप परिणमित हो, वही जीव का धर्म है तथा उत्तम क्षमादिक दश प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा क्रोधादि कषायरूप न होकर अपने स्वभाव में स्थिर हो वही धर्म है, यह भी शुद्ध चेतनारूप ही हुआ।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों एक ज्ञानचेतना के ही परिणाम हैं, वही ज्ञानस्वभावरूप धर्म है और जीवों की रक्षा का तात्पर्य यह है कि जीव क्रोधादि कषायों के वश होकर अपनी या पर की पर्याय के विनाशरूप मरण तथा दुःख संक्लेश परिणाम न करे - ऐसा अपना स्वभाव ही धर्म है। इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनय से साधा हुआ धर्म एक ही प्रकार है।

व्यवहारनय पर्यायाश्रित है इसलिए भेदरूप है, व्यवहारनय से विचार करें तो जीव के पर्यायरूप परिणाम अनेकप्रकार हैं इसलिए धर्म का भी अनेकप्रकार से वर्णन किया है। वहाँ (१) प्रयोजनवश एकदेश का सर्वदेश से कथन किया जाये सो व्यवहार है, (२) अन्य वस्तु में अन्य का आरोपण अन्य के निमित्त से और प्रयोजनवश किया जाये वह भी व्यवहार है, वहाँ वस्तुस्वभाव कहने का

तात्पर्य तो निर्विकार चेतना के शुद्धपरिणाम के साधकरूप, (३) मंदकषायरूप शुभ परिणाम है तथा जो बाह्यक्रियाएँ हैं, उन सभी को व्यवहारधर्म कहा जाता है। उसीप्रकार रत्नत्रय का तात्पर्य स्वरूप के भेद दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा उनके कारण बाह्य क्रियादिक हैं, उन सभी को व्यवहार धर्म कहा जाता है। उसीप्रकार (४) जीवों की दया कहने का तात्पर्य यह है कि क्रोधादि मंदकषाय होने से अपने या पर के मरण, दुःख, क्लेश आदि न करना; ^१उसके साधक समस्त बाह्यक्रियादिक को धर्म कहा जाता है। इसप्रकार जिनमत में निश्चय-व्यवहारनय से साधा हुआ धर्म कहा है।

वहाँ एकस्वरूप अनेकस्वरूप कहने में स्याद्वाद से विरोध नहीं आता, कथञ्चित् विवक्षा से सर्व प्रमाणसिद्ध है। ऐसे धर्म का मूल दर्शन कहा है, इसलिए ऐसे धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचिसहित आचरण करना ही दर्शन है, यह धर्म की मूर्ति है, इसी को मत(दर्शन) कहते हैं और यही धर्म का मूल है तथा ऐसे धर्म की प्रथम श्रद्धा, प्रतीति, रुचि न हो तो धर्म का आचरण भी नहीं होता। जैसे वृक्ष के मूल बिना स्कंधादिक नहीं होते। इसप्रकार दर्शन को धर्म का मूल कहना युक्त है। ऐसे दर्शन का सिद्धान्तों में जैसा वर्णन है, तदनुसार कुछ लिखते हैं।

वहाँ अंतरंग सम्यग्दर्शन तो जीव का भाव है, वह निश्चय द्वारा उपाधिरहित शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना ऐसा एक प्रकार है। वह ऐसा अनुभव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन नामक कर्म के उदय से अन्यथा हो रहा है। सादि मिथ्यादृष्टि के उस मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं - मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति तथा उनकी सहकारिणी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से चार कषाय नामक प्रकृतियाँ हैं। इसप्रकार यह सात प्रकृतियाँ ही सम्यग्दर्शन का घात करनेवाली हैं; इसलिए इन सातों का उपशम होने से पहले तो इस जीव के उपशमसम्यक्त्व होता है। इन प्रकृतियों का उपशम होने का बाह्य कारण सामान्यतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं, उनमें द्रव्य में तो साक्षात् तीर्थकर के देखनादि (दर्शनादि) प्रधान हैं, क्षेत्र में समवसरणादिक प्रधान हैं, काल में अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार भ्रमण शेष रहे वह तथा भाव में अधःप्रवृत्त करण आदिक हैं।

(सम्यक्त्व के बाह्य कारण) विशेषरूप से तो अनेक हैं। उनमें से कुछ के तो अरिहंत बिम्ब का देखना, कुछ के जिनेन्द्र के कल्याणक आदि की महिमा देखना, कुछ के जातिस्मरण, कुछ के वेदना का अनुभव, कुछ के धर्म श्रवण तथा कुछ के देवों की ऋद्धि का देखना इत्यादि बाह्य कारणों द्वारा मिथ्यात्वकर्म का उपशम होने से उपशमसम्यक्त्व होता है। तथा इन सात प्रकृतियों

१. साधकरूप-सहचर हेतुरूप निमित्तमात्र; अंतरङ्ग कार्य हो तो बाह्य में इसप्रकार को निमित्त कारण कहा जाता है।

में छह का तो उपशम या क्षय हो और एक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो, तब क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। इस प्रकृति के उदय से किंचित् अतिचार - मल लगता है तथा इन सात प्रकृतियों का सत्ता में से नाश हो, तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

इसप्रकार उपशमादि होने पर जीव के परिणामभेद से तीन प्रकार होते हैं; वे परिणाम अति सूक्ष्म हैं, केवलज्ञानगम्य हैं, इसलिए इन प्रकृतियों के द्रव्य पुद्गलपरमाणुओं के स्कंध हैं, वे अतिसूक्ष्म हैं और उनमें फल देने की शक्तिरूप अनुभाग है, वह अतिसूक्ष्म है, वह छद्मस्थ के ज्ञानगम्य नहीं है। तथा उनका उपशमादिक होने से जीव के परिणाम भी सम्यक्त्वरूप होते हैं, वे भी अतिसूक्ष्म हैं, वे भी केवलज्ञानगम्य हैं। तथापि जीव के कुछ परिणाम छद्मस्थ के ज्ञान में आने योग्य होते हैं, वे उसे पहिचानने के बाह्य-चिह्न हैं, उनकी परीक्षा करके निश्चय करने का व्यवहार है - ऐसा न हो तो छद्मस्थ व्यवहारी जीव के सम्यक्त्व का निश्चय नहीं होगा और तब आस्तिक्य का अभाव सिद्ध होगा, व्यवहार का लोप होगा - यह महान दोष आयेगा। इसलिए बाह्य चिह्नों को आगम, अनुमान तथा स्वानुभव से परीक्षा करके निश्चय करना चाहिए।

वे चिह्न कौन से हैं सो लिखते हैं - मुख्य चिह्न तो उपाधिरहित शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप आत्मा की अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञान का विशेष है, तथापि वह सम्यक्त्व होने पर होती है, इसलिए उसे बाह्य चिह्न कहते हैं। ज्ञान तो अपना अपने को स्वसंवेदनरूप है; उसका रागादि विकाररहित शुद्धज्ञानमात्र का अपने को आस्वाद होता है कि - “जो यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूँ और ज्ञान में जो रागादि विकार हैं, वे कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है” - इसप्रकार भेदज्ञान से ज्ञानमात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनुभूति कहते हैं, वही आत्मा की अनुभूति है तथा वही शुद्धनय का विषय है। ऐसी अनुभूति से शुद्धनय के द्वारा ऐसा भी श्रद्धान होता है कि जो सर्व कर्मजनित रागादिकभाव से रहित अनंतचतुष्टय मेरा स्वरूप है, अन्य सब भाव संयोगजनित हैं - ऐसी आत्मा की अनुभूति सो सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है। यह मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के अभाव से सम्यक्त्व होता है, उसका चिह्न है; उस चिह्न को ही सम्यक्त्व कहना, सो व्यवहार है।

उसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम, अनुमान तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष प्रमाण इन प्रमाणों से की जाती है। इसी को निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहते हैं। वहाँ अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन की प्रधानता से होती है और पर की परीक्षा तो पर के अंतरंग तथा पर के वचन व काय की क्रिया से होती है, यह व्यवहार है, परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं। व्यवहारी जीव को सर्वज्ञ ने भी व्यवहार के ही शरण का उपदेश दिया है।

(नोंध - अनुभूति ज्ञान गुण की पर्याय है, वह श्रद्धा गुण से भिन्न है; इसलिए ज्ञान के द्वारा श्रद्धान का निर्णय करना व्यवहार है, उसका नाम व्यवहारी जीवों को व्यवहार का ही शरण अर्थात् आलम्बन समझना)

अनेक लोग कहते हैं कि - सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए अपने को सम्यक्त्व होने का निश्चय नहीं होता, इसलिए अपने को सम्यग्दृष्टि नहीं मान सकते ? परन्तु इसप्रकार सर्वथा एकान्त से कहना तो मिथ्यादृष्टि है; सर्वथा ऐसा कहने से व्यवहार का लोप होगा, सर्व मुनि-श्रावकों की प्रवृत्ति मिथ्यात्वरूप सिद्ध होगी और सब अपने को मिथ्यादृष्टि मानेंगे तो व्यवहार कहाँ रहेगा ? इसलिए परीक्षा होने के पश्चात् ऐसा श्रद्धान नहीं रखना चाहिए कि मैं मिथ्यादृष्टि ही हूँ। मिथ्यादृष्टि तो अन्यमती को कहते हैं और उसी के समान स्वयं भी होगा, इसलिए सर्वथा एकान्तपक्ष ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - ऐसे सात तत्त्वार्थ हैं; उनमें पुण्य और पाप को जोड़ देने से नव पदार्थ होते हैं। उनकी श्रद्धा अर्थात् सन्मुखता, रुचि अर्थात् तद्रूप भाव करना तथा प्रतीति अर्थात् जैसे सर्वज्ञ ने कहे हैं, तदनुसार ही अंगीकार करना और उनके आचरणरूप क्रिया - इसप्रकार श्रद्धानादिक होना सो सम्यक्त्व का बाह्य चिह्न है।

तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भी सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं। वहाँ (१) प्रशम - अनंतानुबंधी क्रोधादिक कषाय के उदय का अभाव सो प्रशम है। उसके बाह्य चिह्न जैसे कि सर्वथा एकान्त तत्त्वार्थ का कथन करनेवाले अन्य मतों का श्रद्धान, बाह्यवेश में सत्यार्थपने का अभिमान करना, पर्यायों में एकान्त के कारण आत्मबुद्धि से अभिमान तथा प्रीति करना वह अनंतानुबंधी का कार्य है, वह जिसके न हो तथा किसी ने अपना बुरा किया तो उसका घात करना आदि मिथ्यादृष्टि की भाँति विकारबुद्धि अपने को उत्पन्न न हो तथा वह ऐसा विचार करे कि मैंने अपने परिणामों से जो कर्म बाँधे थे, वे ही बुरा करनेवाले हैं, अन्य तो निमित्तमात्र हैं - ऐसी बुद्धि अपने को उत्पन्न हो - ऐसे मंदकषाय है तथा अनंतानुबंधी के बिना अन्य चारित्रमोह की प्रकृतियों के उदय से आरम्भादिक क्रिया में हिंसादिक होते हैं, उनको भी भला नहीं जानता; इसलिए उससे प्रशम का अभाव नहीं कहते।

(२) संवेग - धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह हो वह संवेग है तथा साधर्मियों से अनुराग और परमेष्ठियों में प्रीति वह भी संवेग ही है तथा धर्म के फल में अभिलाषा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अभिलाषा तो उसे कहते हैं, जिसे इन्द्रियविषयों की चाह हो। अपने स्वरूप की प्राप्ति में अनुराग को अभिलाषा नहीं कहते।

(३) निर्वेग - इस संवेग में ही निर्वेद भी हुआ समझना, क्योंकि अपने स्वरूप रूप धर्म की

प्राप्ति में अनुराग हुआ, तब अन्यत्र सभी अभिलाष का त्याग हुआ, सर्व परद्रव्यों से वैराग्य हुआ, वही निर्वेग है।

(४) **अनुकम्पा** – सर्व प्राणियों में उपकार की बुद्धि और मैत्रीभाव सो अनुकम्पा है तथा मध्यस्थभाव होने से सम्यग्दृष्टि के शल्य नहीं है, किसी से बैरभाव नहीं होता, सुख-दुःख, जीवन-मरण अपना पर के द्वारा और पर का अपने द्वारा नहीं मानता है तथा पर में जो अनुकम्पा है सो अपने में ही है, इसलिए पर का बुरा करने का विचार करेगा तो अपने कषायभाव से स्वयं अपना ही बुरा हुआ; पर का बुरा नहीं सोचेगा तब अपने कषायभाव नहीं होंगे, इसलिए अपनी अनुकम्पा ही हुई।

(५) **आस्तिक्य** – जीवादि पदार्थों में अस्तित्वभाव सो आस्तिक्यभाव है। जीवादि पदार्थों का स्वरूप सर्वज्ञ के आगम से जानकर उनमें ऐसी बुद्धि हो कि जैसे सर्वज्ञ ने कहे वैसे ही यह हैं, अन्यथा नहीं हैं, वह आस्तिक्यभाव है। इसप्रकार यह सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं।

सम्यक्त्व के आठ गुण हैं – संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा। यह सब प्रशमादि चार में ही आ जाते हैं। संवेग में निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति – ये आ गये तथा प्रशम में निन्दा, गर्हा आ गई।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं, उन्हें लक्षण भी कहते हैं और गुण भी। उनके नाम हैं – निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

वहाँ शंका नाम संशय का भी है और भय का भी। वहाँ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालाणुद्रव्य, परमाणु इत्यादि तो सूक्ष्मवस्तु हैं तथा द्वीप, समुद्र, मेरुपर्वत आदि दूरवर्ती पदार्थ हैं तथा तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि अन्तरित पदार्थ हैं; वे सर्वज्ञ के आगम में जैसे कहे हैं, वैसे हैं या नहीं हैं? अथवा सर्वज्ञदेव ने वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक कहा है सो सत्य है या असत्य? – ऐसे सन्देह को शंका कहते हैं। जिसके यह न हो उसे निःशंकित अंग कहते हैं तथा यह जो शंका होती है सो मिथ्यात्वकर्म के उदय से (उदय में युक्त होने से) होती है; पर में आत्मबुद्धि होना उसका कार्य है। जो पर में आत्मबुद्धि है, सो पर्यायबुद्धि है और पर्यायबुद्धि भय भी उत्पन्न करती है।

शंका भय को भी कहते हैं, उसके सात भेद हैं – इस लोक का भय, परलोक का भय, मृत्यु का भय, अरक्षा का भय, अगुप्ति का भय, वेदना का भय, अकस्मात् का भय। जिसके यह भय हों, उसे मिथ्यात्व कर्म का उदय समझना चाहिए; सम्यग्दृष्टि होने पर यह नहीं होते।

प्रश्न – भयप्रकृति का उदय तो आठवें गुणस्थान तक है; उसके निमित्त से सम्यग्दृष्टि को भय होता ही है, फिर भय का अभाव कैसा ?

समाधान – कि यद्यपि सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोह के भेदरूप भयप्रकृति के उदय से भय होता है, तथापि उसे निर्भय ही कहते हैं; क्योंकि उसके कर्म के उदय का स्वामित्व नहीं है और परद्रव्य के कारण अपने द्रव्यस्वभाव का नाश नहीं मानता। पर्याय का स्वभाव विनाशीक मानता है, इसलिए भय होने पर भी उसे निर्भय ही कहते हैं। भय होने पर उसका उपचार भागना (पलायन) इत्यादि करता है; वहाँ वर्तमान की पीड़ा सहन न होने से वह इलाज (उपचार) करता है, वह निर्बलता का दोष है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के संदेह तथा भयरहित होने से **निःशंकित अंग** होता है ॥१॥

कांक्षा अर्थात् भोगों की इच्छा-अभिलाषा। वहाँ पूर्वकाल में किये भोगों की वांछा तथा उन भोगों की मुख्य क्रिया में वांछा तथा कर्म और कर्म के फल की वांछा तथा मिथ्यादृष्टियों के भोगों की प्राप्ति देखकर उन्हें अपने मन में भला जानना अथवा जो इन्द्रियों को न रुचे ऐसे विषयों में उद्वेग होना – यह भोगाभिलाष के चिह्न हैं। यह भोगाभिलाष मिथ्यात्वकर्म के उदय से होता है और जिसके यह न हो, वह निःकांक्षित अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। वह सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभक्रिया-व्रतादिक आचरण करता है और उसका फल शुभकर्मबन्ध है, किन्तु उसकी वह वांछा नहीं करता। व्रतादिक को स्वरूप का साधक जानकर उनका आचरण करता है कर्म के फल की वांछा नहीं करता – ऐसा **निःकांक्षित अंग** है ॥२॥

अपने में अपने गुण की महत्ता की बुद्धि से अपने को श्रेष्ठ मानकर पर में हीनता की बुद्धि हो, उसे विचिकित्सा कहते हैं; वह जिसके न हो सो निर्विचिकित्सा अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। उसके चिह्न ऐसे हैं कि यदि कोई पुरुष पाप के उदय से दुःखी हो, असाता के उदय से ग्लानियुक्त शरीर हो तो उसमें ग्लानिबुद्धि नहीं करता। ऐसी बुद्धि नहीं करता कि मैं सम्पदावान हूँ, सुन्दर शरीरवान हूँ, यह दीन, रंक मेरी बराबरी नहीं कर सकता। उलटा ऐसा विचार करता है कि प्राणियों के कर्मोदय से अनेक विचित्र अवस्थाएँ होती हैं; जब मेरे ऐसे कर्म का उदय आवे, तब मैं भी ऐसा ही हो जाऊँ – ऐसे विचार से **निर्विचिकित्सा अंग** होता है ॥३॥

अतत्त्व में तत्त्वपने का श्रद्धान सो **मूढदृष्टि** है। ऐसी मूढदृष्टि जिसके न हो सो अमूढदृष्टि है। मिथ्यादृष्टियों द्वारा मिथ्या हेतु एवं मिथ्या दृष्टान्त से साधित पदार्थ हैं, वह सम्यग्दृष्टि को प्रीति उत्पन्न नहीं कराते हैं तथा लौकिक रूढि अनेक प्रकार की हैं, वह निःसार हैं, निःसार पुरुषों द्वारा ही उसका आचरण होता है, जो अनिष्ट फल देनेवाली है तथा जो निष्फल है; जिनका बुरा फल है तथा उनका कुछ हेतु नहीं है, कुछ अर्थ नहीं है; जो कुछ लोकरूढि चल पड़ती है, उसे लोग अपना मान लेते हैं और फिर उसे छोड़ना कठिन हो जाता है इत्यादि लोकरूढि है।

अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि, अगुरु में गुरुबुद्धि इत्यादि देवादिक मूढता है, वह

कल्याणकारी नहीं है। सदोष देव को देव मानना तथा उनके निमित्त हिंसादि द्वारा अधर्म को धर्म मानना तथा मिथ्या आचारवान्, शल्यवान्, परिग्रहवान् सम्यक्त्वव्रतरहित को गुरु मानना इत्यादि मूढदृष्टि के चिह्न हैं। अब, देव-गुरु-धर्म कैसे होते हैं, उनका स्वरूप जानना चाहिए, सो कहते हैं -

रागादिक दोष और ज्ञानावरणादिक कर्म ही आवरण हैं; यह दोनों जिसके नहीं हैं, वह देव है। उसके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य - ऐसे अनंतचतुष्टय होते हैं। सामान्यरूप से तो देव एक ही है और विशेषरूप से अरहंत, सिद्ध ऐसे दो भेद हैं तथा इनके नामभेद के भेद से भेद करें तो हजारों नाम हैं तथा गुणभेद किए जायें तो अनन्त गुण हैं। परमौदारिक देह में विद्यमान घातियाकर्मरहित अनन्तचतुष्टयसहित धर्म का उपदेश करनेवाले ऐसे तो अरिहंतदेव हैं तथा पुद्गलमयी देह से रहित लोक के शिखर पर विराजमान सम्यक्त्वादि अष्टगुणमंडित अष्टकर्मरहित ऐसे सिद्ध देव हैं। इनके अनेकों नाम हैं - अरहंत, जिन, सिद्ध, परमात्मा, महादेव, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग परमात्मा इत्यादि अर्थ सहित अनेक नाम हैं - ऐसा देव का स्वरूप जानना।

गुरु का भी अर्थ से विचार करें तो अरिहंत देव ही हैं, क्योंकि मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले अरिहंत ही हैं, वे ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रवर्तन कराते हैं तथा अरिहंत के पश्चात् छद्मस्थ ज्ञान के धारक उन्हीं का निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप धारण करनेवाले मुनि हैं सो गुरु हैं; क्योंकि अरिहंत की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकदेश शुद्धता उनके पायी जाती है और वे ही संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण हैं, इसलिए अरिहंत की भाँति एकदेशरूप से निर्दोष हैं, वे मुनि भी गुरु हैं, मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले हैं।

ऐसा मुनिपना सामान्यरूप से एक प्रकार का है और विशेषरूप से वही तीन प्रकार का है - आचार्य, उपाध्याय, साधु। इसप्रकार यह पदवी की विशेषता होने पर भी उनके मुनिपने की क्रिया समान ही है; बाह्य लिंग भी समान है, पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, तीन गुप्ति - ऐसे तेरह प्रकार का चारित्र भी समान ही है, तप भी शक्ति अनुसार समान ही है, साम्यभाव भी समान है, मूलगुण उत्तरगुण भी समान है, परिषह उपसर्गों का सहना भी समान है, आहारादि की विधि भी समान है, चर्या, स्थान, आसनादि भी समान हैं, मोक्षमार्ग की साधना, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र भी समान हैं। ध्याता, ध्यान, ध्येयपना भी समान है, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयपना भी समान है, चार आराधना की आराधना, क्रोधादिक कषायों का जीतना इत्यादि मुनियों की प्रवृत्ति है, वह सब समान है।

विशेष यह है कि जो आचार्य हैं, वे पञ्चाचार अन्य को ग्रहण कराते हैं तथा अन्य को दोष लगे

तो उसके प्रायश्चित्त की विधि बतलाते हैं, धर्मोपदेश, दीक्षा एवं शिक्षा देते हैं - ऐसे आचार्य गुरुवन्दना करने योग्य हैं।

जो उपाध्याय हैं वे वादित्व, वाग्मित्व, कवित्व, गमकत्व - इन चार विद्याओं में प्रवीण होते हैं; उसमें शास्त्र का अभ्यास प्रधान कारण है। जो स्वयं शास्त्र पढते हैं और अन्य को पढाते हैं, ऐसे उपाध्याय गुरु वन्दनयोग्य हैं; उनके अन्य मुनिव्रत, मूलगुण, उत्तरगुण की क्रिया आचार्य के समान ही होती है तथा साधु रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग की साधना करते हैं सो साधु हैं; उनके दीक्षा, शिक्षा और उपदेशादि देने की प्रधानता नहीं है, वे तो अपने स्वरूप की साधना में ही तत्पर होते हैं; जिनागम में जैसी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि की प्रवृत्ति कही है, वैसी सभी प्रवृत्ति उनके होती है - ऐसे साधु वन्दना के योग्य हैं। अन्यलिंगी-वेषी व्रतादिक से रहित परिग्रहवान, विषयों में आसक्त गुरु नाम धारण करते हैं, वे वन्दनयोग्य नहीं हैं।

इस पंचमकाल में जिनतमत में भी भेषी हुए हैं। वे श्वेताम्बर, यापनीयसंघ, गोपुच्छपिच्छसंघ, निःपिच्छसंघ, द्राविडसंघ आदि अनेक हुए हैं; यह सब वन्दनयोग्य नहीं हैं। मूलसंघ, नग्नदिगम्बर, अट्टाईस मूलगुणों के धारक, दया के और शौच के उपकरण मयूरपिच्छक, कमण्डल धारण करनेवाले, यथोक्त विधि से आहार करनेवाले गुरु वन्दनयोग्य हैं, क्योंकि जब तीर्थकर देव दीक्षा लेते हैं, तब ऐसा ही रूप धारण करते हैं, अन्य भेष धारण नहीं करते; इसी को जिनदर्शन कहते हैं।

धर्म उसे कहते हैं जो जीव को संसार के दुःखरूप नीच पद से मोक्ष के सुखरूप उच्च पद में स्थापित करे - ऐसा धर्म मुनि-श्रावक के भेद से, दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक एकदेश सर्वदेशरूप निश्चय-व्यवहार द्वारा दो प्रकार कहा है; उसका मूल सम्यग्दर्शन है; उसके बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार देव-गुरु-धर्म में तथा लोक में यथार्थ दृष्टि हो और मूढता न हो सो अमूढदृष्टि अंग है ॥४॥

अपने आत्मा की शक्ति को बढाना सो उपबृंहण अंग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने पुरुषार्थ द्वारा बढाना ही उपबृंहण है। उसे उपगूहन भी कहते हैं - ऐसा अर्थ जानना चाहिए कि जिनमार्ग स्वयंसिद्ध है; उसमें बालक के तथा असमर्थ जन के आश्रय से जो न्यूनता हो, उसे अपनी बुद्धि से गुप्त कर दूर ही करे, वह उपगूहन अंग है ॥५॥

जो धर्म से च्युत होता हो उसे दृढ करना सो स्थितिकरण अंग है। स्वयं कर्मोदय के वश होकर कदाचित् श्रद्धान से तथा क्रिया-आचार से च्युत होता हो तो अपने को पुरुषार्थपूर्वक पुनः श्रद्धान में दृढ करे; उसीप्रकार अन्य कोई धर्मात्मा धर्म से च्युत होता हो तो उसे उपदेशादिक द्वारा धर्म में स्थापित करे, वह स्थितिकरण अंग है ॥६॥

अरिहंत, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय चतुर्विध संघ और शास्त्र में दासत्व हो - जैसे स्वामी का भृत्य दास होता है तदनुसार वह वात्सल्य अंग है। धर्म के स्थान पर उपसर्गादि आर्ये उन्हें अपनी शक्ति अनुसार दूर करे, अपनी शक्ति को न छिपाये - यह सब धर्म में अति प्रीति हो तब होता है ॥७॥

धर्म का उद्योत करना सो प्रभावना अंग है। रत्नत्रय द्वारा अपने आत्मा का उद्योत करना तथा दान, तप, पूजा-विधान द्वारा एवं विद्या, अतिशय-चमत्कारादि द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना वह प्रभावना अंग है ॥८॥

इसप्रकार यह सम्यक्त्व के आठ अंग हैं; जिसके यह प्रगट हों उसके सम्यक्त्व है - ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न - यदि यह सम्यक्त्व के चिह्न मिथ्यादृष्टि के भी दिखाई दें तो सम्यक्-मिथ्या का विभाग कैसे होगा ?

समाधान - जैसे चिह्न सम्यक्त्वी के होते हैं, वैसे मिथ्यात्वी के तो कदापि नहीं होते, तथापि अपरीक्षक को समान दिखाई दें तो परीक्षा करके भेद जाना जा सकता है। परीक्षा में अपना स्वानुभव प्रधान है। सर्वज्ञ के आगम में जैसा आत्मा का अनुभव होना कहा है, वैसा स्वयं को हो तो उसके होने से अपनी वचन-काय की प्रवृत्ति भी तदनुसार होती है, उस प्रवृत्ति के अनुसार अन्य की भी वचन-काय की प्रवृत्ति पहचानी जाती है - इसप्रकार परीक्षा करने से विभाग होते हैं तथा यह व्यवहार मार्ग है, इसलिए व्यवहारी छद्मस्थ जीवों के अपने ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति है; यथार्थ सर्वज्ञदेव जानते हैं।

व्यवहारी को सर्वज्ञदेव ने व्यवहार का ही आश्रय बतलाया है*। यह अन्तरंग सम्यक्त्वभावरूप सम्यक्त्व है, वही सम्यग्दर्शन है, बाह्यदर्शन, व्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र और तपसहित अट्टाईस मूलगुण सहित नग्न दिगम्बर मुद्रा उसकी मूर्ति है, उसे जिनदर्शन कहते हैं। इसप्रकार धर्म का मूल सम्यग्दर्शन जानकर जो सम्यग्दर्शनरहित हैं, उनके वंदन-पूजन का निषेध किया है - ऐसा यह उपदेश भव्यजीवों को अंगीकार करनेयोग्य है ॥२॥

अब कहते हैं कि अन्तरंगसम्यग्दर्शन बिना बाह्यचारित्र से निर्वाण नहीं होता -

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।

सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥

* स्वानुभूति ज्ञान गुण की पर्याय है, ज्ञान के द्वारा सम्यक्त्व का निर्णय करना उसका नाम व्यवहारी को व्यवहार का आश्रय समझना, किन्तु भेदरूप व्यवहार के आश्रय से वीतराग अंशरूप धर्म होगा ऐसा अर्थ कहीं पर नहीं समझना।

दृगभ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं उनको कभी निर्वाण ना।

हों सिद्ध चारित्रभ्रष्ट पर दृगभ्रष्ट को निर्वाण ना ॥३॥

**दर्शनभ्रष्टाः भ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिध्यन्ति चारित्रभ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टाः न सिध्यन्ति ॥३॥**

अर्थ – जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं; जो दर्शन से भ्रष्ट हैं उनको निर्वाण नहीं होता; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होते ।

भावार्थ – जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं, उन्हें भ्रष्ट कहते हैं और जो श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हैं, किन्तु कदाचित् कर्म के उदय से चारित्रभ्रष्ट हुए हैं, उन्हें भ्रष्ट नहीं कहते; क्योंकि जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती; जो चारित्र से भ्रष्ट होते हैं और श्रद्धानदृढ रहते हैं उनके तो शीघ्र ही पुनः चारित्र का ग्रहण होता है और मोक्ष होता है तथा दर्शन से भ्रष्ट होय उसी के फिर चारित्र का ग्रहण कठिन होता है, इसलिए निर्वाण की प्राप्ति दुर्लभ होती है। जैसे – वृक्ष की शाखा आदि कट जायें और जड़ बनी रहे तो शाखा आदि शीघ्र ही पुनः उग आयेंगे और फल लगेँगे, किन्तु जड़ उखड़ जाने पर शाखा आदि कैसे होंगे ? उसीप्रकार धर्म का मूल दर्शन जानना ॥३॥

अब, जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं और शास्त्रों को अनेक प्रकार से जानते हैं तथापि संसार में भटकते हैं – ऐसे ज्ञान से भी दर्शन को अधिक कहते हैं –

**सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥**

सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टाः जानंतो बहुविधानि शास्त्राणि ।

आराधना विरहिताः भ्रमंति तत्रैव तत्रैव ॥४॥

अर्थ – जो पुरुष सम्यक्त्वरूप रत्न से भ्रष्ट है तथा अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं, तथापि वह आराधना से रहित होते हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं करते हैं। दो बार कहकर बहुत परिभ्रमण बतलाया है ।

भावार्थ – जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं और शब्द, न्याय, छन्द, अलंकार आदि अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं तथापि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपरूप आराधना उनके नहीं होती; इसलिए कुमरण से चतुर्गतिरूप संसार में ही भ्रमण करते हैं-मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिए सम्यक्त्वरहित ज्ञान को आराधना नाम नहीं देते ।

अब कहते हैं कि जो तप भी करते हैं और सम्यक्त्वरहित होते हैं उन्हें स्वरूप का लाभ नहीं

जो जानते हों शास्त्र सब पर भ्रष्ट हों सम्यक्त्व से ।

घूमें सदा संसार में आराधना से रहित वे ॥४॥

होता -

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठू वि उगं तवं चरंता णं ।
 ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥५॥
 सम्यक्त्वविरहिता णं सुष्ठु अपि उग्रं तपः चरंतो णं ।
 न लभन्ते बोधिलाभं अपि वर्षसहस्रकोटिभिः ॥५॥

अर्थ - जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं, वे सुष्ठु अर्थात् भलीभांति उग्र तप का आचरण करते हैं, तथापि वे बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जो अपना स्वरूप है उसका लाभ प्राप्त नहीं करते; यदि हजार कोटि वर्ष तक तप करते रहें, तब भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ गाथा में दो स्थानों पर 'णं' शब्द है, वह प्राकृत में अव्यय है, उसका अर्थ वाक्य का अलंकार है।

भावार्थ - सम्यक्त्व के बिना हजार कोटि वर्ष तप करने पर भी मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ हजार कोटि कहने का तात्पर्य उतने ही वर्ष नहीं समझना, किन्तु काल का बहुतपना बतलाया है। तप मनुष्य पर्याय में ही होता है, और मनुष्यकाल भी थोड़ा है, इसलिए तप के तात्पर्य से यह वर्ष भी बहुत कम कहे हैं ॥५॥

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के बिना चारित्र, तप को निष्फल कहा है। अब सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है - ऐसा कहते हैं -

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे ।
 कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥६॥
 सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमानाः ये सर्वे ।
 कलिकलुषपापरहिताः वरज्ञानिनः भवंति अचिरेण ॥६॥

अर्थ - जो पुरुष सम्यक्त्वज्ञान, दर्शन, बल, वीर्य से वर्द्धमान हैं तथा कलिकलुषपाप अर्थात् इस पञ्चमकाल के मलिन पाप से रहित हैं, वे सभी अल्पकाल में वरज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं।

यद्यपि करें वे उग्रतप शत-सहस-कोटि वर्ष तक ।
 पर रत्नत्रय पावें नहीं सम्यक्त्व विरहित साधु सब ॥५॥
 सम्यक्त्व दर्शन ज्ञान बल अर वीर्य से वर्द्धमान जो ।
 वे शीघ्र ही सर्वज्ञ हों, कलिकलुसकल्मस रहित जो ॥६॥

भावार्थ – इस पंचमकाल में जड़-वक्र जीवों के निमित्त से यथार्थ मार्ग अपभ्रंश हुआ है। उसकी वासना से जो जीव रहित हुए वे यथार्थ जिनमार्ग के श्रद्धानरूप सम्यक्त्वसहित ज्ञान-दर्शन के अपने पराक्रम-बल को न छिपाकर तथा अपने वीर्य अर्थात् शक्ति से वर्द्धमान होते हुए प्रवर्तते हैं, वे अल्पकाल में ही केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥६॥

अब कहते हैं कि सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह आत्मा को कर्मरज नहीं लगने देता –

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।

कम्मं वालुयवरणं बन्धुच्चिय णासए तस्स ॥७॥

सम्यक्त्वसलिलप्रवाहः नित्यं हृदये प्रवर्तते यस्य ।

कर्म वालुकावरणं बद्धमपि नश्यति तस्य ॥७॥

अर्थ – जिस पुरुष के हृदय में सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह निरंतर प्रवर्तमान है, उसके कर्मरूपी रज-धूल का आवरण नहीं लगता तथा पूर्वकाल में जो कर्मबंध हुआ हो वह भी नाश को प्राप्त होता है।

भावार्थ – सम्यक्त्वसहित पुरुष को (निरन्तर ज्ञानचेतना के स्वामित्वरूप परिणमन है इसलिए) कर्म के उदय से हुए रागादिक भावों का स्वामित्व नहीं होता, इसलिए कषायों की तीव्र कलुषता से रहित परिणाम उज्वल होते हैं; उसे जल की उपमा है। जैसे – जहाँ निरन्तर जल का प्रवाह बहता है, वहाँ बालू-रेत-रज नहीं लगती; वैसे ही सम्यक्त्वी जीव कर्म के उदय को भोगता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता तथा बाह्य व्यवहार की अपेक्षा से ऐसा भी तात्पर्य जानना चाहिए कि जिसके हृदय में निरन्तर सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह बहता है, वह सम्यक्त्वी पुरुष इस कलिकाल सम्बन्धी वासना अर्थात् कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को नमस्कारादिरूप अतिचाररूप रज भी नहीं लगाता तथा उसके मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियों का आगामी बंध भी नहीं होता ॥७॥

अब कहते हैं कि जो दर्शनभ्रष्ट हैं तथा ज्ञानचारित्र से भ्रष्ट हैं, वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही, परन्तु दूसरों को भी भ्रष्ट करते हैं, यह अनर्थ है –

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्तभट्टा य ।

सम्यक्त्व की जलधार जिनके नित्य बहती हृदय में ।

वे कर्मरज से ना बंधे पहले बंधे भी नष्ट हों ॥७॥

जो ज्ञान-दर्शन-भ्रष्ट हैं चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ।

वे भ्रष्ट करते अन्य को वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं ॥८॥

एदे भट्ट वि भट्टा सेसं पि जणं विणासंति ॥८॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः ज्ञाने भ्रष्टाः चारित्रभ्रष्टाः च ।

एते भ्रष्टात् अपि भ्रष्टाः शेषं अपि जनं विनाशयंति ॥८॥

अर्थ – जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट हैं तथा ज्ञान-चारित्र में भी भ्रष्ट हैं, वे पुरुष भ्रष्टों में भी विशेष भ्रष्ट हैं। कई तो दर्शन सहित हैं, किन्तु ज्ञान-चारित्र उनके नहीं है तथा कई अंतरंग दर्शन से भ्रष्ट हैं तथापि ज्ञान-चारित्र का भलीभांति पालन करते हैं और जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों से भ्रष्ट हैं, वे तो अत्यन्त भ्रष्ट हैं; वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही, परन्तु शेष अर्थात् अपने अतिरिक्त अन्य जनों को भी नष्ट/भ्रष्ट करते हैं।

भावार्थ – यहाँ सामान्य वचन है, इसलिए ऐसा भी आशय सूचित करता है कि सत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र तो दूर ही रहा, जो अपने मत की श्रद्धा, ज्ञान, आचरण से भी भ्रष्ट हैं, वे तो निरर्गल स्वेच्छाचारी हैं। वे स्वयं भ्रष्ट हैं, उसीप्रकार अन्य लोगों को उपदेशादिक द्वारा भ्रष्ट करते हैं तथा उनकी प्रवृत्ति देखकर लोग स्वयमेव भ्रष्ट होते हैं, इसलिए ऐसे तीव्रकषायी निषिद्ध हैं; उनकी संगति करना भी उचित नहीं है ॥८॥

अब कहते हैं कि ऐसे भ्रष्ट पुरुष स्वयं भ्रष्ट हैं, वे धर्मात्मा पुरुषों को दोष लगाकर भ्रष्ट बतलाते हैं –

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोगगुणधारी ।

तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिति ॥९॥

यः कोऽपि धर्मशीलः संयमतपोनियमयोगगुणधारी ।

तस्य च दोषान् कथयंतः भग्ना भग्नत्वं ददति ॥९॥

अर्थ – जो पुरुष धर्मशील अर्थात् अपने स्वरूपरूप धर्म को साधने का जिसका स्वभाव है तथा संयम अर्थात् इन्द्रिय-मन का निग्रह और षट्काय के जीवों की रक्षा, तप अर्थात् बाह्याभ्यंतर भेद की अपेक्षा से बारह प्रकार के तप, नियम अर्थात् आवश्यकदि नित्यकर्म, योग अर्थात् समाधि, ध्यान तथा वर्षाकाल आदि कालयोग, गुण अर्थात् मूलगुण, उत्तरगुण – इनका धारण करनेवाला है, उसे कई मतभ्रष्ट जीव दोषों का आरोपण करके कहते हैं कि यह भ्रष्ट है, दोषयुक्त है, वे पापात्मा जीव स्वयं भ्रष्ट हैं, इसलिए अपने अभिमान की पुष्टि के लिए अन्य धर्मात्मा पुरुषों

तप शील संयम व्रत नियम अर योग गुण से युक्त हों ।

फिर भी उन्हें वे दोष दें जो स्वयं दर्शन भ्रष्ट हों ॥९॥

को भ्रष्टपना देते हैं।

भावार्थ – पापियों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि स्वयं पापी हैं, उसीप्रकार धर्मात्मा में दोष बतलाकर अपने समान बनाना चाहते हैं। ऐसे पापियों की संगति नहीं करना चाहिए ॥९॥

अब कहते हैं कि जो दर्शन भ्रष्ट है, वह मूलभ्रष्ट है, उसको फल की प्राप्ति नहीं होती –

जह मूलम्मि विणट्टे द्रुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी ।

तह जिणदंसणभट्टा मूलविणट्टा ण सिज्झंति ॥१०॥

यथा मूले विनष्टे द्रुमस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः ।

तथा जिनदर्शनभ्रष्टाः मूलविनष्टाः न सिद्धयन्ति ॥१०॥

अर्थ – जिसप्रकार वृक्ष का मूल विनष्ट होने पर उसके परिवार अर्थात् स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल की वृद्धि नहीं होती, उसीप्रकार जो जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं, बाह्य में तो नग्न-दिगम्बर यथाजातरूप निर्ग्रन्थ लिंग, मूलगुण का धारण, मयूर पिच्छिका (मोर के पंखों की पीछी) तथा कमण्डल धारण करना, यथाविधि दोष टालकर खड़े-खड़े शुद्ध आहार लेना – इत्यादि बाह्य शुद्ध वेष धारण करते हैं तथा अन्तरंग में जीवादि छह द्रव्य, नवपदार्थ, सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान एवं भेदविज्ञान से आत्मस्वरूप का अनुभवन – ऐसे दर्शन-मत से बाह्य हैं, वे मूलविनष्ट हैं, उनके सिद्धि नहीं होती, वे मोक्षफल को प्राप्त नहीं करते।

अब कहते हैं कि जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है –

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ ।

तह जिणदंसण मूलो णिदिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥११॥

यथा मूलात् स्कंधः शाखापरिवारः बहुगुणः भवति ।

तथा जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं मोक्षमार्गस्य ॥११॥

अर्थ – जिसप्रकार वृक्ष के मूल से स्कंध होते हैं; कैसे स्कंध होते हैं कि जिनके शाखा आदि

जिस तरह द्रुम परिवार की वृद्धि न हो जड़ के बिना ।

बस उस तरह ना मुक्ति हो जिनमार्ग में दर्शन बिना ॥१०॥

मूल ही है मूल ज्यों शाखादि द्रुम परिवार का ।

बस उस तरह ही मुक्तिमग का मूल दर्शन को कहा ॥११॥

परिवार बहुत गुण हैं। यहाँ गुण शब्द बहुत का वाचक है; उसीप्रकार गणधर देवादिक ने जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।

भावार्थ – यहाँ जिनदर्शन अर्थात् तीर्थकर परमदेव ने जो दर्शन ग्रहण किया उसी का उपदेश दिया है, वह मूलसंघ है; वह अट्ठाईस मूलगुण सहित कहा है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, छह आवश्यक, पाँच इन्द्रियों को वश में करना, स्नान नहीं करना, भूमिशयन, वस्त्रादिक का त्याग अर्थात् दिगम्बर मुद्रा, केशलोच करना, एकबार भोजन करना, खड़े-खड़े आहार लेना, दंतधावन न करना – यह अट्ठाईस मूलगुण हैं तथा छियालीस दोष टालकर आहार करना, वह एषणा समिति में आ गया।

ईर्यापथ – देखकर चलना वह ईर्या समिति में आ गया तथा दया का उपकरण मोरपुच्छ की पीछी और शौच का उपकरण कमण्डल धारण करना – ऐसा बाह्य भेष है तथा अन्तरंग में जीवादिक षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थों को यथोक्त जानकर श्रद्धान करना और भेदविज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूप का चिंतवन करना, अनुभव करना ऐसा दर्शन अर्थात् मत वह मूलसंघ का है। ऐसा जिनदर्शन है, वह मोक्षमार्ग का मूल है; इस मूल से मोक्षमार्ग की सर्व प्रवृत्ति सफल होती है तथा जो इससे भ्रष्ट हुए हैं, वे इस पंचमकाल के दोष से जैनाभास हुए हैं, वे श्वेताम्बर, द्राविड़, यापनीय, गोपुच्छ-पिच्छ, निःपिच्छ – पाँच संघ हुए हैं; उन्होंने सूत्र सिद्धान्त अपभ्रंश किये हैं। जिन्होंने बाह्य वेष को बदलकर आचरण को बिगाड़ा है, वे जिनमत के मूलसंघ से भ्रष्ट हैं, उनको मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं है। मोक्षमार्ग की प्राप्ति मूलसंघ के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही से है – ऐसा नियम जानना ॥११॥

आगे कहते हैं कि जो यथार्थ दर्शन से भ्रष्ट हैं और दर्शन के धारकों से अपनी विनय कराना चाहते हैं, वे दुर्गति प्राप्त करते हैं –

**जे० दंसणेसु भट्टा पाए पाडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥१२॥**

१. मुद्रित संस्कृत सटीक प्रति में इस गाथा का पूर्वार्द्ध इसप्रकार है जिसका यह अर्थ है कि “जो दर्शन-भ्रष्ट पुरुष दर्शनधारियों के चरणों में नहीं गिरते हैं” –

“जे दंसणेसु भट्टा पाए न पडंति दंसणधराणं”-

उत्तरार्ध समान है।

**चाहें नमन दृगवन्त से पर स्वयं दर्शनहीन हों ।
है बोधिदुर्लभ उन्हें भी वे भी वचन-पग हीन हों ॥१२॥**

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः पादयोः पातयन्ति दर्शनधरान् ।
ते भवन्ति लल्लमूकाः बोधिः पुनः दुर्लभा तेषाम् ॥१२॥

अर्थ – जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट हैं तथा अन्य जो दर्शन के धारक हैं, उन्हें अपने पैरों पड़ाते हैं, नमस्कारादि कराते हैं, वे परभव में लूले, मूक होते हैं और उनके बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है ।

भावार्थ – जो दर्शन भ्रष्ट हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और दर्शन के धारक हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं; जो मिथ्या-दृष्टि होकर सम्यग्दृष्टियों से नमस्कार चाहते हैं वे तीव्र मिथ्यात्व के उदय सहित हैं, वे परभव में लूले, मूक होते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय होते हैं, उनके पैर नहीं होते, वे परमार्थतः लूले-मूक हैं, इस-प्रकार एकेन्द्रिय-स्थावर होकर निगोद में वास करते हैं, वहाँ अनन्तकाल रहते हैं; उनके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है; मिथ्यात्व का फल निगोद ही कहा है । इस पंचम काल में मिथ्यामत के आचार्य बनकर लोगों से विनयादिक पूजा चाहते हैं, उनके लिए मालूम होता है कि त्रसराशि का काल पूरा हुआ, अब एकेन्द्रिय होकर निगोद में वास करेंगे – इसप्रकार जाना जाता है ।

आगे कहते हैं कि जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, उनके लज्जादिक से भी पैरों पड़ते हैं, वे भी उन्हीं जैसे ही हैं –

जे वि पडन्ति य तेसिं जाणन्ता लज्जागारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणानं ॥१३॥
येऽपि पतन्ति च तेषां जानन्तः लज्जागारवभयेन ।
तेषामपि नास्ति बोधिः पापं अनुमन्यमानानाम् ॥१३॥

अर्थ – जो पुरुष दर्शन सहित हैं वे भी जो दर्शन भ्रष्ट हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी उनके पैरों पड़ते हैं, उनकी लज्जा, भय, गारव से विनयादि करते हैं, उनके भी बोधि अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि वे भी मिथ्यात्व जो कि पाप है उसका अनुमोदन करते हैं । करना, कराना, अनुमोदन करना समान कहे हैं ।

यहाँ लज्जा तो इसप्रकार है कि हम किसी की विनय नहीं करेंगे तो लोग कहेंगे यह उद्धत है, मानी है, इसलिए हमें तो सर्व का साधन करना है । इसप्रकार लज्जा से दर्शनभ्रष्ट के भी विनयादिक करते हैं तथा भय इसप्रकार है कि यह राज्यमान्य है और मंत्र, विद्यादिक की सामर्थ्ययुक्त है,

जो लाज गारव और भयवश पूजते दृग्भ्रष्ट को ।
की पाप की अनुमोदना ना बोधि उनको प्राप्त हो ॥१३॥

इसकी विनय नहीं करेंगे तो कुछ हमारे ऊपर उपद्रव करेगा; इसप्रकार भय से विनय करते हैं तथा गारव तीन प्रकार कहा है; रसगारव, ऋद्धिगारव, सातगारव। वहाँ रसगारव तो ऐसा है कि मिष्ट, इष्ट, पुष्ट भोजनादि मिलता रहे, तब उससे प्रमादी रहता है तथा ऋद्धिगारव ऐसा है कि कुछ तप के प्रभाव आदि से ऋद्धि की प्राप्ति हो उसका गौरव आ जाता है, उससे उद्धत, प्रमादी रहता है तथा सातगारव ऐसा है कि शरीर निरोग हो, कुछ क्लेश का कारण न आये तब सुखीपना आ जाता है, उससे मग्न रहते हैं - इत्यादिक गारवभाव की मस्ती से भले-बुरे का कुछ विचार नहीं करता, तब दर्शनभ्रष्ट की भी विनय करने लग जाता है। इत्यादि निमित्त से दर्शन-भ्रष्ट की विनय करे तो उसमें मिथ्यात्व का अनुमोदन आता है; उसे भला जाने तो आप भी उसी समान हुआ, तब उसके बोधि कैसे कही जाये ? ऐसा जानना ॥१३॥

दुर्विह पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि ।

पाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि ॥१४॥

द्विविधः अपि ग्रन्थत्यागः त्रिषु अपि योगेषु संयमः तिष्ठति ।

ज्ञाने करणशुद्धे उद्भोजने दर्शनं भवति ॥१४॥

अर्थ - जहाँ बाह्याभ्यंतर भेद से दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग हो और मन-वचन-काय ऐसे तीनों योगों में संयम हो तथा कृत-कारित-अनुमोदना ऐसे तीन करण जिसमें शुद्ध हों वह ज्ञान हो तथा निर्दोष जिसमें कृत, कारित, अनुमोदना अपने को न लगे, ऐसे खड़े रहकर पाणिपात्र में आहार करे, इसप्रकार मूर्तिमन्त दर्शन होता है।

भावार्थ - यहाँ दर्शन अर्थात् मत है; वहाँ बाह्य वेष शुद्ध दिखाई दे वह दर्शन; वही उसके अंतरंगभाव को बतलाता है। वहाँ बाह्य परिग्रह अर्थात् धन-धान्यादिक और अंतरंग परिग्रह मिथ्यात्व-कषायादिक, वे जहाँ नहीं हों, यथाजात दिगम्बर मूर्ति हो तथा इन्द्रिय-मन को वश में करना, त्रस-स्थावर जीवों की दया करना, ऐसे संयम का मन-वचन-काय द्वारा शुद्ध पालन हो और ज्ञान में विकार करना, कराना, अनुमोदन करना - ऐसे तीन कारणों से विकार न हो और निर्दोष पाणिपात्र में खड़े रहकर आहार लेना - इसप्रकार दर्शन की मूर्ति है, वह जिनदेव का मत है, वही वंदन-पूजनयोग्य है, अन्य पाखंड वेष वंदना-पूजा योग्य नहीं है ॥१४॥

त्रैयोग से हों संयमी निर्ग्रन्थ अन्तर-बाह्य से।

त्रिकरण शुध अर पाणिपात्री मुनीन्द्रजन दर्शन कहें ॥१४॥

सम्यक्त्व से हो ज्ञान सम्यक् ज्ञान से सब जानना।

सब जानने से ज्ञान होता श्रेय अर अश्रेय का ॥१५॥

आगे कहते हैं कि इस सम्यग्दर्शन से ही कल्याण-अकल्याण का निश्चय होता है -

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलब्धी ।
उवलब्धुपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥१५॥
सम्यक्त्वात् ज्ञानं ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः ।
उपलब्धपदार्थे पुनः श्रेयोऽश्रेयो विजानाति ॥१५॥

अर्थ - सम्यक्त्व से तो ज्ञान सम्यक् होता है तथा सम्यक्ज्ञान से सर्व पदार्थों की उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति अर्थात् जानना होता है तथा पदार्थों की उपलब्धि होने से श्रेय अर्थात् कल्याण और अश्रेय अर्थात् अकल्याण इन दोनों को जाना जाता है ।

भावार्थ - सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा है, इसलिए सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों का स्वरूप यथार्थ जाना जाता है तथा जब पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जाना जाये तब भला-बुरा मार्ग जाना जाता है । इसप्रकार मार्ग के जानने में भी सम्यग्दर्शन ही प्रधान है ॥१५॥

आगे, कल्याण-अकल्याण को जानने से क्या होता है, सो कहते हैं -

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि ।
सीलफलेणभ्युदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥१६॥
श्रेयोऽश्रेयवेत्ता उद्धृतदुःशीलः शीलवानपि ।
शीलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निर्वाणम् ॥१६॥

अर्थ - कल्याण और अकल्याणमार्ग को जाननेवाला पुरुष “उद्धृतदुःशीलः” अर्थात् जिसने मिथ्यात्वभाव को उड़ा दिया है - ऐसा होता है तथा “शीलवानपि” अर्थात् सम्यक्स्वभावयुक्त भी होता है तथा उस सम्यक्स्वभाव के फल से अभ्युदय को प्राप्त होता है, तीर्थकरादि पद प्राप्त करता है तथा अभ्युदय होने के पश्चात् निर्वाण को प्राप्त होता है ।

भावार्थ - भले-बुरे मार्ग को जानता है, तब अनादि संसार से लगाकर, जो मिथ्याभावरूप

श्रेयाश्रेय के परिज्ञान से दुःशील का परित्याग हो ।
अर शील से हो अभ्युदय अर अन्त में निर्वाण हो ॥१६॥

प्रकृति है, वह पलटकर सम्यक्स्वभावस्वरूप प्रकृति होती है; उस प्रकृति से विशिष्ट पुण्यबंध करे तब अभ्युदयरूप तीर्थकरादि की पदवी प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त होता है ॥१६॥

आगे कहते हैं कि ऐसा सम्यक्त्व जिनवचन से प्राप्त होता है, इसलिए वे ही सर्व दुःखों को हरनेवाले हैं -

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।

जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥१७॥

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम् ।

जरामरणव्याधिहरणं क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥१७॥

अर्थ - यह जिनवचन हैं सो औषधि हैं। कैसी औषधि हैं ? कि इन्द्रिय विषयों में जो सुख माना है उसका विरेचन अर्थात् दूर करनेवाले हैं। पुनश्च कैसे हैं अमृतभूत अर्थात् अमृत समान हैं और इसीलिए जरामरणरूप रोग को हरनेवाले हैं तथा सर्व दुःखों का क्षय करनेवाले हैं।

भावार्थ - इस संसार में प्राणी विषयसुखों को सेवन करते हैं, जिनसे कर्म बँधते हैं और उससे जन्म-जरा-मरणरूप रोगों से पीड़ित होते हैं; वहाँ जिनवचनरूप औषधि ऐसी है जो विषयसुखों से अरुचि उत्पन्न करके उसका विरेचन करती है। जैसे गरिष्ठ आहार से जब मल बढ़ता है, तब ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं और तब उसके विरेचन को हरड़ आदि औषधि उपकारी होती है, उसीप्रकार उपकारी है। उन विषयों से वैराग्य होने पर कर्मबन्धन नहीं होता और तब जन्म-जरा-मरण रोग नहीं होते तथा संसार के दुःखों का अभाव होता है। इसप्रकार जिनवचनों को अमृत समान मानकर अंगीकार करना ॥१७॥

आगे, जिनवचन में दर्शन का लिंग अर्थात् भेष कितने प्रकार का कहा है, सो कहते हैं -

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्टसावयाणं तु ।

अवरट्टियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥१८॥

एकं जिनस्य रूपं द्वितीयं उत्कृष्टश्रावकाणां तु ।

जिनवचन अमृत औषधी जरमरणव्याधि के हरण ।

अर विषयसुख के विरेचक हैं सर्वदुःख के क्षयकरण ॥१७॥

एक जिनवर लिंग है उत्कृष्ट श्रावक दूसरा ।

अर कोई चौथा है नहीं, पर आर्यिका का तीसरा ॥१८॥

अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिंगदर्शनं

न ा ि स त । । १ ८ । ।

अर्थ – दर्शन में एक तो जिनका स्वरूप है; वहाँ जैसा लिंग जिनदेव ने धारण किया वही लिंग है तथा दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का लिंग है और तीसरा 'अवरस्थित' अर्थात् जघन्यपद में स्थित ऐसी आर्यिकाओं का लिंग है तथा चौथा लिंग दर्शन में है नहीं।

भावार्थ – जिनमत में तीनों लिंग अर्थात् भेष कहते हैं। एक तो वह है जो यथाजातरूप जिनदेव ने धारण किया तथा दूसरा ग्यारहवीं प्रतिमा के धारी उत्कृष्ट श्रावक का है और तीसरा स्त्री आर्यिका का है। इसके सिवा चौथा अन्य प्रकार का भेष जिनमत में नहीं है। जो मानते हैं वे मूल-संघ से बाहर हैं ॥१८॥

आगे कहते हैं कि ऐसा बाह्यलिंग हो उसके अन्तरंग श्रद्धान भी ऐसा होता है और वह सम्यग्दृष्टि है -

छह द्रव्य णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्धिदा ।

सद्वहइ ताण रूवं सो सद्विद्धी मुणेयव्वो ॥१९॥

षट्द्रव्याणि नव पदार्थाः पंचास्तिकायाः सप्ततत्त्वानि निर्दिष्टानि ।

श्रद्धधाति तेषां रूपं सः सदृष्टिः ज्ञातव्यः ॥१९॥

अर्थ – छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व - यह जिनवचन में कहे हैं, उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करे उसे सम्यग्दृष्टि जानना।

भावार्थ – (जाति अपेक्षा छह द्रव्यों के नाम) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - यह तो छह द्रव्य हैं तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य, पाप - यह नव तत्त्व अर्थात् नव पदार्थ हैं; छह द्रव्य काल बिना पंचास्तिकाय हैं। पुण्य-पाप बिना नव पदार्थ सप्त तत्त्व हैं। इनका संक्षेप स्वरूप इसप्रकार है - जीव तो चेतनास्वरूप है और चेतना दर्शनज्ञानमयी है; पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गुणसहित मूर्तिक है, उसके परमाणु और स्कंध दो भेद हैं; स्कंध के भेद शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत इत्यादि अनेक प्रकार हैं; धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य - ये एक-एक हैं, अमूर्तिक हैं, निष्क्रिय हैं, कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं। काल को छोड़कर पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, इसलिए

छह द्रव्य नव तत्त्वार्थ जिनवर देव ने जैसे कहे।

है वही सम्यग्दृष्टि जो उस रूप में ही श्रद्धहै ॥१९॥

अस्तिकाय पाँच हैं। कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है; इत्यादिक उनका स्वरूप तत्त्वार्थ सूत्र की टीका से जानना।

जीव पदार्थ एक है और अजीव पदार्थ पाँच हैं, जीव के कर्मबन्ध योग्य पुद्गलों को आना आस्रव है, कर्मों का बँधना बन्ध है, आस्रव का रुकना संवर है, कर्मबन्ध का झड़ना निर्जरा है, सम्पूर्ण कर्मों का नाश होना मोक्ष है, जीवों को सुख का निमित्त पुण्य है और दुःख का निमित्त पाप है; ऐसे सप्त तत्त्व और नव पदार्थ हैं। इनका आगम के अनुसार स्वरूप जानकर श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥१९॥

अब व्यवहार निश्चय के भेद से सम्यक्त्व को दो प्रकार का कहते हैं -

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।

ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।

व्यवहारात् निश्चयतः आत्मैव भवति सम्यक्त्वम् ॥२०॥

अर्थ - जिन भगवान ने जीव आदि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और अपने आत्मा के ही श्रद्धान को निश्चय सम्यक्त्व कहा है।

भावार्थ - तत्त्वार्थ का श्रद्धान व्यवहार से सम्यक्त्व है और अपने आत्मस्वरूप के अनुभव द्वारा उसकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, आचरण सो निश्चय से सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है, आत्मा ही का परिणाम है सो आत्मा ही है। ऐसे सम्यक्त्व और आत्मा एक ही वस्तु है, यह निश्चय का आशय जानना ॥२०॥

अब कहते हैं कि यह सम्यग्दर्शन ही सब गुणों में सार है, उसे धारण करो -

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।

सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥२१॥

एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरत भावेन।

सारं गुणरत्नत्रये सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥२१॥

जीवादि का श्रद्धान ही व्यवहार से सम्यक्त्व है।

पर नियतनय से आत्म का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ॥२०॥

जिनवरकथित सम्यक्त्व यह गुण रतनत्रय में सार है।

सद्भाव से धारण करो यह मोक्ष का सोपान है ॥२१॥

अर्थ – ऐसे पूर्वोक्त प्रकार जिनेश्वर देव का कहा हुआ दर्शन है सो गुणों में और दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन रत्नों में सार है-उत्तम है और मोक्षमन्दिर में चढ़ने के लिए पहली सीढ़ी है, इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवो ! तुम इसको अंतरंग भाव से धारण करो, बाह्य क्रियादिक से धारण करना तो परमार्थ नहीं है, अंतरंग की रुचि से धारण करना मोक्ष का कारण है ॥२१॥

अब कहते हैं कि जो श्रद्धान करता है, उसी के सम्यक्त्व होता है -

***जं सक्कड़ तं कीरड़ जं च ण सक्केड़ तं च सद्वहणं ।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्वमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥
यत् शक्नोति तत् क्रियते यत् च न शक्नुयात् तस्य च श्रद्धानम् ।
केवलिजिनैः भणितं श्रद्धानस्य सम्यक्त्वम् ॥२२॥**

अर्थ – जो करने को समर्थ हो वह तो करे और जो करने को समर्थ नहीं हो उसका श्रद्धान करे, क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहा है ॥२२॥

भावार्थ – यहाँ आशय ऐसा है कि यदि कोई कहे कि सम्यक्त्व होने के बाद में तो सब परद्रव्य-संसार को हेय जानते हैं। जिसको हेय जाने उसको छोड़ मुनि बनकर चारित्र का पालन करे तब सम्यक्त्वी माना जावे, इसके समाधानरूप यह गाथा है, जिसने सब परद्रव्य को हेय जानकर निजस्वरूप को उपादेय जाना, श्रद्धान किया तब मिथ्याभाव तो दूर हुआ, परन्तु जबतक (चारित्र में प्रबल दोष है तबतक) चारित्र-मोहकर्म का उदय प्रबल होता है (और) तबतक चारित्र अंगीकार करने की सामर्थ्य नहीं होती।

जितनी सामर्थ्य है उतना तो करे और शेष का श्रद्धान करे, इसप्रकार श्रद्धान करने को ही भगवान ने सम्यक्त्व कहा है ॥२२॥

अब कहते हैं कि जो ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हैं, वे वंदन करने योग्य हैं -

दंसणणाणचरित्ते तवविणये ँणिच्चकालसुपसत्था ।

* नियमसार गाथा १५४

१. पाठान्तर - णिच्चकालसुपसत्ता

जो शक्य हो वह करें और अशक्य की श्रद्धा करें ।
श्रद्धान ही सम्यक्त्व है इस भाँति सब जिनवर कहें ॥२२॥
ज्ञान दर्शन चरण में जो नित्य ही संलग्न हैं ।
गणधर करें गुण कथन जिनके वे मुनीजन वंद्य हैं ॥२३॥

एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥२३॥

दर्शनज्ञानचारित्रे तपोविनये नित्यकालमुप्रस्वस्थाः ।

ऐते तु वन्दनीया ये गुणवादिनः गुणधराणाम् ॥२३॥

अर्थ – दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तप तथा विनय इनमें जो भले प्रकार स्थित हैं, वे प्रशस्त हैं, सराहने योग्य हैं अथवा भले प्रकार स्वस्थ हैं लीन हैं और गणधर आचार्य भी उनके गुणानुवाद करते हैं, अतः वे वन्दने योग्य हैं। दूसरे जो दर्शनादिक से भ्रष्ट हैं और गुणवानों से मत्सरभाव रखकर विनयरूप नहीं प्रवर्तते हैं वे वन्दने योग्य नहीं हैं ॥२३॥

अब कहते हैं कि जो यथाजातरूप को देखकर मत्सरभाव से वन्दना नहीं करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं –

सहजुप्पणं रूवं दट्ठं जो मण्णए ण मच्छरिओ ।

सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥२४॥

सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यः मन्यते न मत्सरी ।

सः संयमप्रतिपन्नः मिथ्यादृष्टिः भवति एषः ॥२४॥

अर्थ – जो सहजोत्पन्न यथाजातरूप को देखकर नहीं मानते हैं, उसका विनय सत्कार प्रीति नहीं करते हैं और मत्सर भाव करते हैं, वे संयमप्रतिपन्न हैं, दीक्षा ग्रहण की है, फिर भी प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि हैं ॥२४॥

भावार्थ – जो यथाजातरूप को देखकर मत्सरभाव से उसका विनय नहीं करते हैं तो ज्ञात होता है कि इनके इस रूप की श्रद्धा-रुचि नहीं है, ऐसी श्रद्धा-रुचि बिना तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। यहाँ आशय ऐसा है कि जो श्वेताम्बरादिक हुए वे दिगम्बर रूप के प्रति मत्सरभाव रखते हैं और उसका विनय नहीं करते हैं, उनका निषेध है ॥२४॥

आगे इसी को दृढ़ करते हैं –

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं ।

सहज जिनवर लिंग लख ना नमें मत्सर भाव से ।

बस प्रगट मिथ्यादृष्टि हैं संयम विरोधी जीव वे ॥२४॥

अमर वंदित शील मण्डित रूप को भी देखकर ।

ना नमें गारब करें जो सम्यक्त्व विरहित जीव वे ॥२५॥

जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥२५॥

अमरैः वंदितानां रूपं दृष्ट्वा शीलसहितानाम् ।

ये गौरवं कुर्वन्ति च सम्यक्त्वविवर्जिताः भवंति ॥२५॥

अर्थ – देवों से वंदने योग्य शीलसहित जिनेश्वरदेव के यथाजातरूप को देखकर जो गौरव करते हैं, विनयादिक नहीं करते हैं, वे सम्यक्त्व से रहित हैं ।

भावार्थ – जिस यथाजातरूप को देखकर अणिमादिक ऋद्धियों के धारक देव भी चरणों में गिरते हैं, उसको देखकर मत्सरभाव से नमस्कार नहीं करते हैं, उनके सम्यक्त्व कैसा ? वे सम्यक्त्व से रहित ही हैं ॥२५॥

अब कहते हैं कि असंयमी वंदने योग्य नहीं है –

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज ।

दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥

असंयतं न वन्देत वस्त्रविहीनोऽपि स न वन्देत् ।

द्वौ अपि भवतः समानौ एकः अपि न संयतः भवति ॥२६॥

अर्थ – असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए । भावसंयम नहीं हो और बाह्य में वस्त्र रहित हो वह भी वंदने योग्य नहीं है, क्योंकि ये दोनों ही संयम रहित समान हैं, इनमें एक भी संयमी नहीं है ।

भावार्थ – जिसने गृहस्थ का भेष धारण किया है, वह तो असंयमी है ही, परन्तु जिसने बाह्य में नग्नरूप धारण किया है और अंतरंग में भावसंयम नहीं है तो वह भी असंयमी ही है, इसलिए यह दोनों ही असंयमी हैं, अतः दोनों ही वंदने योग्य नहीं हैं अर्थात् ऐसा आशय नहीं जानना चाहिए कि जो आचार्य यथाजातरूप को दर्शन कहते आये हैं, वह केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा, क्योंकि आचार्य तो बाह्य-अभ्यंतर सब परिग्रह से रहित हो उसको यथाजातरूप कहते हैं । अभ्यंतर भावसंयम बिना बाह्य नग्न होने से तो कुछ संयमी होता नहीं है – ऐसा जानना ।

यहाँ कोई पूछे – बाह्य भेष शुद्ध हो, आचार निर्दोष पालन करनेवाले के अभ्यंतर भाव में कपट हो उसका निश्चय कैसे हो तथा सूक्ष्मभाव केवलीगम्य हैं, मिथ्याभाव हो उसका निश्चय कैसे हो, निश्चय बिना वंदने की क्या रीति ?

उसका समाधान – ऐसे कपट का जबतक निश्चय नहीं हो तबतक आचार शुद्ध देखकर

असंयमी ना वन्द्य है दृगहीन वस्त्रविहीन भी ।

दोनों ही एक समान हैं दोनों ही संयत हैं नहीं ॥२६॥

वंदना करे उसमे दोष नहीं है और कपट का किसी कारण से निश्चय हो जाय तब वंदना नहीं करे, केवलीगम्य मिथ्यात्व की व्यवहार में चर्चा नहीं है, छद्मस्थ के ज्ञानगम्य की चर्चा है। जो अपने ज्ञान का विषय ही नहीं, उसका बाधनिर्बाध करने का व्यवहार नहीं है, सर्वज्ञ भगवान की भी यही आज्ञा है। व्यवहारी जीव को व्यवहार का ही शरण है ॥२६॥

(नोट - एक गुण का दूसरे आनुषंगिक गुण द्वारा निश्चय करना व्यवहार है, उसी का नाम व्यवहारी जीव को व्यवहार का शरण है।)

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं -

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुतो ।

को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥२७॥

नापि देहो वंद्यते नापि च कुलं नापि च जातिसंयुक्तः ।

कः^१ वंद्यते गुणहीनः न खलु श्रमणः नैव श्रावकः भवति ॥२७॥

अर्थ - देह को भी नहीं वंदते हैं और कुल को भी नहीं वंदते हैं तथा जातियुक्त को भी नहीं वंदते हैं, क्योंकि गुणरहित हो उसको कौन वंदे ? गुण बिना प्रकट मुनि नहीं, श्रावक भी नहीं है।

भावार्थ - लोक में भी ऐसा न्याय है जो गुणहीन हो उसको कोई श्रेष्ठ नहीं मानता है, देह रूपवान हो तो क्या, कुल बड़ा हो तो क्या, जाति बड़ी हो तो क्या, क्योंकि मोक्षमार्ग में तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण हैं, इनके बिना जाति-कुल-रूप आदि वंदनीय नहीं हैं, इनसे मुनि-श्रावकपणा नहीं आता है, मुनि-श्रावकपणा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से होता है, इसलिए इनके धारक हैं वही वंदने योग्य हैं, जाति, कुल आदि वंदने योग्य नहीं हैं ॥२७॥

अब कहते हैं कि जो तप आदि से संयुक्त हैं, उनको नमस्कार करता हूँ -

वंदमि तवसावण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च ।

सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण^३ सुद्धभावेण ॥२८॥

१. 'कं वन्देगुणहीनं' षट्पाहुड में पाठ है। २. 'तव समण्णा' छाया - (तपः समापन्नात्) 'तवसउण्णा' तवसमाणं' ये तीन पाठ मुद्रित षट्प्राभृत की पुस्तक तथा उसकी टिप्पणी में है। ३. 'सम्मत्तेणेव' ऐसा पाठ होने से पाद भङ्ग नहीं होता।

ना वंदना हो देह की कुल की नहीं ना जाति की ।

कोई करे क्यों वंदना गुणहीन श्रावक-साधु की ॥२७॥

गुण शील तप सम्यक्त्व मंडित ब्रह्मचारी श्रमण जो ।

शिवगमन तत्पर उन श्रमण को शुद्धमन से नमन हो ॥२८॥

वन्दे तपः श्रमणान् शीलं च गुणं च ब्रह्मचर्यं च ।

सिद्धिगमनं च तेषां सम्यक्त्वेन शुद्धभावेन ॥२८॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि जो तप सहित श्रमणपना धारण करते हैं, उनको तथा उनके शील को, उनके गुण को व ब्रह्मचर्य को मैं सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से नमस्कार करता हूँ, क्योंकि उनके उन गुणों से-सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से सिद्धि अर्थात् मोक्ष के प्रति गमन होता है ।

भावार्थ – पहले कहा कि देहादिक वंदने योग्य नहीं हैं, गुण वंदने योग्य हैं । अब यहाँ गुण सहित की वंदना की है । वहाँ जो तप धारण करके गृहस्थपना छोड़कर मुनि हो गये हैं, उनको तथा उनके शीलगुणब्रह्मचर्य सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से संयुक्त हो उनकी वंदना की है । यहाँ शील शब्द से उत्तरगुण और गुण शब्द से मूलगुण तथा ब्रह्मचर्य शब्द से आत्मस्वरूप में मग्नता समझना चाहिए ॥२८॥

आगे कोई आशंका करता है कि संयमी को वंदने योग्य कहा तो समवसरणादि विभूति सहित तीर्थंकर हैं, वे वंदने योग्य हैं या नहीं ? उसका समाधान करने के लिए गाथा कहते हैं कि जो तीर्थंकर परमदेव हैं, वे सम्यक्त्वसहित तप के माहात्म्य से तीर्थंकर पदवी पाते हैं, वे भी वंदने योग्य हैं –

चउसट्टि चमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो ।

अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्तो ॥२९॥

चतुःषष्टिचमरसहितः चतुस्त्रिंशद्भिरतिशयैः संयुक्तः ।

१अनवरतबहुसत्त्वहितः कर्मक्षयकारणनिमित्तः २ ॥२९॥

अर्थ – जो चौसठ चंवरों से सहित हैं, चौतीस अतिशय सहित हैं, निरन्तर बहुत प्राणियों का हित जिनसे होता है ऐसे उपदेश के दाता हैं और कर्म के क्षय का कारण हैं ऐसे तीर्थंकर परमदेव हैं, वे वंदने योग्य हैं ।

भावार्थ – यहाँ चौसठ चँवर चौतीस अतिशय सहित विशेषणों से तो तीर्थंकर का प्रभुत्व बताया है और प्राणियों का हित करना तथा कर्मक्षय का कारण विशेषण से दूसरे का उपकार

१. 'अणुचरबहुसत्तहिओ' (अनुचरबहुसत्त्वसहितः) मुद्रित षट्प्राभृत में यह पाठ है ।

२. 'निमित्ते' मुद्रित षट्प्राभृत में ऐसा पाठ है ।

चौसठ चमर चौतीस अतिशय सहित जो अरहंत हैं ।

वे कर्मक्षय के हेतु सबके हितैषी भगवन्त हैं ॥२९॥

करनेवालापना बताया है, इन दोनों ही कारणों से जगत में वंदने, पूजने योग्य हैं। इसलिए इसप्रकार भ्रम नहीं करना कि तीर्थकर कैसे पूज्य हैं, यह तीर्थकर सर्वज्ञ वीतराग हैं। उनके समवसरणादिक विभूति रचकर इन्द्रादिक भक्तजन महिमा करते हैं। इनके कुछ प्रयोजन नहीं है, स्वयं दिगम्बरत्व को धारण करते हुए अंतरीक्ष तिष्ठते हैं - ऐसा जानना ॥२९॥

आगे मोक्ष किससे होता है सो कहते हैं -

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥
ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन ।
चतुर्णामपि समायोगे मोक्षः जिनशासने दृष्टः ॥३०॥

अर्थ - ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र से इन चारों का समायोग होने पर जो संयमगुण हो उससे जिन शासन में मोक्ष होना कहा है ॥३०॥

आगे इन ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपणा कहते हैं -

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥३१॥
ज्ञानं नरस्य सारः सारः अपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम् ।
सम्यक्त्वात् चरणं चरणात् भवति निर्वाणम् ॥३१॥

अर्थ - पहिले तो इस पुरुष के लिए ज्ञान सार है, क्योंकि ज्ञान से सब हेय-उपादेय जाने जाते हैं, फिर उस पुरुष के लिए सम्यक्त्व निश्चय से सार है, क्योंकि सम्यक्त्व बिना ज्ञान मिथ्या नाम पाता है, सम्यक्त्व से चारित्र होता है, क्योंकि सम्यक्त्व बिना चारित्र भी मिथ्या है, चारित्र से निर्वाण होता है।

भावार्थ - चारित्र से निर्वाण होता है और चारित्र ज्ञानपूर्वक सत्यार्थ होता है तथा ज्ञान

१. पाठान्तरः - चोण्हं

ज्ञान-दर्शन-चरण तप इन चार के संयोग से।
हो संयमित जीवन तभी हो मुक्ति जिनशासन विषे ॥३०॥
ज्ञान ही है सार नर का और समकित सार है।
सम्यक्त्व से हो चरण अर चारित्र से निर्वाण है ॥३१॥

सम्यक्त्वपूर्वक सत्यार्थ होता है, इसप्रकार विचार करने से सम्यक्त्व के सारपना आया। इसलिए पहिले तो सम्यक्त्व सार है; पीछे ज्ञान चारित्र सार है। पहिले ज्ञान से पदार्थों को जानते हैं अतः पहिले ज्ञान सार है तो भी सम्यक्त्व बिना उसका भी सारपना नहीं है, ऐसा जानना ॥३१॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिणण सम्मसहिण्ण ।

१चउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो ॥३२॥

ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन ।

चतुर्णामपि समायोगे सिद्धा जीवा न सन्देहः ॥३२॥

अर्थ - ज्ञान और दर्शन के होने पर सम्यक्त्व सहित तप करके चारित्रपूर्वक इन चारों का समायोग होने से जीव सिद्ध हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

भावार्थ - पहिले जो सिद्ध हुए हैं, वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों के संयोग से ही हुए हैं, यह जिनवचन है, इसमें सन्देह नहीं है ॥३२॥

आगे कहते हैं कि लोक में सम्यग्दर्शनरूप रत्न अमोलक है और वह देव-दानवों से पूज्य है

-

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।

सम्मदंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥३३॥

कल्याणपरंपरया लभंते जीवाः विशुद्धसम्यक्त्वम् ।

सम्यग्दर्शनरत्नं अर्घ्यते सुरासुरे लोके ॥३३॥

अर्थ - जीव विशुद्ध सम्यक्त्व को कल्याण की परम्परा सहित पाते हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन रत्न है वह इस सुर-असुरों से भरे हुए लोक में पूज्य है।

भावार्थ - विशुद्ध अर्थात् पच्चीस मलदोषों से रहित निरतिचार सम्यक्त्व से कल्याण की परम्परा अर्थात् तीर्थकर पद पाते हैं, इसलिए यह सम्यक्त्व रत्न लोक में सब देव, दानवों और

१. 'ददूण' पाठान्तर। २. 'अक्खयसोक्खं लहदि मोक्खं च' पाठान्तर।

सम्यक्पने परिणमित दर्शन ज्ञान तप अर आचरण ।

इन चार के संयोग से हो सिद्ध पद सन्देह ना ॥३२॥

समकित रतन है पूज्यतम सब ही सुरासुर लोक में ।

क्योंकि समकित शुद्ध से कल्याण होता जीव का ॥३३॥

मनुष्यों से पूज्य होता है। तीर्थकर प्रकृति के बंध के कारण सोलहकारण भावना कही हैं, उनमें पहली दर्शनविशुद्धि है, वही प्रधान है, यही विनयादिक पंद्रह भावनाओं का कारण है, इसलिए सम्यग्दर्शन के ही प्रधानपना है ॥३३॥

अब कहते हैं कि जो उत्तम गोत्र सहित मनुष्यत्व को पाकर सम्यक्त्व की प्राप्ति से मोक्ष पाते हैं, यह सम्यक्त्व का माहात्म्य है -

लद्धूणं य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण ।

लद्धूणं य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं च मोक्खं च ॥३४॥

लब्ध्वा च मनुजत्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण ।

लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षयसुखं च मोक्षं च ॥३४॥

अर्थ - उत्तमगोत्र सहित मनुष्यपना प्रत्यक्ष प्राप्त करके और वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करके अविनाशी सुखरूप केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तथा उस सुखसहित मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ - यह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य है ॥३४॥

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो सम्यक्त्व के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करते हैं, वे तत्काल ही प्राप्त करते हैं या कुछ अवस्थान भी रहते हैं ? उसके समाधानरूप गाथा कहते हैं -

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्टसुलक्खणेहिं संजुत्तो ।

चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥३५॥

विहरति यावत् जिनेन्द्रः सहस्राष्टलक्षणैः संयुक्तः ।

चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता ॥३५॥

अर्थ - केवलज्ञान होने के बाद जिनेन्द्र भगवान जबतक इस लोक में आर्यखंड में विहार करते हैं, तबतक उनकी वह प्रतिमा अर्थात् शरीर सहित प्रतिबिम्ब उसको 'थावर प्रतिमा' इस नाम से कहते हैं। वे जिनेन्द्र कैसे हैं ? एक हजार आठ लक्षणों से संयुक्त हैं। वहाँ श्रीवृक्ष को आदि लेकर एक सौ आठ तो लक्षण होते हैं। तिल मुस को आदि लेकर नौ सौ व्यंजन होते हैं।

चौतीस अतिशयों में दस तो जन्म से ही लिये हुए उत्पन्न होते हैं - १. निस्वेदता, २. निर्मलता,

प्राप्तकर नरदेह उत्तम कुल सहित यह आतमा ।

सम्यक्त्व लह मुक्ति लहे अर अखय आनन्द परिणमे ॥३४॥

हजार अठ लक्षण सहित चौतीस अतिशय युक्त जिन ।

विहरें जगत में लोकहित प्रतिमा उसे थावर कहें ॥३५॥

३. श्वेतरुधिरता, ४. समचतुरस्रसंस्थान, ५. वज्रवृषभनाराचसंहनन, ६. सुरूपता, ७. सुगंधता, ८. सुलक्षणता, ९. अतुलवीर्य, १०. हितमितवचन - ऐसे दस होते हैं। घातिया कर्मों के क्षय होने पर दस होते हैं - १. शतयोजन सुभिक्षता, २. आकाशगमन, ३. प्राणिवध का अभाव, ४. कवलाहार का अभाव, ५. उपसर्ग का अभाव, ६. चतुर्मुखपना, ७. सर्वविद्याप्रभुत्व, ८. छायारहितत्व, ९. लोचन स्पंदनरहितत्व, १०. केश नखवृद्धिरहितत्व - ऐसे दस होते हैं। देवों द्वारा किये हुए चौदह होते हैं - १. सकलार्द्धमागधी भाषा, २. सर्वजीव मैत्रीभाव, ३. सर्वऋतु-फलपुष्पप्रादुर्भाव, ४. दर्पण के समान पृथ्वी का होना, ५. मंद सुगंध पवन का चलना, ६. सारे संसार में आनन्द का होना, ७. भूमिकंटकादिरहित होना, ८. देवों द्वारा गंधोदक की वर्षा होना, ९. विहार के समय चरणकमल के नीचे देवों द्वारा सुवर्णमयी कमलों की रचना होना, १०. भूमि धान्यनिष्पत्ति सहित होना, ११. दिशा आकाश निर्मल होना, १२. देवों का आह्वानन शब्द होना, १३. धर्मचक्र का आगे चलना, १४. अष्ट मंगल द्रव्य होना - ऐसे चौदह होते हैं। सब मिलाकर चौतीस हो गये।

आठ प्रातिहार्य होते हैं, उनके नाम - १. अशोकवृक्ष, २. पुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चामर, ५. सिंहासन, ६. छत्र, ७. भामंडल, ८. दुन्दुभिवादित्र - ऐसे आठ होते हैं। ऐसे अतिशयसहित अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य सहित तीर्थंकर परमदेव जबतक जीवों के सम्बोधन निमित्त विहार करते विराजते हैं, तबतक स्थावर प्रतिमा कहलाते हैं।

स्थावर प्रतिमा कहने से तीर्थंकर के केवलज्ञान होने के बाद में अवस्थान बताया है और धातु पाषाण की प्रतिमा बनाकर स्थापित करते हैं, वह इसी का व्यवहार है ॥३५॥

आगे कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त करते हैं ऐसा कहते हैं -

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण सं ।

वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥३६॥

द्वादशविधतपोयुक्ताः कर्मक्षपयित्वा विधिबलेन स्वीयम् ।

व्युत्सर्गत्यक्तदेहा निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताः ॥३६॥

अर्थ - जो बारह प्रकार के तप से संयुक्त होते हुए विधि के बल से अपने कर्म को नष्ट कर 'वोसट्टचत्तदेहा' अर्थात् जिन्होंने भिन्न कर छोड़ दिया है देह, ऐसे होकर वे अनुत्तर अर्थात् जिससे

द्वादश तपों से युक्त क्षयकर कर्म को विधिपूर्वक ।

तज देह जो व्युत्सर्ग युत, निर्वाण पावें वे श्रमण ॥३६॥

आगे अन्य अवस्था नहीं है, ऐसी निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ – जो तप द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर जबतक विहार करें, तबतक अवस्थान रहें पीछे द्रव्य, क्षेत्र, काल-भाव की सामग्रीरूप विधि के बल से कर्म नष्टकर व्युत्सर्ग द्वारा शरीर को छोड़कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। यहाँ आशय ऐसा है कि जब निर्वाण को प्राप्त होते हैं, तब लोकशिखर पर जाकर विराजते हैं, वहाँ गमन में एकसमय लगता है, उस समय जंगम प्रतिमा कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसमें सम्यग्दर्शन प्रधान है। इस पाहुड में सम्यग्दर्शन के प्रधानपने का व्याख्यान किया है ॥३६॥

(सवैया छन्द)

मोक्ष उपाय कह्यो जिनराज जु सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्रा ।
तामधि सम्यग्दर्शन मुख्य भये निज बोध फलै सु चरित्रा ॥
जे नर आगम जानि करै पहचानि यथावत् मित्रा ।
घाति क्षिपाय रु केवल पाय अघाति हने लहि मोक्ष पवित्रा ॥१॥

(दोहा)

नमूं देव गुरु धर्म कूं, जिन आगम कूं मानि ।
जा प्रसाद पायो अमल, सम्यग्दर्शन जानि ॥२॥

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामि विरचित अष्टप्राभृत में प्रथम दर्शनप्राभृत और
उसकी जयचन्द्रजी छाबड़ा कृत देशभाषामयवचनिका का
हिन्दी भाषानुवाद समाप्त हुआ ।



अथ सूत्रपाहुड

२

(दोहा)

वीर जिनेश्वर को नमूं गौतम गणधर लार ।

काल पंचमा आदि में भए सूत्रकरतार ॥१॥

इसप्रकार मंगल करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत गाथा बंध सूत्रपाहुड की देशभाषामय वचनिका लिखते हैं -

प्रथम ही श्रीकुन्दकुन्द आचार्य सूत्र की महिमागर्भित सूत्र का स्वरूप बताते हैं -

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।

सुत्तत्थमगणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥१॥

अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितं सम्यक् ।

सूत्रार्थमार्गणार्थं श्रमणाः साधयंति परमार्थम् ॥१॥

अर्थ - जो गणधरदेवों ने सम्यक् प्रकार पूर्वापरविरोधरहित गूँथा (रचना की) वह सूत्र है । वह सूत्र कैसा है ? सूत्र का जो कुछ अर्थ है, उसको मार्गण अर्थात् ढूँढने जानने का जिसमें प्रयोजन है और ऐसे ही सूत्र के द्वारा श्रमण (मुनि) परमार्थ अर्थात् उत्कृष्ट अर्थ प्रयोजन जो अविनाशी मोक्ष को साधते हैं । यहाँ गाथा में 'सूत्र' इसप्रकार विशेष्य पद नहीं कहा तो भी विशेषणों की सामर्थ्य से लिया है ।

भावार्थ - जो अरहंत सर्वज्ञ द्वारा भाषित है तथा गणधरदेवों ने अक्षरपद वाक्यमयी गूँथा है और सूत्र के अर्थ को जानने का ही जिसमें अर्थ-प्रयोजन है - ऐसे सूत्र से मुनि परमार्थ जो मोक्ष

अरहंत-भासित ग्रथित-गणधर सूत्र से ही श्रमणजन ।

परमार्थ का साधन करें अध्ययन करो हे भव्यजन ॥१॥

उसको साधते हैं। अन्य जो अक्षपाद, जैमिनि, कपिल, सुगत आदि छद्मस्थों के द्वारा रचे हुए कल्पित सूत्र हैं, उनसे परमार्थ की सिद्धि नहीं है, इसप्रकार आशय जानना ॥१॥

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार सूत्र का अर्थ आचार्यों की परम्परा से प्रवर्तता है, उसको जानकर मोक्षमार्ग को साधते हैं, वे भव्य हैं -

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपूरेण मग्गेण ।

णाऊण दुविह सुत्तं वट्टदि सिवमग्ग जो भव्वो ॥२॥

सूत्रे यत् सुदृष्ट आचार्यपरंपरेण मार्गेण ।

ज्ञात्वा द्विविधं सूत्रं वर्तते शिवमार्गे यः भव्यः ॥२॥

अर्थ - सर्वज्ञभाषित सूत्र में जो कुछ भलेप्रकार कहा है, उसको आचार्यों की परम्परारूप मार्ग से दो प्रकार के सूत्र को शब्दमय और अर्थमय जानकर मोक्षमार्ग में प्रवर्तता है, वह भव्यजीव है, मोक्ष पाने के योग्य है।

भावार्थ - यहाँ कोई कहे - अरहंत द्वारा भाषित और गणधर देवों से गूथा हुआ सूत्र तो द्वादशांगरूप है, वह तो इस काल में दीखता नहीं है, तब परमार्थरूप मोक्षमार्ग कैसे सधे, इसका समाधान करने के लिए यह गाथा है, अरहंतभाषित गणधररचित सूत्र में जो उपदेश है, उसको आचार्यों की परम्परा से जानते हैं, उसको शब्द और अर्थ के द्वारा जानकर जो मोक्षमार्ग को साधता है, वह मोक्ष होने योग्य भव्य है। यहाँ फिर कोई पूछे कि आचार्यों की परम्परा क्या है ? अन्य ग्रन्थों में आचार्यों की परम्परा निम्न प्रकार से कही गई है -

श्री वर्द्धमान तीर्थंकर सर्वज्ञ देव के पीछे तीन केवलज्ञानी हुए - १. गौतम, २. सुधर्म, ३. जम्बू। इनके पीछे पाँच श्रुतकेवली हुए; इनको द्वादशांग सूत्र का ज्ञान था, १. विष्णु, २. नंदिमित्र, ३. अपराजित, ४. गौवर्द्धन, ५. भद्रबाहु। इनके पीछे दस पूर्व के ज्ञाता ग्यारह हुए; १. विशाख, २. प्रौष्ठिल, ३. क्षत्रिय, ४ जयसेन, ५. नागसेन, ६. सिद्धार्थ, ७. धृतिषेण, ८. विजय, ९. बुद्धिल, १०. गंगदेव, ११. धर्मसेन। इनके पीछे पाँच ग्यारह अंगों के धारक हुए; १. नक्षत्र, २. जयपाल, ३. पांडु, ४. ध्रुवसेन, ५. कंस। इनके पीछे एक अंग के धारक चार हुए; १. सुभद्र, २. यशोभद्र, ३. भद्रबाहु, ४. लोहाचार्य। इनके पीछे एक अंग के पूर्णज्ञानी की तो व्युच्छित्ति (अभाव) हुई और अंग के एकदेश अर्थ के ज्ञाता आचार्य हुए। इनमें से कुछ के नाम

जो भव्य हैं वे सूत्र में उपदिष्ट शिवमग जानकर।

जिनपरम्परा से समागत शिवमार्ग में वर्तन करें ॥२॥

ये हैं - अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समंतभद्र, शिवकोटि, शिवायन, पूज्यपाद, वीरसेन, जिनसेन, नेमिचन्द्र इत्यादि।

इनके पीछे इनकी परिपाटी में आचार्य हुए, इनसे अर्थ का व्युच्छेद नहीं हुआ, ऐसी दिगम्बरों के संप्रदाय में प्ररूपणा यथार्थ है। अन्य श्वेताम्बरादिक वर्द्धमान स्वामी से परम्परा मिलते हैं, वह कल्पित है, क्योंकि भद्रबाहु स्वामी के पीछे कई मुनि अवस्था में भ्रष्ट हुए, ये अर्द्धफालक कहलाये। इनकी सम्प्रदाय में श्वेताम्बर हुए, इनमें “देवर्द्धिगणी” नाम का साधु इनकी संप्रदाय में हुआ है, इसने सूत्र बनाये हैं सो इनमें शिथिलाचार को पुष्ट करने के लिए कल्पित कथा तथा कल्पित आचरण का कथन किया है, वह प्रमाणभूत नहीं है। पंचमकाल में जैनाभासों के शिथिलाचार की अधिकता है सो युक्त है, इस काल में सच्चे मोक्षमार्ग की विरलता है, इसलिए शिथिलाचारियों के सच्चा मोक्षमार्ग कहाँ से हो इसप्रकार जानना।

अब यहाँ कुछ द्वादशांगसूत्र तथा अङ्गबाह्यश्रुत का वर्णन लिखते हैं - तीर्थकर के मुख से उत्पन्न हुई सर्व भाषामय दिव्यध्वनि को सुनकर के चार ज्ञान, सप्तऋद्धि के धारक गणधर देवों ने अक्षर पदमय सूत्ररचना की। सूत्र दो प्रकार के हैं - १. अंग, २. अङ्गबाह्य। इनके अपुनरुक्त अक्षरों की संख्या बीस अङ्क प्रमाण है, ये अङ्क एक घाटि इकट्टी प्रमाण हैं। ये अङ्क - १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अक्षर हैं। इनके पद करें तब एक मध्यपद के अक्षर सोलह सौ चौतीस करोड़ तियासी लाख सात हजार आठ सौ अठ्यासी कहे हैं। इनका भाग देने पर एक सौ बारह करोड़ तियासी लाख अठावन हजार पाँच इतने पावें, ये पद बारह अंगरूप सूत्र के पद हैं और अवशेष बीस अङ्कों में अक्षर रहे, ये अङ्गबाह्य सूत्र कहलाते हैं। ये आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पिचहत्तर अक्षर हैं, इन अक्षरों में चौदह प्रकीर्णक रूप सूत्ररचना है।

अब इन द्वादशांगरूप सूत्ररचना के नाम और पद संख्या लिखते हैं - प्रथम अंग आचारांग हैं, इसमें मुनीश्वरों के आचार का निरूपण है, इसके पद अठारह हजार हैं।

दूसरा सूत्रकृत अंग है, इसमें ज्ञान का विनय आदिक अथवा धर्मक्रिया में स्वमत परमत की क्रिया के विशेष का निरूपण है, इसके पद छत्तीस हजार हैं।

तीसरा स्थान अंग है, इसमें पदार्थों के एक आदि स्थानों का निरूपण है जैसे जीव सामान्यरूप से एक प्रकार विशेषरूप से दो प्रकार, तीन प्रकार इत्यादि ऐसे स्थान कहे हैं, इसके पद बियालीस हजार हैं।

चौथा समवाय अंग है, इसमें जीवादिक छह द्रव्यों का द्रव्य-क्षेत्र-कालादि द्वारा वर्णन है, इसके पद एक लाख चौसठ हजार हैं।

पाँचवाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग है, इसमें जीव के अस्ति नास्ति आदिक साठ हजार प्रश्न गणधरदेवों ने तीर्थकर के निकट किये उनका वर्णन है, इसके पद दो लाख अठाईस हजार हैं।

छठा ज्ञातृधर्मकथा नाम का अंग है, इसमें तीर्थकरों के धर्म की कथा जीवादिक पदार्थों के स्वभाव का वर्णन तथा गणधर के प्रश्नों का उत्तर का वर्णन है, इसके पद पाँच लाख छप्पन हजार हैं।

सातवाँ उपासकाध्ययन नाम का अङ्ग है, इसमें ग्यारह प्रतिमा आदि श्रावक के आचार का वर्णन है, इसके पद ग्यारह लाख सत्तर हजार हैं।

आठवाँ अन्तःकृतदशांग नाम का अंग है, इसमें एक-एक तीर्थकर के काल में दस दस अन्तःकृत केवली हुए उनका वर्णन है, इसके पद तेईस लाख अठाईस हजार हैं।

नौवाँ अनुत्तरोपपादक नाम का अंग है, इसमें एक-एक तीर्थकर के काल में दस-दस महामुनि घोर उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए उनका वर्णन है, इसके पद बाणवै लाख चवालीस हजार हैं।

दसवाँ प्रश्न व्याकरण नाम का अंग है, इसमें अतीत अनागत काल संबंधी शुभाशुभ का प्रश्न कोई करे उसका उत्तर यथार्थ कहने के उपाय का वर्णन है तथा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी - इन चार कथाओं का भी इस अंग में वर्णन है, इसके पद तिराणवें लाख सोलह हजार हैं।

ग्यारहवाँ विपाकसूत्र नाम का अंग है, इसमें कर्म के उदय का तीव्र, मंद अनुभाग का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा लिए हुए वर्णन है, इसके पद एक करोड़ चौरासी लाख हैं। इसप्रकार ग्यारह अंग हैं, इनके पदों की संख्या को जोड़ देने पर चार करोड़ पंद्रह लाख दो हजार पद होते हैं।

बारहवाँ दृष्टिवाद नाम का अंग है, इसमें मिथ्यादर्शन संबंधी तीन सौ तरेसठ कुवादों का वर्णन है, इसके पद एक सौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच हैं। इस बारहवें अंग के पाँच अधिकार हैं - १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत, ५. चूलिका। परिकर्म में गणित के करण सूत्र हैं; इनके पाँच भेद हैं - प्रथम चन्द्रप्रज्ञप्ति है, इसमें चन्द्रमा के गमनादिक परिवार वृद्धि, हानि, ग्रह आदि का वर्णन है, इसके पद छत्तीस लाख पाँच हजार है। दूसरा सूर्यप्रज्ञप्ति है, इसमें सूर्य की ऋद्धि, परिवार, गमन आदि का वर्णन है, इसके पद पाँच लाख तीन हजार हैं। तीसरा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति है, इसमें जम्बूद्वीप संबंधी मेरु गिरि क्षेत्र कुलाचल आदि का वर्णन है, इसके पद तीन लाख पच्चीस हजार हैं। चौथा द्वीप सागर प्रज्ञप्ति है, इसमें द्वीपसागर का स्वरूप तथा वहाँ स्थित ज्योतिषी, व्यन्तर भवनवासी देवों के आवास तथा वहाँ स्थित जिनमन्दिरों का वर्णन है, इसके पद बावन लाख छत्तीस हजार हैं। पाँचवाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति है, इसमें जीव अजीव पदार्थों के प्रमाण का वर्णन है, इसके पद चौरासी लाख छत्तीस हजार हैं। इसप्रकार परिकर्म के पाँच भेदों के पद जोड़ने पर एक करोड़ इक्यासी लाख पाँच हजार होते हैं।

बारहवें अंग का दूसरा भेद सूत्र नाम का है, इसमें मिथ्यादर्शन संबंधी तीन सौ तरेसठ कुवादों का पूर्वपक्ष लेकर उनको जीव पदार्थ पर लगाने आदि का वर्णन है, इसके पद अठ्यासी लाख हैं। बारहवें अंग का तीसरा भेद प्रथमानुयोग है, इसमें प्रथम जीव के उपदेशयोग्य तीर्थकर आदि तरेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन है, इसके पद पाँच हजार हैं। बारहवें अंग का चौथा भेद पूर्वगत है, इसके चौदह भेद हैं, प्रथम उत्पाद नाम का है इसमें जीव आदि वस्तुओं के उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदि अनेक धर्मों की अपेक्षा भेद वर्णन है, इसके पद एक करोड़ हैं। दूसरा अग्रायणी नाम का पूर्व है, इसमें सात सौ सुनय दुर्नय का और षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नव पदार्थों का वर्णन है, इसके छिनवें लाख पद हैं।

तीसरा वीर्यानुवाद नाम का पूर्व है, इसमें छह द्रव्यों की शक्तिरूप वीर्य का वर्णन है, इसके पद सत्तर लाख हैं। चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद नाम का पूर्व है, इसमें जीवादिक वस्तु का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अस्ति, पररूप द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नास्ति आदि अनेक धर्मों के विधि निषेध करके सप्तभंग के द्वारा कथंचित् विरोध मेटनेरूप मुख्य गौण करके वर्णन है, इसके पद साठ लाख हैं।

पाँचवाँ ज्ञानप्रवाद नाम का पूर्व है, इसमें ज्ञान के भेदों का स्वरूप, संख्या, विषय, फल आदि का वर्णन है, इसके पद एक कम करोड़ हैं। छठा सत्यप्रवाद नाम का पूर्व है, इसमें सत्य, असत्य आदि वचनों की अनेक प्रकार की प्रवृत्ति का वर्णन है, इसके पद एक करोड़ छह हैं। सातवाँ आत्मप्रवाद नाम का पूर्व है, इसमें आत्मा (जीव) पदार्थ के कर्ता, भोक्ता आदि अनेक धर्मों का निश्चय-व्यवहारनय की अपेक्षा वर्णन है, इसके पद छब्बीस करोड़ हैं।

आठवाँ कर्मप्रवाद नाम का पूर्व है, इसमें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के बंध, सत्व, उदय, उदीरणा आदि का तथा क्रियारूप कर्मों का वर्णन है, इसके पद एक करोड़ अस्सी लाख हैं। नौवाँ प्रत्याख्यान नाम का पूर्व है, इसमें पाप के त्याग का अनेक प्रकार से वर्णन है, इसके पद चौरासी लाख हैं। दसवाँ विद्यानुवाद नाम का पूर्व है, इसमें सात सौ क्षुद्रविद्या और पाँचसौ महाविद्याओं के स्वरूप, साधन, मंत्रादिक और सिद्ध हुए इनके फल का वर्णन है तथा अष्टांग निमित्तज्ञान का वर्णन है, इसके पद एक करोड़ दस लाख हैं।

ग्यारहवाँ कल्याणवाद नाम का पूर्व है, इसमें तीर्थकर चक्रवर्ती आदि के गर्भ आदि कल्याणक का उत्सव तथा उसके कारण षोडश भावनादि के तपश्चरणादिक तथा चन्द्रमा सूर्यादिक के गमन विशेष आदि का वर्णन है, इसके पद छब्बीस करोड़ हैं।

बारहवाँ प्राणवाद नाम का पूर्व है, इसमें आठ प्रकार वैद्यक तथा भूतादिक की व्याधि के दूर करने के मंत्रादिक तथा विष दूर करने के उपाय और स्वरोदय आदि का वर्णन है, इसके तेरह

करोड़ पद हैं। तेरहवाँ क्रियाविशाल नाम का पूर्व है, इसमें संगीतशास्त्र, छन्द, अलंकारादिक तथा चौसठ कला, गर्भाधानादि चौरासी क्रिया, सम्यग्दर्शन आदि एक सौ आठ क्रिया, देववंदनादिक पच्चीस क्रिया, नित्य नैमित्तिक क्रिया इत्यादि का वर्णन है, इसके पद नव करोड़ हैं।

चौदहवाँ त्रिलोकबिंदुसार नाम का पूर्व है, इसमें तीनलोक का स्वरूप और बीजगणित का स्वरूप तथा मोक्ष का स्वरूप तथा मोक्ष की कारणभूत क्रिया का स्वरूप इत्यादि का वर्णन है, इसके पद बारह करोड़ पचास लाख हैं। ऐसे चौदह पूर्व हैं, इनके सब पदों का जोड़ पिच्याणवे करोड़ पचास लाख है।

बारहवें अंग का पाँचवाँ भेद चूलिका है, इसके पाँच भेद हैं, इनके पद दो करोड़ नव लाख निवासी हजार दो सौ हैं। इसके प्रथम भेद जलगता चूलिका में जल का स्तंभन करना, जल में गमन करना। अग्निगता चूलिका में अग्नि स्तंभन करना, अग्नि में प्रवेश करना, अग्नि का भक्षण करना इत्यादि के कारणभूत मंत्र तंत्रादिक का प्ररूपण है, इसके पद दो करोड़ नव लाख, निवासी हजार दो सौ हैं। इतने इतने ही पद अन्य चार चूलिका के जानने। दूसरा भेद स्थलगता चूलिका है, इसमें मेरु पर्वत भूमि इत्यादि में प्रवेश करना, शीघ्र गमन करना इत्यादि क्रिया के कारण मंत्र तंत्र तपश्चरणादिक का प्ररूपण है।

तीसरा भेद मायागता चूलिका है, इसमें मायामयी इन्द्रजाल विक्रिया के कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरणादिक का प्ररूपण है। चौथा भेद रूपगता चूलिका है, इसमें सिंह, हाथी, घोड़ा, बैल, हरिण इत्यादि अनेक प्रकार के रूप बना लेने के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का प्ररूपण है तथा चित्राम, काष्ठलेपादिक का लक्षण वर्णन है और धातु रसायन का निरूपण है। पाँचवाँ भेद आकाशगता चूलिका है, इसमें आकाश में गमनादिक के कारणभूत मंत्र-यंत्र-तंत्रादिक का प्ररूपण है। ऐसे बारहवाँ अंग है। इसप्रकार से बारह अंग सूत्र हैं।

अंगबाह्य श्रुत के चौदह प्रकीर्णक हैं। प्रथम प्रकीर्णक सामायिक नाम का है, इसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से छह प्रकार इत्यादि सामायिक का विशेषरूप से वर्णन है। दूसरा चतुर्विंशतिस्तव नाम का प्रकीर्णक है, इसमें चौबीस तीर्थकरों की महिमा का वर्णन है। तीसरा वंदना नाम का प्रकीर्णक है, इसमें एक तीर्थकर के आश्रय से वन्दना-स्तुति का वर्णन है।

चौथा प्रतिक्रमण नाम का प्रकीर्णक है, इसमें सात प्रकार के प्रतिक्रमण का वर्णन है। पाँचवाँ वैनयिक नाम का प्रकीर्णक है, इसमें पाँच प्रकार के विनय का वर्णन है। छठा कृतिकर्म नाम का प्रकीर्णक है, इसमें अरहंत आदि की वंदना की क्रिया का वर्णन है। सातवाँ दशवैकालिक नाम का प्रकीर्णक है, इसमें मुनि का आचार, आहार की शुद्धता आदि का वर्णन है। आठवाँ उत्तराध्ययन नाम का प्रकीर्णक है, इसमें परीषह उपसर्ग को सहने के विधान का वर्णन है।

नवमा कल्पव्यवहार नाम का प्रकीर्णक है, इसमें मुनि के योग्य आचरण और अयोग्य सेवन के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। दसवां कल्पाकल्प नाम का प्रकीर्णक है, इसमें मुनि को यह योग्य है और यह अयोग्य है ऐसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा वर्णन है। ग्यारहवाँ महाकल्प नाम का प्रकीर्णक है, इसमें जिनकल्पी मुनि के प्रतिमायोग, त्रिकालयोग का प्ररूपण है तथा स्थविरकल्पी मुनियों की प्रवृत्ति का वर्णन है। बारहवाँ पुण्डरीक नाम का प्रकीर्णक है, इसमें चार प्रकार के देवों में उत्पन्न होने के कारणों का वर्णन है।

तेरहवाँ महापुण्डरीक नाम का प्रकीर्णक है, इसमें इन्द्रादिक बड़ी ऋद्धि के धारक देवों में उत्पन्न होने के कारणों का प्ररूपण है। चौदहवाँ निषिद्धिका नाम का प्रकीर्णक है, इसमें अनेकप्रकार के दोषों की शुद्धता के निमित्त प्रायश्चित्तों का प्ररूपण है, यह प्रायश्चित्त शास्त्र है, इसका नाम निसितिका भी है। इसप्रकार अंगबाह्य श्रुत चौदह प्रकार का है।

पूर्वों की उत्पत्ति पर्यायसमास ज्ञान से लगाकर पूर्वज्ञानपर्यन्त बीस भेद हैं, इनका विशेष वर्णन, श्रुतज्ञान का वर्णन गोम्मटसार नाम के ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक है, वहाँ से जानना ॥२॥

आगे कहते हैं कि जो सूत्र में प्रवीण है, वह संसार का नाश करता है -

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।

सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्तेण सहा णो वि ॥३॥

सूत्रे ज्ञायमानः भवस्य भवनाशनं च सः करोति ।

सूची यथा असूत्रा नश्यति सूत्रेण सह नापि ॥३॥

अर्थ - जो पुरुष सूत्र को जाननेवाला है, प्रवीण है, वह संसार में जन्म होने का नाश करता है, जैसे लोह की सूई सूत्र (डोरा) के बिना हो तो नष्ट (गुम) हो जाय और डोरा सहित हो तो नष्ट नहीं हो, यह दृष्टान्त है ॥३॥

भावार्थ - सूत्र का ज्ञाता हो वह संसार का नाश करता है, जैसे सूई डोरा सहित हो तो दृष्टिगोचर होकर मिल जावे, कभी भी नष्ट न हो और डोरे के बिना हो तो दीखे नहीं, नष्ट हो जाय - इसप्रकार जानना ॥३॥

१. 'सुत्तम्मि' । २. 'सूत्रहि' पाठान्तर षट्पाहुड ।

डोरा सहित सुइ नहीं खोती गिरे चाहे वन-भवन ।

संसार-सागर पार हों जिनसूत्र के ज्ञायक श्रमण ॥३॥

आगे सूई के दृष्टान्त का दार्ष्टान्त कहते हैं -

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणांसइ सो गओ वि संसारे ।
सच्चेदण पच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥४॥
पुरुषोऽपि यः ससूत्रः न विनश्यति स गतोऽपि संसारे ।
सच्चेतनप्रत्यक्षेण नाशयति तं सः अदृश्यमानोऽपि ॥४॥

अर्थ - जैसे सूत्रसहित सूई नष्ट नहीं होती है वैसे ही जो पुरुष संसार में गत हो रहा है, अपना रूप अपने दृष्टिगोचर नहीं है तो भी वह सूत्रसहित हो (सूत्र का ज्ञाता हो) तो उसके आत्मा सत्तारूप चैतन्य चमत्कारमयी स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, इसलिए गत नहीं है, नष्ट नहीं हुआ है, वह जिस संसार में गत है, उस संसार का नाश करता है ।

भावार्थ - यद्यपि आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है तो भी सूत्र के ज्ञाता के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभवगोचर है, वह सूत्र का ज्ञाता संसार का नाश करता है, आप प्रकट होता है, इसलिए सूई का दृष्टान्त युक्त है ॥४॥

आगे सूत्र में अर्थ क्या है, वह कहते हैं -

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सदिट्ठी ॥५॥
सूत्रार्थं जिनभणितं जीवाजीवादिबहुविधमर्थम् ।
हेयाहेयं च तथा यो जानाति स हि सद्दृष्टिः ॥५॥

अर्थ - सूत्र का अर्थ जिन सर्वज्ञ देव ने कहा है और सूत्र का अर्थ जीव-अजीव आदि बहुत प्रकार है तथा हेय अर्थात् त्यागने योग्य पुद्गलादिक और अहेय अर्थात् त्यागने योग्य नहीं इसप्रकार आत्मा को जो जानता है वह प्रगट सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थ - सर्वज्ञभाषित सूत्र में जीवादिक नवपदार्थ और इनमें हेय उपादेय इसप्रकार बहुत प्रकार से व्याख्यान है, उसको जानता है वह श्रद्धावान सम्यग्दृष्टि होता है ॥५॥

आगे कहते हैं कि जिनभाषित सूत्र व्यवहार परमार्थरूप दो प्रकार है, उसको जानकर योगीश्वर शुद्धभाव करके सुख को पीते हैं -

संसार में गत गृहीजन भी सूत्र के ज्ञायक पुरुष ।
निज आत्मा के अनुभवन से भवोदधि से पार हों ॥४॥
जिनसूत्र में जीवादि बहुविध द्रव्य तत्त्वारथ कहे ।
हैं हेय पर व अहेय निज जो जानते सद्दृष्टि वे ॥५॥

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो ।
 तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥६॥
 यत्सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथा च ज्ञानीहि परमार्थम् ।
 तं ज्ञात्वा योगी लभते सुखं क्षिपते मलपुंजं ॥६॥

अर्थ – जो जिनभाषित सूत्र है, वह व्यवहाररूप तथा परमार्थरूप है, उसको योगीश्वर जानकर सुख पाते हैं और मलपुंज अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का क्षेपण करते हैं ।

भावार्थ – जिनसूत्र को व्यवहार परमार्थरूप यथार्थ जानकर योगीश्वर (मुनि) कर्मों का नाश करके अविनाशी सुखरूप मोक्ष को पाते हैं । परमार्थ (निश्चय) और व्यवहार इनका संक्षेप स्वरूप इसप्रकार है कि जिन आगम की व्याख्या चार अनुयोगरूप शास्त्रों में दो प्रकार से सिद्ध है, एक आगमरूप दूसरी अध्यात्मरूप ।

वहाँ सामान्य-विशेषरूप से सब पदार्थों का प्ररूपण करते हैं, सो आगमरूप है, परन्तु जहाँ एक आत्मा ही के आश्रय निरूपण करते हैं सो अध्यात्म है । अहेतुमत् और हेतुमत् ऐसे भी दो प्रकार हैं, वहाँ सर्वज्ञ की आज्ञा से ही केवल प्रमाणता मानना अहेतुमत् है और प्रमाण नय के द्वारा वस्तु की निर्बाध सिद्धि करके मानना सो हेतुमत् है । इसप्रकार दो प्रकार से आगम में निश्चय-व्यवहार से व्याख्यान है, वह कुछ लिखने में आ रहा है ।

जब आगमरूप सब पदार्थों के व्याख्यान पर लगाते हैं, तब तो वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषरूप अनन्त धर्मस्वरूप है, वह ज्ञानगम्य है, इनमें सामान्यरूप तो निश्चयनय का विषय है और विशेषरूप जितने हैं उनको भेदरूप करके भिन्न-भिन्न कहे वह व्यवहारनय का विषय है, उसको द्रव्य पर्याय स्वरूप भी कहते हैं । जिस वस्तु को विवक्षित करके सिद्ध करना हो उसके द्रव्य क्षेत्र काल भाव से जो कुछ सामान्य विशेषरूप वस्तु का सर्वस्व हो वह तो निश्चय व्यवहार से कहा है वैसे सिद्ध होता है और उस वस्तु के कुछ अन्य वस्तु के संयोगरूप अवस्था हो उसको उस वस्तुरूप कहना भी व्यवहार है, इसको उपचार भी कहते हैं ।

इसका उदाहरण ऐसे है – जैसे एक विवक्षित घट नामक वस्तु पर लगावें तब जिस घट का द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप सामान्य विशेषरूप जितना सर्वस्व है, उतना कहा, वैसे निश्चय व्यवहार से कहना वह तो निश्चय-व्यवहार है और घट के कुछ अन्य वस्तु का लेप करके उस घट को उस नाम से कहना तथा अन्य पटादि में घट का आरोहण करके घट कहना भी व्यवहार है ।

परमार्थ या व्यवहार जो जिनसूत्र में जिनवर कहे ।
 सब जान योगी सुख लहें मलपुंज का क्षेपण करें ॥६॥

व्यवहार के दो आश्रय हैं, एक प्रयोजन, दूसरा निमित्त। प्रयोजन साधने को किसी वस्तु को घट कहना वह तो प्रयोजनाश्रित है और किसी अन्य वस्तु के निमित्त से घट में अवस्था हुई उसको घटरूप कहना वह निमित्ताश्रित है। इसप्रकार विवक्षित सर्व जीव अजीव वस्तुओं पर लगाना। एक आत्मा ही को प्रधान करके लगाना अध्यात्म है। जीव सामान्य को भी आत्मा कहते हैं। जो जीव अपने को सब जीवों से भिन्न अनुभव करे उसको भी आत्मा कहते हैं, जब अपने को सबसे भिन्न अनुभव करके, अपने पर निश्चय लगावे तब इसप्रकार जो आप अनादि अनन्त अविनाशी सब अन्य द्रव्यों से भिन्न एक सामान्य विशेषरूप अनन्तधर्मात्मक द्रव्य पर्यायात्मक जीव नामक शुद्ध वस्तु है, वह कैसा है -

शुद्ध दर्शन ज्ञानमयी चेतनास्वरूप असाधारण धर्म को लिए हुए अनन्त शक्ति का धारक है, उसमें सामान्य भेद चेतना अनन्त शक्ति का समूह द्रव्य है। अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्य ये चेतना के विशेष हैं वह तो गुण हैं और अगुरुलघु गुण के द्वारा षट्स्थान पतित हानि वृद्धिरूप परिणमन करते हुए जीव के त्रिकालात्मक अनन्त पर्यायें हैं। इसप्रकार शुद्ध जीव नामक वस्तु को सर्वज्ञ ने देखा जैसा आगम में प्रसिद्ध है, वह तो एक अभेदरूप शुद्ध निश्चय नय का विषयभूत जीव है, इस दृष्टि से अनुभव करे तब तो ऐसा है और अनन्त धर्मों में भेदरूप किसी एक धर्म को लेकर कहना व्यवहार है।

आत्मवस्तु के अनादि ही से पुद्गल कर्म का संयोग है, इसके निमित्त से राग-द्वेषरूप विकार की उत्पत्ति होती है, उसको विभाव परिणति कहते हैं और इससे फिर आगामी कर्म का बंध होता है। इसप्रकार अनादि निमित्त-नैमित्तिक भाव के द्वारा चतुर्गतिरूप संसारभ्रमण की प्रवृत्ति होती है। जिस गति को प्राप्त हो वैसे ही नाम का जीव कहलाता है तथा जैसा रागादिक भाव हो वैसे नाम कहलाता है।

जब द्रव्य क्षेत्र काल भाव की बाह्य अंतरंग सामग्री के निमित्त से अपने शुद्धस्वरूप शुद्धनिश्चय-नय के विषयस्वरूप अपने को जानकर श्रद्धान करे और कर्म संयोग को तथा उसके निमित्त से अपने भाव होते हैं उनका यथार्थ स्वरूप जाने तब भेदज्ञान होता है, तब ही परभावों से विरक्ति होती है। फिर उनको दूर करने का उपाय सर्वज्ञ के आगम से यथार्थ समझकर उसको अंगीकार करे तब अपने स्वभाव में स्थिर होकर अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं, सब कर्मों का क्षय करके लोकशिखर पर जाकर विराजमान हो जाता है, तब मुक्त या सिद्ध कहलाता है।

इसप्रकार जितनी संसार की अवस्था और यह मुक्त अवस्था इसप्रकार भेदरूप आत्मा का निरूपण है, वह भी व्यवहार नय का विषय है, इसको अध्यात्म शास्त्र में अभूतार्थ असत्यार्थ नाम

से कहकर वर्णन किया है, क्योंकि शुद्ध आत्मा में संयोगजनित अवस्था हो सो तो असत्यार्थ ही है, कुछ शुद्ध वस्तु का तो यह स्वभाव नहीं है इसलिए असत्य ही है। जो निमित्त से अवस्था हुई वह भी आत्मा ही का परिणाम है, जो आत्मा का परिणाम है, वह आत्मा ही में है, इसलिए कथंचित् इसको सत्य भी कहते हैं, परन्तु जबतक भेदज्ञान नहीं होता तबतक ही यह दृष्टि है, भेदज्ञान होने पर जैसे है; वैसे ही जानता है।

जो द्रव्यरूप पुद्गलकर्म हैं, वे आत्मा से भिन्न ही हैं, उनसे शरीरादिक का संयोग है, वह आत्मा से प्रगट ही भिन्न है, इनको आत्मा के कहते हैं सो यह व्यवहार प्रसिद्ध है ही, इसको असत्यार्थ या उपचार कहते हैं। यहाँ कर्म के संयोगजनित भाव हैं, वे सब निमित्ताश्रित व्यवहार के विषय हैं और उपदेश अपेक्षा इसको प्रयोजनाश्रित भी कहते हैं, इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का संक्षेप है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा, यहाँ ऐसे समझना कि ये तीनों एक आत्मा ही के भाव हैं, इसप्रकार इनरूप आत्मा ही का अनुभव हो सो निश्चय मोक्षमार्ग है, इसमें भी जबतक अनुभव की साक्षात् पूर्णता नहीं हो तबतक एकदेशरूप होता है, उसको कथंचित् सर्वदेशरूप कहकर कहना व्यवहार है और एकदेश नाम से कहना निश्चय है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र को भेदरूप कहकर मोक्षमार्ग कहे तथा इनके बाह्य परद्रव्य स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निमित्त हैं उनको दर्शन-ज्ञान-चारित्र के नाम से कहे वह व्यवहार है। देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं, जीवादिक तत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं। शास्त्र के ज्ञान अर्थात् जीवादिक पदार्थों के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं इत्यादि।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप प्रवृत्ति को चारित्र कहते हैं। बारह प्रकार के तप को तप कहते हैं। ऐसे भेदरूप तथा परद्रव्य के आलम्बनरूप प्रवृत्तियाँ सब अध्यात्म की अपेक्षा व्यवहार के नाम से कही जाती हैं, क्योंकि वस्तु के एकदेश को वस्तु कहना भी व्यवहार है और परद्रव्य की आलम्बनरूप प्रवृत्ति को उस वस्तु के नाम से कहना वह भी व्यवहार है।

अध्यात्म शास्त्र में इसप्रकार भी वर्णन है कि वस्तु अनन्त धर्मरूप है, इसलिए सामान्य-विशेषरूप से तथा द्रव्य-पर्याय से वर्णन करते हैं। द्रव्यमात्र कहना तथा पर्यायमात्र कहना व्यवहार का विषय है। द्रव्य का भी तथा पर्याय का भी निषेध करके वचन अगोचर कहना निश्चयनय का विषय है। द्रव्यरूप है वही पर्यायरूप है इसप्रकार दोनों को ही प्रधान करके कहना प्रमाण का विषय है, इसका उदाहरण इसप्रकार है - जैसे जीव को चैतन्यरूप, नित्य, एक, अस्तिरूप इत्यादि अभेदमात्र कहना वह तो द्रव्यार्थिक नय का विषय है और ज्ञान-दर्शनरूप, अनित्य,

अनेक, नास्तित्वरूप इत्यादि भेदरूप कहना पर्यायार्थिकनय का विषय है। दोनों ही प्रकार की प्रधानता का निषेधमात्र वचन अगोचर कहना निश्चय नय का विषय है। दोनों ही प्रकार को प्रधान करके कहना प्रमाण का विषय है इत्यादि।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का सामान्य अर्थात् संक्षेप स्वरूप है, उसको जानकर जैसे आगम-अध्यात्म शास्त्रों में विशेषरूप से वर्णन हो उसको सूक्ष्मदृष्टि से जानना, जिनमत अनेकांतस्वरूप स्याद्वाद है और नयों के आश्रित कथन है। नयों के परस्पर विरोध को स्याद्वाद दूर करता है, इसके विरोध का तथा अविरोध का स्वरूप अच्छी तरह जानना। यथार्थ तो गुरु आमनाय ही से होता है, परन्तु गुरु का निमित्त इस काल में विरल हो गया, इसलिए अपने ज्ञान का बल चले तबतक विशेषरूप से समझते ही रहना, कुछ ज्ञान का लेश पाकर उद्धत नहीं होना, वर्तमान काल में अल्पज्ञानी बहुत है, इसलिए उनसे कुछ अभ्यास करके उनमें महन्त बनकर उद्धत होने पर मद आ जाता है, तब ज्ञान थकित हो जाता है और विशेष समझने की अभिलाषा नहीं रहती है, तब विपरीत होकर यद्वा-तद्वा मनमाना कहने लग जाता है, उससे अन्य जीवों का श्रद्धान विपरीत हो जाता है, तब अपने अपराध का प्रसंग आता है, इसलिए शास्त्र को समुद्र जानकर अल्पज्ञरूप ही अपना भाव रखना जिससे विशेष समझने की अभिलाषा बनी रहे, इससे ज्ञान की वृद्धि होती है।

अल्पज्ञानियों में बैठकर महन्तबुद्धि रखे तब अपना प्राप्त ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, इसप्रकार जानकर निश्चय-व्यवहाररूप आगम की कथन पद्धति को समझकर उसका श्रद्धान करके यथाशक्ति आचरण करना। इस काल में गुरु संप्रदाय के बिना महन्त नहीं बनना, जिन-आज्ञा का लोप नहीं करना।

कोई कहते हैं - हम तो परीक्षा करके जिनमत को मानेंगे वे वृथा बकते हैं-स्वल्पबुद्धि का ज्ञान परीक्षा करने के योग्य नहीं हैं। आज्ञा को प्रधान रख करके बने जितनी परीक्षा करने में दोष नहीं है, केवल परीक्षा ही को प्रधान रखने में जिनमत से च्युत हो जाय तो बड़ा दोष आवे, इसलिए जिनकी अपने हित-अहित पर दृष्टि है, वे तो इसप्रकार जानो और जिनको अल्पज्ञानियों में महंत बनकर अपने मान, लोभ, बड़ाई, विषय-कषाय पुष्ट करने हों उनकी बात नहीं है, वे तो जैसे अपने विषय-कषाय पुष्ट होंगे वैसे ही करेंगे, उनको मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं लगता है, विपरीत को किसका उपदेश ? इसप्रकार जानना चाहिए।

आगे कहते हैं कि जो सूत्र के अर्थ पद से भ्रष्ट है, उसको मिथ्यादृष्टि जानना -

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो ।

खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥७॥

सूत्रार्थपदविनष्टः मिथ्यादृष्टिः हि सः ज्ञातव्यः ।

खेलेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रं^१ सचेलस्य ॥७॥

अर्थ – जिसके सूत्र का अर्थ और पद विनष्ट है वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है इसीलिए जो सचेल है, वस्त्रसहित है उसको 'खेडे वि' अर्थात् हास्य कुतूहल में भी पाणिपात्र अर्थात् हस्तरूप पात्र से आहारदान नहीं करना ।

भावार्थ – सूत्र में मुनि का रूप नग्न दिग्म्बर कहा है । जिसके ऐसा सूत्र का अर्थ तथा अक्षररूप पद विनष्ट है और आप वस्त्र धारण करके मुनि कहलाता है, वह जिन आज्ञा से भ्रष्ट हुआ प्रगट मिथ्यादृष्टि है, इसलिए वस्त्र सहित को हास्य कुतूहल से भी पाणिपात्र अर्थात् आहारदान नहीं करना तथा इसप्रकार भी अर्थ होता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि को पाणिपात्र आहार लेना योग्य नहीं है, ऐसा भेष हास्य कुतूहल से भी धारण करना योग्य नहीं है कि वस्त्रसहित रहना और पाणिपात्र भोजन करना, इसप्रकार से तो क्रीडामात्र भी नहीं करना ॥७॥

आगे कहते हैं कि जिनूसत्र से भ्रष्ट हरि-हरादिक के तुल्य हो तो भी मोक्ष नहीं पाता है -

हरिहरतुल्लो वि णरो सगं गच्छेइ एइ भवकोडी ।

तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८॥

हरिहरतुल्योऽपि नरः स्वर्गं गच्छति एति भवकोटिः ।

तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥८॥

अर्थ – जो मनुष्य सूत्र के अर्थ पद से भ्रष्ट है, वह हरि अर्थात् नारायण हर अर्थात् रुद्र इनके समान भी हो, अनेक ऋद्धि संयुक्त हो तो भी सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है । यदि कदाचित् दान पूजादिक करके पुण्य उपार्जन कर स्वर्ग चला जावे तो भी वहाँ से चय कर करोड़ों भव लेकर संसार ही में रहता है, इसप्रकार जिनागम में कहा है ।

भावार्थ – श्वेताम्बरादिक इसप्रकार कहते हैं कि गृहस्थ आदि वस्त्रसहित को भी मोक्ष होता है, इसप्रकार सूत्र में कहा है, उसका इस गाथा में निषेध का आशय है कि जो हरिहरादिक बड़ी सामर्थ्य के धारक भी हैं तो भी वस्त्रसहित तो मोक्ष नहीं पाते हैं । श्वेताम्बरों ने सूत्र कल्पित बनाये

१. पाणिपात्रे पाठान्तर

सूत्रार्थ से जो नष्ट हैं वे मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं ।

तुम खेल में भी नहीं धरना यह सचेलक वृत्तियाँ ॥७॥

सूत्र से हों भ्रष्ट जो वे हरहरी सम क्यों न हों ।

स्वर्गस्थ हों पर कोटि भव अटकत फिरें ना मुक्त हों ॥८॥

हैं उनमें यह लिखा है सो प्रमाणभूत नहीं है, वे श्वेताम्बर जिनसूत्र के अर्थ पद से च्युत हो गये हैं ऐसा जानना चाहिए ॥८॥

आगे कहते हैं कि जो जिनसूत्र से च्युत हो गये हैं, वे स्वच्छंद होकर प्रवर्तते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं -

उत्कृष्टसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य ।

जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छतं ॥९॥

उत्कृष्ट सिंहचरितः बहुपरिकर्मा च गुरुभारश्च ।

यः विहरति स्वच्छंदं पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम् ॥९॥

अर्थ - जो मुनि होकर उत्कृष्ट सिंह के समान निर्भय हुआ आचरण करता है और बहुत परिकर्म अर्थात् तपश्चरणादिक्रिया विशेषों से युक्त है तथा गुरु के भार अर्थात् बड़ा पदस्थरूप है, संघ नायक कहलाता है, परन्तु जिनसूत्र से च्युत होकर स्वच्छंद प्रवर्तता है तो वह पाप ही को प्राप्त होता है और मिथ्यात्व को प्राप्त होता है ।

भावार्थ - जो धर्म का नायकपना लेकर-गुरु बनकर निर्भय हो तपश्चरणादिक से बड़ा कहलाकर अपना सम्प्रदाय चलाता है, जिनसूत्र से च्युत होकर स्वेच्छाचारी प्रवर्तता है तो वह पापी मिथ्यादृष्टि ही है, उसका प्रसंग भी श्रेष्ठ नहीं है ॥९॥

आगे कहते हैं कि जिनसूत्र में ऐसा मोक्षमार्ग कहा है -

निश्चेलपाणिपत्तं उवइदं परमजिणवरिंदेहिं ।

एकको वि मोक्खमगो सेसा य अमगया सव्वे ॥१०॥

निश्चेलपाणिपात्रं उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैः ।

एकोऽपि मोक्षमार्गः शेषाश्च अमार्गाः सर्वे ॥१०॥

अर्थ - जो निश्चेल अर्थात् वस्त्ररहित दिगम्बर मुद्रास्वरूप और पाणिपात्र अर्थात् हाथरूपी पात्र में खड़े-खड़े आहार करना इसप्रकार एक अद्वितीय मोक्षमार्ग तीर्थकर परमदेव जिनेन्द्र ने उपदेश दिया है, इसके सिवाय अन्य रीति सब अमार्ग हैं ।

सिंह सम उत्कृष्टचर्या हो तपी गुरु भार हो ।

पर हो यदी स्वच्छन्द तो मिथ्यात्व है अर पाप हो ॥९॥

निश्चेल एवं पाणिपात्री जिनवरेन्द्रों ने कहा ।

बस एक है यह मोक्षमार्ग शेष सब उन्मार्ग हैं ॥१०॥

भावार्थ – जो मृगचर्म, वृक्ष के वल्कल, कपास पट्ट, दुकूल, रोमवस्त्र, टाट के और तृण के वस्त्र इत्यादि रखकर अपने को मोक्षमार्गी मानते हैं तथा इस काल में जिनसूत्र से च्युत हो गये हैं, उन्होंने अपनी इच्छा से अनेक भेष चलाये हैं, कई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कई रक्त वस्त्र, कई पीले वस्त्र, कई टाट के वस्त्र, कई घास के वस्त्र और कई रोम के वस्त्र आदि रखते हैं, उनके मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि जिनसूत्र में तो एक नग्न दिगम्बर स्वरूप पाणिपात्र भोजन करना, इसप्रकार मोक्षमार्ग में कहा है, अन्य सब भेष मोक्षमार्ग नहीं हैं और जो मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं ॥१०॥

आगे दिगम्बर मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति कहते हैं –

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्रहेसु विरओ वि ।

सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥११॥

यः संयमेषु सहितः आरंभपरिग्रहेषु विरतः अपि ।

सः भवति वंदनीयः ससुरासुरमानुषे लोके ॥११॥

अर्थ – जो दिगम्बर मुद्रा का धारक मुनि इन्द्रिय-मन को वश में करना, छह काय के जीवों की दया करना इसप्रकार संयम सहित हो और आरम्भ अर्थात् गृहस्थ के सब आरम्भों से तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से विरक्त हो इनमें नहीं प्रवर्ते तथा आदि शब्द से ब्रह्मचर्य आदि गुणों से युक्त हो वह देव-दानव सहित मनुष्यलोक में वंदने योग्य है, अन्य भेषी परिग्रह-आरंभादि से युक्त पाखण्डी (ढोंगी) वंदने योग्य नहीं है ॥११॥

आगे फिर उनकी प्रवृत्ति का विशेष कहते हैं –

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता ।

ते होंति^१ वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥१२॥

ये द्वाविंशतिपरीषहान् सहंते शक्तिशतैः संयुक्ताः ।

ते भवंति वंदनीयाः कर्मक्षयनिर्जरासाधवः ॥१२॥

१. पाठान्तर – होंदि ।

संयम सहित हों जो श्रमण हों विरत परिग्रहारंभ से ।

वे वन्द्य हैं सब देव-दानव और मानुष लोक से ॥११॥

निजशक्ति से सम्पन्न जो बाइस परीषह को सहें ।

अर कर्म क्षय वा निर्जरा सम्पन्न मुनिजन वन्द्य हैं ॥१२॥

अर्थ – जो साधु मुनि अपनी शक्ति के सैकड़ों से युक्त होते हुए क्षुधा, तृषादिक बाईस परीषहों को सहते हैं और कर्मों की क्षयरूप निर्जरा करने में प्रवीण हैं, वे साधु वंदने योग्य हैं ।

भावार्थ – जो बड़ी शक्ति के धारक साधु हैं, वे परीषहों को सहते हैं, परीषह आने पर अपने पद से च्युत नहीं होते हैं, उनके कर्मों की निर्जरा होती है, वे वंदने योग्य हैं ॥१२॥

आगे कहते हैं कि जो दिगम्बरमुद्रा सिवाय कोई वस्त्र धारण करे, सम्यग्दर्शन ज्ञान से युक्त हों वे इच्छाकार करने योग्य हैं –

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता ।

चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जा य ॥१३॥

अवशेषा ये लिंगिनः दर्शनज्ञानेन सम्यक् संयुक्ताः ।

चेलेन च परिगृहीताः ते भणिता इच्छाकारयोग्याः ॥१३॥

अर्थ – दिगम्बरमुद्रा सिवाय जो अवशेष लिंगी भेष संयुक्त और सम्यक्त्व सहित दर्शन ज्ञान संयुक्त हैं तथा वस्त्र से परिगृहीत हैं, वस्त्र धारण करते हैं वे इच्छाकार करने योग्य हैं ।

भावार्थ – जो सम्यग्दर्शन ज्ञान संयुक्त हैं और उत्कृष्ट श्रावक का भेष धारण करते हैं, एक वस्त्र मात्र परिग्रह रखते हैं, वे इच्छाकार करने योग्य हैं, इसलिए ‘इच्छामि’ इसप्रकार कहते हैं । इसका अर्थ है कि मैं आपको इच्छू हूँ, चाहता हूँ ऐसा ‘इच्छामि’ शब्द का अर्थ है । इसप्रकार से इच्छाकार करना जिनसूत्र में कहा है ॥१३॥

आगे इच्छाकार योग्य श्रावक का स्वरूप कहते हैं –

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं ।

ठाणे द्वियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होदि ॥१४॥

इच्छाकारमहार्थसूत्रस्थितः यः स्फुटं त्यजति कर्म ।

स्थाने स्थितसम्यक्त्वः परलोकसुखंकरः भवति ॥१४॥

अर्थ – जो पुरुष जिनसूत्र में तिष्ठता हुआ इच्छाकार शब्द के महान प्रधान अर्थ को जानता है और स्थान जो श्रावक के भेदरूप प्रतिमाओं में तिष्ठता हुआ सम्यक्त्व सहित वर्तता है, आरंभ आदि कर्मों को छोड़ता है, वह परलोक में सुख प्रदान करनेवाला होता है ।

अवशेष लिंगी वे गृही जो ज्ञान दर्शन युक्त हैं ।

शुभ वस्त्र से संयुक्त इच्छाकार के वे योग्य हैं ॥१३॥

मर्मज्ञ इच्छाकार के अर शास्त्र सम्मत आचरण ।

सम्यक् सहित दुष्कर्म त्यागी सुख लहें परलोक में ॥१४॥

भावार्थ – उत्कृष्ट श्रावक को इच्छाकार करते हैं सो जो इच्छाकार के प्रधान अर्थ को जानता है और सूत्र अनुसार सम्यक्त्व सहित आरंभादिक छोड़कर उत्कृष्ट श्रावक होता है, वह परलोक में स्वर्ग का सुख पाता है ॥१४॥

आगे कहते हैं कि जो इच्छाकार के प्रधान अर्थ को नहीं जानता है और अन्य धर्म का आचरण करता है, वह सिद्धि को नहीं पाता है -

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं ।

तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥१५॥

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति धर्मान् करोति निरवशेषान् ।

तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥१५॥

अर्थ – ‘अथ पुनः’ शब्द का ऐसा अर्थ है कि पहिली गाथा में कहा था कि जो इच्छाकार के प्रधान अर्थ को जानता है, वह आचरण करके स्वर्गसुख पाता है, वही अब फिर कहते हैं कि इच्छाकार का प्रधान अर्थ आत्मा को चाहना है, अपने स्वरूप में रुचि करना है वह इसको इष्ट नहीं करता है और अन्य धर्म के समस्त आचरण करता है तो भी सिद्धि अर्थात् मोक्ष को नहीं पाता है और उसको संसार में ही रहनेवाला कहा है ।

भावार्थ – इच्छाकार का प्रधान अर्थ आपको चाहना है सो जिसके अपने स्वरूप की रुचिरूप सम्यक्त्व नहीं है, उसके सब मुनि श्रावक की आचरणरूप प्रवृत्ति मोक्ष का कारण नहीं है ॥१५॥

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करके उपदेश करते हैं -

एण कारणेण य तं अप्पा सदहेह तिविहेण ।

जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥१६॥

एतेन कारणेन च तं आत्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन ।

येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥१६॥

जो चाहता नहीं आत्मा वह आचरण कुछ भी करे ।

पर सिद्धि को पाता नहीं संसार में भ्रमता रहे ॥१५॥

बस इसलिए मन वचन तन से आत्म की आराधना ।

तुम करो जानो यत्न से मिल जाय शिवसुख साधना ॥१६॥

अर्थ – पहिले कहा कि जो आत्मा को इष्ट नहीं करता है उसके सिद्धि नहीं है, इस ही कारण से हे भव्यजीवो ! तुम उस आत्मा की श्रद्धा करो, उसका श्रद्धान करो, मन वचन काय से स्वरूप में रुचि करो, इसकारण से मोक्ष को पाओ और जिससे मोक्ष पाते हैं उसको प्रयत्न द्वारा सब प्रकार के उद्यम करके जानो । (भावपाहुड गाथा ८७ में भी यह बात है ।)

भावार्थ – जिससे मोक्ष पाते हैं, उस ही को जानना, श्रद्धान करना यह प्रधान उपदेश है, अन्य आडम्बर से क्या प्रयोजन ? इसप्रकार जानना ॥१६॥

आगे कहते हैं कि जो जिनसूत्र को जाननेवाले मुनि हैं, उनका स्वरूप फिर दृढ़ करने को कहते हैं –

वालगकोडिमेत्तं परिग्रहग्रहणं ण होइ साहूणं ।

भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णणं इक्कठाणम्मि ॥१७॥

बालाग्रकोटिमात्रं परिग्रहग्रहणं न भवति साधूनाम् ।

भुंजीत पाणिपात्रे दत्तमन्येन एकस्थाने ॥१७॥

अर्थ – बाल के अग्रभाग की कोटि अर्थात् अणी मात्र भी परिग्रह का ग्रहण साधु के नहीं होता है, यहाँ आशंका है कि यदि परिग्रह कुछ भी नहीं है तो आहार कैसे करते हैं ?

इसका समाधान करते हैं – आहार करते हैं सो पाणिपात्र (करपात्र) अपने हाथ ही में भोजन करते हैं, वह भी अन्य का दिया हुआ प्रासुक अन्न मात्र लेते हैं, वह भी एक स्थान पर ही लेते हैं, बारबार नहीं लेते हैं और अन्य-अन्य स्थान में नहीं लेते हैं ।

भावार्थ – जो मुनि आहार ही पर का दिया हुआ प्रासुक योग्य अन्नमात्र निर्दोष एकबार दिन में अपने हाथ में लेते हैं तो अन्य परिग्रह किसलिए ग्रहण करे ? अर्थात् ग्रहण नहीं करे, जिनसूत्र में इसप्रकार मुनि कहे है ॥१७॥

आगे कहते हैं कि अल्प परिग्रह ग्रहण करे उसमें दोष क्या है ? उसको दोष दिखाते हैं –

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु ।

जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण णिग्गोदम् ॥१८॥

बालाग्र के भी बराबर ना परीग्रह हो साधु के ।

अर अन्य द्वारा दत्त पाणीपात्र में भोजन करें ॥१७॥

जन्मते शिशुवत् अकिंचन नहीं तिल-तुष हाथ में ।

किंचित् परीग्रह साथ हो तो श्रमण जाँयें निगोद में ॥१८॥

यथाजातरूपसदृशः तिलतुषमात्रं न गृह्णाति

ह स् त य ा ः ।

यदि लाति अल्पबहुकं ततः पुनः याति निगोदम् ॥१८॥

अर्थ – मुनि यथाजातरूप है जैसे जन्मता बालक नग्नरूप होता है, वैसे ही नग्नरूप दिगम्बर मुद्रा का धारक है, वह अपने हाथ से तिल के तुषमात्र भी कुछ ग्रहण नहीं करता है और यदि कुछ थोड़ा बहुत लेवे-ग्रहण करे तो वह मुनि ग्रहण करने से निगोद में जाता है।

भावार्थ – मुनि यथाजातरूप दिगम्बर निर्ग्रन्थ को कहते हैं वह इसप्रकार होकर के भी कुछ परिग्रह रखे तो जानो कि इनके जिनसूत्र की श्रद्धा नहीं है, मिथ्यादृष्टि है इसलिए मिथ्यात्व का फल निगोद ही है, कदाचित् कुछ तपश्चरणादिक करे तो उससे शुभकर्म बांधकर स्वर्गादिक पावे तो भी फिर एकेन्द्रिय होकर संसार में ही भ्रमण करता है।

यहाँ प्रश्न है कि मुनि के शरीर है, आहार करता है, कमंडलु, पीछी, पुस्तक रखता है, यहाँ तिल तुषमात्र भी रखना नहीं कहा, सो कैसे ?

इसका समाधान यह है कि – मिथ्यात्व सहित रागभाव से अपनाकर अपने विषय कषाय पुष्ट करने के लिए रखे उसको परिग्रह कहते हैं, इस निमित्त कुछ थोड़ा बहुत रखने का निषेध किया है और केवल संयम के निमित्त का तो सर्वथा निषेध नहीं है। शरीर तो आयुपर्यन्त छोड़ने पर भी छूटता नहीं है, इनका तो ममत्व ही छूटता है सो उसका निषेध किया ही है। जबतक शरीर है, तबतक आहार नहीं करे तो सामर्थ्य ही नहीं हो, तब संयम नहीं सधे, इसलिए कुछ योग्य आहार विधिपूर्वक शरीर से रागरहित होते हुए भी लेकर के शरीर को खड़ा रखकर संयम साधते हैं।

कमंडलु बाह्य शौच का उपकरण है, यदि नहीं रखे तो मलमूत्र की अशुचिता से पंच परमेष्ठी की भक्ति-वंदना कैसे करे और लोकनिंद्य हो। पीछी दया का उपकरण है, यदि नहीं रखे तो जीवसहित भूमि आदि की प्रतिलेखना किससे करे? पुस्तक ज्ञान का उपकरण है यदि नहीं रखे तो पठन-पाठन कैसे हो? इन उपकरणों का रखना भी ममत्वपूर्वक नहीं है, इनसे रागभाव नहीं है। आहार-विहार-पठन-पाठन की क्रियायुक्त जबतक रहे; तबतक केवलज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता है, इन सब क्रियाओं को छोड़कर शरीर का ही सर्वथा ममत्व छोड़ ध्यान अवस्था लेकर तिष्ठे, अपने स्वरूप में लीन हो तब परम निर्ग्रन्थ अवस्था होती है, तब श्रेणी को प्राप्त हुए मुनिराज के केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अन्य क्रिया सहित हो तबतक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, इसप्रकार निर्ग्रन्थपना मोक्षमार्ग जिनसूत्र में कहा है।

श्वेताम्बर कहते हैं कि भव स्थिति पूरी होने पर सब अवस्थाओं में केवलज्ञान उत्पन्न होता है तो यह कहना मिथ्या है, जिनसूत्र का यह वचन नहीं है, इन श्वेताम्बरों ने कल्पित सूत्र बनाये हैं, उनमें लिखा होगा। फिर यहाँ श्वेताम्बर कहते हैं कि जो तुमने कहा वह तो उत्सर्गमार्ग है, अपवाद मार्ग में वस्त्रादिक उपकरण रखना कहा है, जैसे तुमने धर्मोपकरण कहे वैसे ही वस्त्रादिक भी धर्मोपकरण हैं, जैसे क्षुधा की बाधा आहार से मिटाकर संयम साधते हैं, वैसे ही शीत आदि की बाधा वस्त्र आदि से मिटाकर संयम साधते हैं, इसमें विशेष क्या ? इनको कहते हैं कि इसमें तो बड़े दोष आते हैं तथा कोई कहते हैं कि काम विकार उत्पन्न हो तब स्त्री सेवन करे तो इसमें क्या विशेष ? इसलिए इसप्रकार कहना युक्त नहीं है।

क्षुधा की बाधा तो आहार से मिटाना युक्त है, आहार के बिना देह अशक्त हो जाता है तथा छूट जावे तो अपघात का दोष आता है, परन्तु शीत आदि की बाधा तो अल्प है यह तो ज्ञानाभ्यास आदि के साधन से ही मिट जाती है। अपवादमार्ग कहा वह तो जिसमें मुनिपद रहे ऐसी क्रिया करना तो अपवादमार्ग है, परन्तु जिस परिग्रह से तथा जिस क्रिया से मुनिपद भ्रष्ट होकर गृहस्थ के समान हो जावे वह तो अपवादमार्ग नहीं है। दिग्म्बर मुद्रा धारण करके कमंडलु पीछी सहित आहार-विहार उपदेशादिक में प्रवर्ते वह अपवादमार्ग है और सब प्रवृत्ति को छोड़कर ध्यानस्थ हो शुद्धोपयोग में लीन हो जाने को उत्सर्गमार्ग कहा है। इसप्रकार मुनिपद अपने से सधता न जानकर किसलिए शिथिलाचार का पोषण करना ? मुनिपद की सामर्थ्य न हो तो श्रावकधर्म ही का पालन करना, परम्परा से इसी से सिद्धि हो जावेगी। जिनसूत्र की यथार्थ श्रद्धा रखने से सिद्धि है, इसके बिना अन्य क्रिया सब ही संसारमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं है, इसप्रकार जानना ॥१८॥

आगे इस ही का समर्थन करते हैं -

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स ।

सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो ॥१९॥

यस्य परिग्रहग्रहणं अल्पं बहुकं च भवति लिंगस्य ।

स गर्हाः जिनवचने परिग्रहरहितः निरागारः ॥१९॥

थोड़ा-बहुत भी परिग्रह हो जिस श्रमण के पास में।

वह निन्द्य है निर्ग्रन्थ होते जिनश्रमण आचार में ॥१९॥

अर्थ – जिसके मत में लिंग जो भेष उसके परिग्रह का अल्प तथा बहुत ग्रहण करना कहा है, वह मत तथा उसका श्रद्धावान पुरुष गर्हित है, निंदायोग्य है, क्योंकि जिनवचन में परिग्रह रहित ही निरागार है, निर्दोष मुनि है, इसप्रकार कहा है।

भावार्थ – श्वेताम्बरादिक के कल्पित सूत्रों में भेष में अल्प बहुत परिग्रह का ग्रहण कहा है, वह सिद्धान्त तथा उसके श्रद्धानी निंद्य हैं। जिनवचन में परिग्रह रहित को ही निर्दोष मुनि कहा है॥१९॥

आगे कहते हैं कि जिनवचन में ऐसा मुनि वन्दने योग्य कहा है -

पंचमहव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई ।

णिगंगंथमोक्खमगो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥२०॥

पंचमहाव्रतयुक्तः तिसृभिः गुप्तिभिः यः संयतो भवति ।

निर्ग्रन्थमोक्षमार्गः स भवति हि वन्दनीयः च ॥२०॥

अर्थ – जो मुनि पंच महाव्रत युक्त हो और तीन गुप्ति संयुक्त हो वह संयत है, संयमवान है और निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है तथा वह ही प्रगट निश्चय से वंदने योग्य है।

भावार्थ – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रत सहित हो और मन, वचन, कायरूप तीन गुप्ति सहित हो वह संयमी है, वह निर्ग्रन्थ स्वरूप है, वह ही वंदने योग्य है। जो कुछ अल्प बहुत परिग्रह रखे सो महाव्रती संयमी नहीं है, यह मोक्षमार्ग नहीं है और गृहस्थ के समान भी नहीं है ॥२०॥

आगे कहते हैं कि पूर्वोक्त एक भेष तो मुनि का कहा, अब दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक का इसप्रकार कहा है -

दुइयं च उच्च लिंगं उक्किट्टं अवरसावयाणं च ।

भिकखं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ॥२१॥

द्वितीयं चोक्तं लिंगं उत्कृष्टं अवरश्रावकाणां च ।

महाव्रत हों पाँच गुप्ती तीन से संयुक्त हों।

निरग्रन्थ मुक्ती पथिक वे ही वंदना के योग्य हैं ॥२०॥

जिनमार्ग में उत्कृष्ट श्रावक लिंग होता दूसरा।

भिक्षा ग्रहण कर पात्र में जो मौन से भोजन करे ॥२१॥

भिक्षां भ्रमति पात्रे समितिभाषया मौनेन ॥२१॥

अर्थ – द्वितीय लिंग अर्थात् दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक जो गृहस्थ नहीं है, इसप्रकार उत्कृष्ट श्रावक का कहा है, वह उत्कृष्ट श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक है, वह भ्रमण करके भिक्षा द्वारा भोजन करे और पत्ते अर्थात् पात्र में भोजन करे तथा हाथ में करे और समितिरूप प्रवर्तता हुआ भाषासमितिरूप बोले अथवा मौन से रहे।

भावार्थ – एक तो मुनि का यथाजातरूप कहा और दूसरा यह उत्कृष्ट श्रावक का कहा वह ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक है, वह एक वस्त्र तथा कोपीन मात्र धारण करता है और भिक्षा से भोजन करता है, पात्र में भी भोजन करता है और करपात्र में भी करता है, समितिरूप वचन भी कहता है अथवा मौन भी रखता है, इसप्रकार यह दूसरा भेष है ॥२१॥

आगे तीसरा लिंग स्त्री का कहते हैं -

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंड सुएयकालम्मि ।

अज्जिय वि एककवत्था वत्थावरणेण भुंजेदि ॥२२॥

लिंगं स्त्रीणां भवति भुंक्ते पिंडं स्वेक काले ।

आर्या अपि एकवस्त्रा वस्त्रावरणेन भुंक्ते ॥२२॥

अर्थ – स्त्रियों का लिंग इसप्रकार है - एक काल में भोजन करे, बारबार भोजन नहीं करे, आर्यिका भी हो तो एक वस्त्र धारण करे और भोजन करते समय भी वस्त्र के आवरण सहित करे, नग्न नहीं हो।

भावार्थ – स्त्री आर्यिका भी हो और क्षुल्लिका भी हो, वे दोनों ही भोजन तो दिन में एकबार ही करे, आर्यिका हो वह एक वस्त्र धारण किये हुए ही भोजन करे, नग्न नहीं हो। इसप्रकार तीसरा स्त्री का लिंग है ॥२२॥

आगे कहते हैं कि वस्त्र धारक के मोक्ष नहीं है, मोक्षमार्ग नग्नपणा ही है -

ण वि सिज्झदि वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो ।

अर नारियों का लिंग तीजा एक पट धारण करें।

वह नग्न ना हो दिवस में इकबार ही भोजन करें ॥२२॥

सिद्ध ना हो वस्त्रधर वह तीर्थकर भी क्यों न हो।

बस नग्नता ही मार्ग है अर शेष सब उन्मार्ग हैं ॥२३॥

णगो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥
 नापि सिध्यति वस्त्रधरः जिनशासने
 य छ पि भ व ति ती थ ँ क र : ।
 नग्नः विमोक्षमार्गः शेषा उन्मार्गकाः सर्वे ॥२३॥

अर्थ – जिनशासन में इसप्रकार कहा है कि वस्त्र को धारण करनेवाला सीझता नहीं है, मोक्ष नहीं पाता है, यदि तीर्थंकर भी हो तो जबतक गृहस्थ रहे तबतक मोक्ष नहीं पाता है, दीक्षा लेकर दिगम्बररूप धारण करे तब मोक्ष पावे; क्योंकि नग्नपना ही मोक्षमार्ग है, शेष सब लिंग उन्मार्ग है।

भावार्थ – श्वेताम्बर आदि वस्त्रधारक के भी मोक्ष होना कहते हैं, वह मिथ्या है, यह जिनमत नहीं है ॥२३॥

आगे स्त्रियों को दीक्षा नहीं है इसका कारण कहते हैं –

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
 भणिओ सुहुमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥
 लिंगे च स्त्रीणां स्तनांतरे नाभिकक्षदेशेषु ।
 भणितः सूक्ष्मः कायः तासां कथं भवति प्रव्रज्या ॥२४॥

अर्थ – स्त्रियों के लिंग अर्थात् योनि में, स्तनांतर अर्थात् दोनों कुचों के मध्य प्रदेश में तथा कक्ष अर्थात् दोनों काँखों में, नाभि में सूक्ष्मकाय अर्थात् दृष्टि के अगोचर जीव कहे हैं, अतः इसप्रकार स्त्रियों के प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा कैसे हो ?

भावार्थ – स्त्रियों के योनि, स्तन, कांख, नाभि में पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति निरन्तर कही है, इनके महाव्रतरूप दीक्षा कैसे हो ? महाव्रत कहे हैं वह उपचार से कहे हैं, परमार्थ से नहीं है, स्त्री अपने सामर्थ्य की हद्द को पहुँचकर व्रत धारण करती है, इस अपेक्षा से उपचार से महाव्रत कहे हैं ॥२४॥

आगे कहते हैं कि यदि स्त्री भी दर्शन से शुद्ध हो तो पापरहित है, भली है –

१. पाठान्तर – प्रव्रज्या । २. पाठान्तर – पावया ।

नारियों की योनि नाभी काँख अर स्तनों में ।
 जिन कहे हैं बहु जीव सूक्ष्म इसलिए दीक्षा न हो ॥२४॥
 पर यदी वह सददृष्टि हो संयुक्त हो जिनमार्ग में ।
 सद्आचरण से युक्त तो वह भी नहीं है पापमय ॥२५॥

जइ दंसणेण सुद्धा उक्ता मग्गेण सावि संजुक्ता ।
 घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण १पव्वया भणिया ॥२५॥
 यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता ।
 घोरं चरित्वा चारित्रं स्त्रीषु न पापका भणिता ॥२५॥

अर्थ – स्त्रियों में जो स्त्री दर्शन अर्थात् जिनमत की श्रद्धा से शुद्ध है, वह भी मार्ग से संयुक्त कही गई है। जो घोर चारित्र तीव्र तपश्चरणादिक आचरण से पापरहित होती है, इसलिए उसे पापयुक्त नहीं कहते हैं।

भावार्थ – स्त्रियों में जो स्त्री सम्यक्त्व सहित हो और तपश्चरण करे तो पापरहित होकर स्वर्ग को प्राप्त हो इसलिए प्रशंसा करने योग्य है, परन्तु स्त्रीपर्याय से मोक्ष नहीं है ॥२५॥

आगे कहते हैं कि स्त्रियों के ध्यान की सिद्धि भी नहीं है -

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण ।
 विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणा ॥२६॥
 चित्ताशोधि न तेषां शिथिलः भावः तथा स्वभावेन ।
 विद्यते मासा तेषां स्त्रीषु न शंकया ध्यानम् ॥२६॥

अर्थ – उन स्त्रियों के चित्त की शुद्धता नहीं है, वैसे ही स्वभाव ही से उनके ढीला भाव है, शिथिल परिणाम है और उनके मासा अर्थात् मास-मास में रुधिर का स्राव विद्यमान है, उसकी शंका रहती है उससे स्त्रियों के ध्यान नहीं है।

भावार्थ – ध्यान होता है वह चित्त शुद्ध हो, दृढ परिणाम हो, किसी तरह की शंका न हो तब होता है सो स्त्रियों के तीनों ही कारण नहीं हैं, तब ध्यान कैसे हो ? ध्यान के बिना केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो और केवलज्ञान के बिना मोक्ष नहीं है, श्वेताम्बरादिक मोक्ष कहते हैं, वह मिथ्या है ॥२६॥

आगे सूत्रपाहुड को समाप्त करते हैं, सामान्यरूप से सुख का कारण कहते हैं -

चित्तशुद्धी नहीं एवं शिथिलभाव स्वभाव से ।
 मासिकधरम से चित्त शंकित रहे वंचित ध्यान से ॥२६॥
 जलनिधि से पटशुद्धिवत जो अल्पग्राही साधु हैं ।
 हैं सर्व दुख से मुक्त वे इच्छा रहित जो साधु हैं ॥२७॥

गाहेण अप्पगाहा समुद्रसलिले सचेलअत्थेण ।
 इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं ॥२७॥
 ग्राह्येण अल्पग्राहाः समुद्रसलिले स्वचेलार्थेन ।
 इच्छा येभ्यः निवृत्ताः तेषां निवृत्तानि सर्वदुःखानि ॥२७॥

अर्थ – जो मुनि ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य वस्तु आहार आदिक से तो अल्पग्राह्य हैं, थोड़ा ग्रहण करते हैं, जैसे कोई पुरुष बहुत जल से भरे हुए समुद्र में से अपने वस्त्र को धोने के लिए वस्त्र धोनेमात्र जल ग्रहण करता है और जिन मुनियों के इच्छा निवृत्त हो गई उनके सब दुःख निवृत्त हो गये ।

भावार्थ – जगत में यह प्रसिद्ध है कि जिनके संतोष है, वे सुखी हैं, इस न्याय से यह सिद्ध हुआ कि जिन मुनियों के इच्छा की निवृत्ति हो गई है, उनके संसार के विषयसंबंधी इच्छा किंचित् मात्र भी नहीं हैं, देह से विरक्त हैं, इसलिए परम संतोषी हैं और आहारादि कुछ ग्रहण योग्य हैं, उनमें से भी अल्प को ग्रहण करते हैं इसलिए वे परम संतोषी हैं, वे परम सुखी हैं, यह जिनसूत्र के श्रद्धान का फल है, अन्य सूत्र में यथार्थ निवृत्ति का प्ररूपण नहीं है इसलिए कल्याण के सुख को चाहनेवालों को जिनसूत्र का निरंतर सेवन करना योग्य है ॥२७॥

ऐसे सूत्रपाहुड को पूर्ण किया ।

(छप्पय)

जिनवर की ध्वनि मेघध्वनिसम मुख तैं गरजे ।
 गणधर के श्रुति भूमि वरषि अक्षर पद सरजै ॥
 सकल तत्त्व परकास करै जगताप निवारै ।
 हेय अहेय विधान लोक नीकै मन धारै ॥
 विधि पुण्य पाप अरु लोक की मुनि श्रावक आचरण पुनि ।
 करि स्व-पर भेद निर्णय सकल कर्म नाशि शिव लहत मुनि ॥१॥

(दोहा)

वर्द्धमान जिनके वचन वरतैं पंचमकाल ।
 भव्य पाय शिवमग लहै नमूं तास गुणमाल ॥२॥

इति पण्डित जयचन्द्र छाबड़ा कृत देशभाषावचनिका के हिन्दी अनुवाद सहित
 श्रीकुन्दकुन्दस्वामि विरचित सूत्रपाहुड समाप्त ॥२॥



अथ चारित्रपाहुड

३

(दोहा)

वीतराग सर्वज्ञ जिन वंदूं मन वच काय ।
चारित धर्म बखानियो सांचो मोक्ष उपाय ॥१॥
कुन्दकुन्द मुनिराजकृत चारितपाहुड ग्रन्थ ।
प्राकृत गाथा बंध की करूं वचनिका पंथ ॥२॥

इसप्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके अब चारित्रपाहुड प्राकृत गाथाबंध की देशभाषामय वचनिका का हिन्दी अनुवाद लिखा जाता है, श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रथम ही मंगल के लिए इष्टदेव को नमस्कार करके चारित्रपाहुड को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं -

सव्वणहु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्टी ।
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥१॥
णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं ।
मोक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे ॥२॥युग्मम् ।
सर्वज्ञान सर्वदर्शिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः ।
वंदित्वा त्रिजगद्वंदितान् अर्हतः भव्यजीवैः ॥१॥
ज्ञानं दर्शनं सम्यक् चारित्रं शुद्धिकारणं तेषाम् ।
मोक्षाराधनहेतुं चारित्रं प्राभृतं वक्ष्ये ॥२॥युग्मम् ॥

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी अमोही अरिहंत जिन ।
त्रैलोक्य से हैं पूज्य जो उनके चरण में कर नमन ॥१॥
ज्ञान-दर्शन-चरण सम्यक् शुद्ध करने के लिए ।
चारित्रपाहुड कहूँ मैं शिवसाधना का हेतु जो ॥२॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि मैं अरहंत परमेष्ठी को नमस्कार करके चारित्रपाहुड को कहूंगा। अरहंत परमेष्ठी कैसे हैं ? अरहंत ऐसे प्राकृत अक्षर की अपेक्षा तो ऐसा अर्थ है – अकार आदि अक्षर से तो ‘अरि’ अर्थात् मोहकर्म, रकार आदि अक्षर की अपेक्षा रज अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म, उसे ही रकार से रहस्य अर्थात् अंतराय कर्म इसप्रकार से चार घातिया कर्मों का हनन घातना जिनके हुआ वे अरहन्त हैं। संस्कृत की अपेक्षा ‘अर्ह’ ऐसा पूजा अर्थ में धातु है, उससे ‘अर्हन्’ ऐसा निष्पन्न हो तब पूजायोग्य हो उसको अर्हत् कहते हैं, वह भव्यजीवों से पूज्य है। परमेष्ठी कहने से परम इष्ट अर्थात् उत्कृष्ट पूज्य हो उसे परमेष्ठी कहते हैं अथवा परम जो उत्कृष्टपद में तिष्ठे वह परमेष्ठी है। इसप्रकार इन्द्रादिक से पूज्य अरहन्त परमेष्ठी हैं।

सर्वज्ञ है, सब लोकालोकस्वरूप चराचर पदार्थों को प्रत्यक्ष जाने वह सर्वज्ञ है। सर्वदर्शी अर्थात् सब पदार्थों को देखनेवाले हैं। निर्मोह हैं, मोहनीय नाम के कर्म की प्रधान प्रकृति मिथ्यात्व है उससे रहित हैं। वीतराग हैं, जिसके विशेषरूप से राग दूर हो गया हो सो वीतराग है उनके चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से (उदयवश) हो ऐसा रागद्वेष भी नहीं है। त्रिजगद्वंद्व हैं, तीन जगत के प्राणी तथा उनके स्वामी इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तियों से वंदने योग्य हैं। इसप्रकार से अरहन्त पद को विशेष्य करके और अन्य पदों को विशेषण करके अर्थ किया है। सर्वज्ञ पद को विशेष्य करके और अन्य पदों को विशेषण करने पर इसप्रकार भी अर्थ होता है, परन्तु वहाँ अरहन्त भव्यजीवों से पूज्य हैं, इसप्रकार विशेषण होता है।

चारित्र कैसा है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीन आत्मा के परिणाम हैं, उनके शुद्धता का कारण है, चारित्र अंगीकार करने पर सम्यग्दर्शनादि परिणाम निर्दोष होता है। चारित्र मोक्ष के आराधन का कारण है, इसप्रकार चारित्र के पाहुड (प्राभृत) ग्रंथ को कहूंगा, इसप्रकार आचार्य ने मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा की है ॥१-२॥

आगे सम्यग्दर्शनादि तीन भावों का स्वरूप कहते हैं -

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं ।

णाणस्स णिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥३॥

यज्जानाति तत् ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं भणितम् ।

ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् भवति चारित्रम् ॥३॥

जो जानता वह ज्ञान है जो देखता दर्शन कहा।

समयोग दर्शन-ज्ञान का चारित्र जिनवर ने कहा ॥३॥

अर्थ – जो जानता है वह ज्ञान है। जो देखता है वह दर्शन है – ऐसे कहा है। ज्ञान और दर्शन के समायोग से चारित्र होता है।

भावार्थ – जाने वह तो ज्ञान और देखे, श्रद्धान हो, वह दर्शन तथा दोनों एकरूप होकर स्थिर होना चारित्र है ॥३॥

आगे कहते हैं कि जो तीन भाव जीव के हैं उनकी शुद्धता के लिए चारित्र दो प्रकार का कहा है –

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।

तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविहं चारित्तं ॥४॥

एते त्रयोऽपि भावाः भवंति जीवस्य अक्षयाः अमेयाः ।

त्रयाणामपि शोधनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रं ॥४॥

अर्थ – ये ज्ञान आदिक तीन भाव कहे, ये अक्षय और अनन्त जीव के भाव हैं, इनको शोधने के लिए जिनदेव ने दो प्रकार का चारित्र कहा है।

भावार्थ – जानना देखना और आचरण करना ये तीन भाव जीव के अक्षयान्त हैं, अक्षय अर्थात् जिसका नाश नहीं है, अमेय अर्थात् अनन्त जिसका पार नहीं है, सब लोकालोक को जाननेवाला ज्ञान है इसप्रकार ही दर्शन है, इसप्रकार ही चारित्र है तथापि घातिकर्म के निमित्त से अशुद्ध हैं जो ज्ञान दर्शन चारित्ररूप हैं, इसलिए श्रीजिनदेव ने इनको शुद्ध करने के लिए इनका चारित्र (आचरण करना) दो प्रकार का कहा है ॥४॥

आगे दो प्रकार का कहा सो कहते हैं –

जिणणाणदिट्टिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।

बिदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥५॥

जिनज्ञानदृष्टिशुद्धं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ।

द्वितीयं संयमचरणं जिनज्ञानसंदेशितं तदपि ॥५॥

तीन ही ये भाव जिय के अखय और अमेय हैं।

इन तीन के सुविकास को चारित्र दो विध जिन कहा ॥४॥

है प्रथम सम्यक्त्वाचरण जिन ज्ञानदर्शन शुद्ध है।

है दूसरा संयमचरण जिनवर कथित परिशुद्ध है ॥५॥

अर्थ – प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरणस्वरूप चारित्र है, वह जिनदेव के ज्ञान दर्शन श्रद्धान से किया हुआ शुद्ध है। दूसरा संयम का आचरणस्वरूप चारित्र है, वह भी जिनदेव के ज्ञान से दिखाया हुआ शुद्ध है।

भावार्थ – चारित्र दो प्रकार का कहा है। प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण कहा वह जो सर्वज्ञ के आगम में तत्त्वार्थ का स्वरूप कहा उसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना और उसके शंकादि अतिचार मल दोष कहे, उनका परिहार करके शुद्ध करना तथा उसके निःशंकितादि गुणों का प्रगट होना वह सम्यक्त्वचरण चारित्र है और जो महाव्रत आदि अंगीकार करके सर्वज्ञ के आगम में कहा जैसे संयम का आचरण करना और उसके अतिचार आदि दोषों को दूर करना संयमचरण चारित्र है, इसप्रकार संक्षेप से स्वरूप कहा ॥५॥

आगे सम्यक्त्वचरण चारित्र के मल दोषों का परिहार करके आचरण करना कहते हैं –

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाइ ।

परिहर सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥

एवं चैव ज्ञात्वा च सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शंकादीन् ।

परिहर सम्यक्त्वमलान् जिनभणितान् त्रिविधयोगेन ॥६॥

अर्थ – ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्र को जानकर मिथ्यात्व कर्म के उदय से हुए शंकादिक दोष सम्यक्त्व को अशुद्ध करनेवाले मल हैं, ऐसा जिनदेव ने कहा है, इनको मन, वचन, काय के तीनों योगों से छोड़ना।

भावार्थ – सम्यक्त्वाचरण चारित्र, शंकादिदोष सम्यक्त्व के मल हैं उनको त्यागने पर शुद्ध होता है, इसलिए इनको त्याग करने का उपदेश जिनदेव ने किया है। वे दोष क्या हैं वह कहते हैं – जिनवचन में वस्तु का स्वरूप कहा, उसमें संशय करना शंका दोष है, इसके होने पर सप्तभय के निमित्त से स्वरूप से चिग जाय वह भी शंका है। भोगों की अभिलाषा कांक्षा दोष है, इसके होने पर भोगों के लिए स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है। वस्तु के स्वरूप अर्थात् धर्म में ग्लानि करना जुगुप्सा दोष है, इसके होने पर धर्मात्मा पुरुषों के पूर्व कर्म के उदय से बाह्य मलिनता देखकर मत से चिग जाना होता है।

देव, गुरु, धर्म तथा लौकिक कार्यों में मूढता अर्थात् यथार्थ स्वरूप को न जानना सो मूढदृष्टि

सम्यक्त्व के जो दोष मल शंकादि जिनवर ने कहे ।

मन-वचन-तन से त्याग कर सम्यक्त्व निर्मल कीजिए ॥६॥

दोष है, इसके होने पर अन्य लौकिकजनों से माने हुए सरागी देव, हिंसाधर्म और सग्रन्थ गुरु तथा लोगों के बिना विचार किये ही माने गये अनेक क्रियाविशेषों से विभवादिक की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति करने से यथार्थ मत भ्रष्ट हो जाता है। धर्मात्मा पुरुषों में कर्म के उदय से कुछ दोष उत्पन्न हुआ देखकर उनकी अवज्ञा करना सो अनुपगूहन दोष है, इसके होने पर धर्म से छूट जाना होता है।

धर्मात्मा पुरुषों को कर्म के उदय के वश से धर्म से चिगते देखकर उनकी स्थिरता न करना अस्थितिकरण दोष है, इसके होने पर ज्ञात होता है कि इसको धर्म से अनुराग नहीं है और अनुराग का न होना सम्यक्त्व में दोष है।

धर्मात्मा पुरुषों से विशेष प्रीति न करना अवात्सल्य दोष है, इसके होने पर सम्यक्त्व का अभाव प्रगट सूचित होता है। धर्म का माहात्म्य शक्ति के अनुसार प्रगट न करना अप्रभावना दोष है, इसके होने पर ज्ञात होता है कि इसके धर्म के माहात्म्य की श्रद्धा प्रगट नहीं हुई है।

इसप्रकार ये आठ दोष सम्यक्त्व के मिथ्यात्व के उदय से (उदय के वश होने से) होते हैं, जहाँ ये तीव्र हों वहाँ तो मिथ्यात्व प्रकृति का उदय बताते हैं, सम्यक्त्व का अभाव बताते हैं और जहाँ कुछ मन्द अतिचाररूप हों तो सम्यक्त्व प्रकृति नामक मिथ्यात्व की प्रकृति के उदय से हो वे अतिचार कहलाते हैं, वहाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का सद्भाव होता है, परमार्थ से विचार करें तो अतिचार त्यागने ही योग्य हैं।

इन दोषों के होने पर अन्य भी मल प्रगट होते हैं, वे तीन मूढताएँ हैं - १. देवमूढता, २. पाखण्डमूढता, ३. लोकमूढता। किसी वर की इच्छा से सरागी देवों की उपासना करना उनकी पाषाणादि में स्थापना करके पूजना देवमूढता है। ढोंगी गुरुओं में मूढता-परिग्रह, आरंभ, हिंसादि सहित पाखण्डी (ढोंगी) भेषधारियों का सत्कार पुरस्कार करना पाखण्डमूढता है। लोकमूढता-अन्य मतवालों के उपदेश से तथा स्वयं ही बिना विचारे कुछ प्रवृत्ति करने लग जाय वह लोकमूढता है, जैसे सूर्य को अर्घ देना, ग्रहण में स्नान करना, संक्रांति में दान करना, अग्नि का सत्कार करना, देहली, घर, कुंआ पूजना, गाय की पूंछ को नमस्कार करना, गाय के मूत्र को पीना, रत्न, घोड़ा आदि वाहन, पृथ्वी, वृक्ष, शस्त्र, पर्वत आदिक की सेवा-पूजा करना, नदी-समुद्र आदि को तीर्थ मानकर उनमें स्नान करना, पर्वत से गिरना, अग्नि में प्रवेश करना इत्यादि जानना।

छह अनायतन हैं - कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनके भक्त ऐसे छह हैं, इनको धर्म के स्थान जानकर इनकी मन से प्रशंसा करना, वचन से सराहना करना, काय से वंदना करना, ये धर्म के स्थान नहीं हैं, इसलिए इनको अनायतन कहते हैं। जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या,

ऐश्वर्य, इनका गर्व करना आठ मद हैं, जाति मातापक्ष है, लाभ धनादिक कर्म के उदय के आश्रय है, कुल पितापक्ष है, रूप कर्मोदयाश्रित है, तप अपने स्वरूप को साधने का साधन है, बल कर्मोदयाश्रित है, विद्या कर्म के क्षयोपशमाश्रित है, ऐश्वर्य कर्मोदयाश्रित है, इनका गर्व क्या? परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले का गर्व करना सम्यक्त्व का अभाव बताता है अथवा मलिनता करता है। इसप्रकार ये पच्चीस सम्यक्त्व के मल दोष हैं, इनका त्याग करने पर सम्यक्त्व शुद्ध होता है, वही सम्यक्त्वाचरण चारित्र का अंग है ॥६॥

आगे शंकादि दोष दूर होने पर सम्यक्त्व के आठ अंग प्रगट होते हैं, उनको कहते हैं -

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य ।

उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ट ॥७॥

निःशंकितं निःकांक्षितं निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टी च ।

उपगूहनं स्थितिकरणं वात्सल्यं प्रभावना च ते अष्टौ ॥७॥

अर्थ - निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं।

भावार्थ - ये आठ अंग पहिले कहे हुए शंकादि दोषों के अभाव से प्रगट होते हैं, इनके उदाहरण पुराणों में हैं, उनकी कथा से जानना। निःशंकित अंग का अंजन चोर का उदाहरण है, जिसने जिनवचन में शंका न की, निर्भय हो छींके की लड़ काटकर के मंत्र सिद्ध किया। निःकांक्षित का सीता, अनंतमती, सुतारा आदि का उदाहरण है, जिन्होंने भोगों के लिए धर्म को नहीं छोड़ा। निर्विचिकित्सा का उदायन राजा का उदाहरण है, जिसने मुनि का शरीर अपवित्र देखकर भी ग्लानि नहीं की। अमूढदृष्टि का रेवतीरानी का उदाहरण है, जिसको विद्याधर ने अनेक महिमा दिखाई तो भी श्रद्धान से शिथिल नहीं हुई।

उपगूहन का जिनेन्द्रभक्त सेठ का उदाहरण है, जिसने चोर, जिसने ब्रह्मचारी का भेष बनाकर छत्र की चोरी की, उसको ब्रह्मचर्यपद की निंदा होती जानकर उसके दोष को छिपाया। स्थितिकरण का वारिषेण का उदाहरण है, जिसने पुष्पदंत ब्राह्मण को मुनिपद से शिथिल हुआ जानकर दृढ़ किया। वात्सल्य का विष्णुकुमार का उदाहरण है, जिनने अकंपन आदि मुनियों का उपसर्ग निवारण किया। प्रभावना में वज्रकुमार मुनि का उदाहरण है, जिसने विद्याधर से सहायता पाकर

निशंक और निकांक्ष अर निग्लान दृष्टि-अमूढ है।

उपगूहन अर थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना ॥७॥

धर्म की प्रभावना की। ऐसे आठ अंग प्रगट होने पर सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है, जैसे शरीर में हाथ-पैर होते हैं, वैसे ही ये सम्यक्त्व के अंग हैं, ये न हों तो विकलांग होता है ॥७॥

आगे कहते हैं कि इसप्रकार पहिला सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है -

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुखठाणाए ।

जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥८॥

तच्चैव गुणविसुद्धं जिनसम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय ।

तत् चरति ज्ञानयुक्तं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ॥८॥

अर्थ - वह जिनसम्यक्त्व अर्थात् अरहंत जिनदेव की श्रद्धा निःशंकित आदि गुणों से विशुद्ध हो उसका यथार्थ ज्ञान के साथ आचरण करे वह प्रथम सम्यक्त्वचरण चारित्र है, वह मोक्ष स्थान के लिए होता है।

भावार्थ - सर्वज्ञभाषित तत्त्वार्थ की श्रद्धा निःशंकित आदि गुण सहित, पच्चीस मल दोष रहित, ज्ञानवान आचरण करे उसको सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते हैं। वह मोक्ष की प्राप्ति के लिए होता है, क्योंकि मोक्षमार्ग में पहिले सम्यग्दर्शन कहा है, इसलिए मोक्षमार्ग में प्रधान यह ही है ॥८॥

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्र को अंगीकार करके संयमचरण चारित्र को अंगीकार करे तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है -

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुप्रसिद्धा ।

णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥९॥

सम्यक्त्वचरणशुद्धाः संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः ।

ज्ञानिनः अमूढदृष्टयः अचिरं प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥९॥

अर्थ - जो ज्ञानी होते हुए अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वाचरण चारित्र से शुद्ध होता है और जो संयमचरण चारित्र से सम्यक् प्रकार शुद्ध हो तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

इन आठ गुण से शुद्ध सम्यक् मूलतः शिवथान है।

सद्ज्ञानयुत आचरण यह सम्यक्चरण चारित्र है ॥८॥

सम्यक्चरण से शुद्ध अर संयमचरण से शुद्ध हों।

वे समकिती सद्ज्ञानिजन निर्वाण पावें शीघ्र ही ॥९॥

भावार्थ – जो पदार्थों के यथार्थज्ञान से मूढदृष्टिरहित विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होकर सम्यक्चारित्र स्वरूप संयम का आचरण करे तो शीघ्र ही मोक्ष को पावे, संयम अंगीकार करने पर स्वरूप के साधनरूप एकाग्र धर्मध्यान के बल से सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानरूप हो श्रेणी चढ़ अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान उत्पन्न कर अघातिकर्म का नाश करके मोक्ष प्राप्त करता है, यह सम्यक्त्वचरण चारित्र का ही माहात्म्य है ॥१॥

आगे कहते हैं कि जो सम्यक्त्व के आचरण से भ्रष्ट हैं और वे संयम का आचरण करते हैं तो भी मोक्ष नहीं पाते हैं –

सम्मत्तचरणभट्टा संजमचरणं चरन्ति जे वि णरा ।

अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिब्वाणं ॥१०॥

सम्यक्त्वचरणभ्रष्टाः संयमचरणं चरन्ति येऽपि नराः ।

अज्ञानज्ञानमूढाः तथाऽपि न प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥१०॥

अर्थ – जो पुरुष सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट है और संयम का आचरण करते हैं तो भी वे अज्ञान से मूढदृष्टि होते हुए निर्वाण को नहीं पाते हैं ।

भावार्थ – सम्यक्त्वाचरण चारित्र के बिना संयमचरण चारित्र निर्वाण का कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के बिना तो ज्ञान मिथ्या कहलाता है सो इसप्रकार सम्यक्त्व के बिना चारित्र के भी मिथ्यापना आता है ॥१०॥

आगे प्रश्न उत्पन्न होता है कि इसप्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्र के चिह्न क्या हैं, जिनसे उसको जाने, इसके उत्तरस्वरूप गाथा में सम्यक्त्व के चिह्न कहते हैं –

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए ।

मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ॥११॥

एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं ।

जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥१२॥

सम्यक्चरण से भ्रष्ट पर संयमचरण आचरें जो ।

अज्ञान मोहित मती वे निर्वाण को पाते नहीं ॥१०॥

विनयवत्सल दयादानरु मार्ग का बहुमान हो ।

संवेग हो हो उपागूहन स्थितिकरण का भाव हो ॥११॥

अर सहज आर्जव भाव से ये सभी लक्षण प्रगट हों ।

तो जीव वह निर्मोह मन से करे सम्यक् साधना ॥१२॥

वात्सल्यं विनयेन च अनुकंपया सुदान दक्षया ।
 मार्गगुणशंसनया उपगूहनं रक्षणेन च ॥११॥
 एतैः लक्षणैः च लक्ष्यते आर्जवैः भावैः ।
 जीवः आराधयन् जिनसम्यक्त्वं अमोहेन ॥१२॥

अर्थ – जिनदेव की श्रद्धा सम्यक्त्व को मोह अर्थात् मिथ्यात्व रहित आराधना करता हुआ जीव इन लक्षणों से अर्थात् चिह्नों से पहिचाना जाता है – प्रथम तो धर्मात्मा पुरुषों से जिसके वात्सल्यभाव हो जैसे तत्काल की प्रसूतिवान गाय के बच्चे से प्रीति होती है वैसी धर्मात्मा से प्रीति हो, एक तो यह चिह्न है ।

सम्यक्त्वादि गुणों से अधिक हो उसका विनय सत्कारादिक जिसके अधिक हो, ऐसा विनय, एक यह चिह्न है, दुखी प्राणी देखकर करुणा भाव स्वरूप अनुकम्पा जिसके हो, यह एक चिह्न है, अनुकम्पा कैसी हो ? भले प्रकार दान से योग्य हो । निर्ग्रन्थस्वरूप मोक्षमार्ग की प्रशंसा सहित हो, एक यह चिह्न है, जो मार्ग की प्रशंसा न करता हो तो जानो कि इसके मार्ग की दृढ श्रद्धा नहीं है । धर्मात्मा पुरुषों के कर्म के उदय से (उदयवश) दोष उत्पन्न हो उसको विख्यात न करे इसप्रकार उपगूहन भाव हो, एक यह चिह्न है । धर्मात्मा को मार्ग से चिगता जानकर उसकी स्थिरता करे ऐसा रक्षण नाम का चिह्न है; इसको स्थितिकरण भी कहते हैं । इन सब चिह्नों को, सत्यार्थ करनेवाला एक आर्जवभाव है, क्योंकि निष्कपट परिणाम से सब चिह्न प्रगट होते हैं, सत्यार्थ होते हैं, इतने लक्षणों से सम्यग्दृष्टि को जान सकते हैं ।

भावार्थ – सम्यक्त्वभाव मिथ्यात्व कर्म के अभाव से जीवों का निजभाव प्रगट होता है सो वह भाव तो सूक्ष्म है, छद्मस्थ के ज्ञानगोचर नहीं है और उसके बाह्य चिह्न सम्यग्दृष्टि के प्रगट होते हैं, उनसे सम्यक्त्व हुआ जाना जाता है । जो वात्सल्य आदि भाव कहे वे आपके तो अपने अनुभवगोचर होते हैं और अन्य के उसकी वचन काय की क्रिया से जाने जाते हैं, उनकी परीक्षा जैसे अपने क्रियाविशेष से होती है, वैसे अन्य की भी क्रियाविशेष से परीक्षा होती है, इसप्रकार व्यवहार है, यदि ऐसा न हो तो सम्यक्त्व व्यवहार मार्ग का लोप हो इसलिए व्यवहारी प्राणी को व्यवहार का ही आश्रय कहा है, परमार्थ को सर्वज्ञ जानता है ॥११-१२॥

आगे कहते हैं कि जो ऐसे कारण सहित हो तो सम्यक्त्व छोड़ता है –

उच्छाहभावणासंपसंसेवा कुदंसणे सद्धा ।
 अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं ॥१३॥

अज्ञानमोहित मार्ग की शंसा करे उत्साह से ।
 श्रद्धा कुदर्शन में रहे तो बमे सम्यक्भाव को ॥१३॥

उत्साहभावना शंप्रशंसासेवा कुदर्शने श्रद्धा ।

अज्ञानमोहमार्गे कुर्वन् जहाति जिनसम्यक्त्वम् ॥१३॥

अर्थ – कुदर्शन अर्थात् नैयायिक, वैशेषिक, सांख्यमत, मीमांसकमत, वेदान्तमत, बौद्धमत, चार्वाकमत, शून्यवाद के मत इनके भेष तथा इनके भाषित पदार्थ और श्वेताम्बरादिक जैनाभास इनमें श्रद्धा, उत्साह, भावना, प्रशंसा और इनकी उपासना व सेवा जो पुरुष करता है, वह जिनमत की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को छोड़ता है, वह कुदर्शन, अज्ञान और मिथ्यात्व का मार्ग है ।

भावार्थ – अनादिकाल से मिथ्यात्वकर्म के उदय से (उदयवश) यह जीव संसार में भ्रमण करता है सो कोई भाग्य के उदय से जिनमार्ग की श्रद्धा हुई हो और मिथ्यामत के प्रसंग से मिथ्यामत में कुछ कारण से उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा, श्रद्धा उत्पन्न हो तो सम्यक्त्व का अभाव हो जाय, क्योंकि जिनमत के सिवाय अन्य मतों में छद्मस्थ अज्ञानियों द्वारा प्ररूपित मिथ्या पदार्थ तथा मिथ्या प्रवृत्तिरूप मार्ग है, उसकी श्रद्धा आवे तब जिनमत की श्रद्धा जाती रहे, इसलिए मिथ्यादृष्टियों का संसर्ग ही नहीं करना, इसप्रकार भावार्थ जानना ॥१३॥

आगे कहते हैं कि जो ये ही उत्साह भावनादिक कहे वे सुदर्शन में हों तो जिनमत की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है -

उच्छाहभावणासंपसंसेवा सुदंसणे सद्धा ।

ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥१४॥

उत्साहभावना शंप्रशंससेवाः सुदर्शने श्रद्धां ।

न जहाति जिनसम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञानमार्गेण ॥१४॥

अर्थ – सुदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप सम्यक्मार्ग में उत्साहभावना अर्थात् ग्रहण करने का उत्साह करके बारम्बार चिन्तवनरूप भाव और प्रशंसा अर्थात् मन वचन काय से भला जानकर स्तुति करना, सेवा अर्थात् उपासना, पूजनादिक करना और श्रद्धा करना, इसप्रकार जो पुरुष ज्ञानमार्ग से यथार्थ जानकर करता है, वह जिनमत की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है ।

भावार्थ – जिनमत में उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा, श्रद्धा जिसके हो वह सम्यक्त्व से च्युत नहीं होता है ॥१४॥

सद्ज्ञान सम्यक्भाव की शंसा करे उत्साह से ।

श्रद्धा सुदर्शन में रहे ना बमे सम्यक्भाव को ॥१४॥

आगे अज्ञान मिथ्यात्व कुचारित्र के त्याग का उपदेश करते हैं -

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जह णाणे विसुद्धसम्मत्ते ।
अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥१५॥
अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्जय ज्ञाने विशुद्धसम्यक्त्वे ।
अथ मोहं सारंभं परिहर धर्मे अहिंसायाम् ॥१५॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि हे भव्य ! तू ज्ञान के होने पर तो अज्ञान का त्याग कर, विशुद्ध सम्यक्त्व के होने पर मिथ्यात्व का त्याग कर और अहिंसा लक्षण धर्म के होने पर आरंभसहित मोह को छोड़ ।

भावार्थ - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होने पर फिर मिथ्यादर्शन 'ज्ञान, चारित्र में मत प्रवर्तो, इसप्रकार उपदेश है ॥१५॥

आगे फिर उपदेश करते हैं -

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे ।
होइ सुविसुद्धज्ञाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥१६॥
प्रब्रज्यायां संगत्यागे प्रवर्त्तस्व सुतपसि सुसंयमेभावे ।
भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे वीतरागत्वे ॥१६॥

अर्थ - हे भव्य ! तू संग अर्थात् परिग्रह का त्याग जिसमें हो ऐसी दीक्षा ग्रहण कर और भले प्रकार संयमस्वरूप भाव होने पर सम्यक् प्रकार तप में प्रवर्तन कर जिससे तेरे मोहरहित वीतरागपना होने पर निर्मल धर्म शुक्लध्यान हो ।

भावार्थ - निर्ग्रन्थ हो दीक्षा लेकर संयमभाव से भले प्रकार तप में प्रवर्तन करे, तब संसार का मोह दूर होकर वीतरागपना हो, फिर निर्मल धर्मध्यान शुक्लध्यान होते हैं, इसप्रकार ध्यान से केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए इसप्रकार उपदेश है ॥१६॥

आगे कहते हैं कि यह जीव अज्ञान और मिथ्यात्व के दोष से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करता है ।

तज मूढता अज्ञान हे जिय ज्ञान-दर्शन प्राप्त कर ।
मद मोह हिंसा त्याग दे जिय अहिंसा को साधकर ॥१५॥
सब संग तज ग्रह प्रब्रज्या रम सुतप संयमभाव में ।
निर्मोह हो तू वीतरागी लीन हो शुधध्यान में ॥१६॥

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं ।

वज्झंति मूढजीवा ँमिच्छत्ताबुद्धिउदएण ॥१७॥

मिथ्यादर्शनमार्गे मलिने अज्ञानमोहदोषैः ।

बध्यन्ते मूढजीवाः मिथ्यात्वाबुद्ध्युदयेन ॥१७॥

अर्थ – मूढ जीव अज्ञान और मोह अर्थात् मिथ्यात्व के दोषों से मलिन जो मिथ्यादर्शन अर्थात् कुमत के मार्ग में मिथ्यात्व और अबुद्धि अर्थात् अज्ञान के उदय से प्रवृत्ति करते हैं ।

भावार्थ – ये मूढजीव मिथ्यात्व और अज्ञान के उदय से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तते हैं, इसलिए मिथ्यात्व अज्ञान का नाश करना यह उपदेश है ॥१७॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-श्रद्धान से चारित्र के दोष दूर होते हैं -

सम्मदंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।

सम्मेण य सदहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥१८॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान् ।

सम्यक्त्वेन च श्रद्धाति च परिहरति चारित्रजान् दोषान् ॥१८॥

अर्थ – यह आत्मा सम्यग्दर्शन से तो सत्तामात्र वस्तु को देखता है, सम्यग्ज्ञान से द्रव्य और पर्यायों को जानता है, सम्यक्त्व से द्रव्य पर्याय स्वरूप सत्तामयी वस्तु का श्रद्धान करता है और इसप्रकार देखना, जानना व श्रद्धान होता है तब चारित्र अर्थात् आचरण में उत्पन्न हुए दोषों को छोड़ता है ।

भावार्थ – वस्तु का स्वरूप द्रव्य पर्यायात्मक सत्ता स्वरूप है सो जैसा है वैसा देखे-जाने श्रद्धान करे तब आचरण शुद्ध करे सो सर्वज्ञ के आगम से वस्तु का निश्चय करके आचरण करना । वस्तु है वह द्रव्यपर्याय स्वरूप है । द्रव्य का सत्तालक्षण है तथा गुणपर्यायवान् को द्रव्य कहते हैं । पर्याय दो प्रकार की हैं, सहवर्ती और क्रमवर्ती । सहवर्ती को गुण कहते हैं और क्रमवर्ती को पर्याय

१. पाठान्तर - मिच्छत्ता बुद्धिदोसेण ।

मोहमोहित मलिन मिथ्यामार्ग में ये भूल जिय ।

अज्ञान अर मिथ्यात्व कारण बंधनों को प्राप्त हो ॥१७॥

सद्ज्ञानदर्शन जानें देखें द्रव्य अर पर्यायों को ।

सम्यक् करे श्रद्धान अर जिय तजे चरणज दोष को ॥१८॥

कहते हैं। द्रव्य सामान्यरूप से एक है तो भी विशेषरूप से छह हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जीव के दर्शन-ज्ञानमयी चेतना तो गुण है और अचक्षु आदि दर्शन, मति आदिक ज्ञान तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि व नर, नारकादि विभाव पर्याय है, स्वभावपर्याय अगुरुलघु गुण के द्वारा हानि-वृद्धि का परिणमन है। पुद्गलद्रव्य के स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप मूर्तिकपना तो गुण है और स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण का भेदरूप परिणमन तथा अणु से स्कन्धरूप होना तथा शब्द, बन्ध आदिरूप होना इत्यादि पर्याय है। धर्म, अधर्म द्रव्य के गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्वपना तो गुण है और इस गुण के जीव-पुद्गल के गति-स्थिति के भेदों से भेद होते हैं वे पर्याय हैं तथा अगुरुलघु गुण के द्वारा हानि-वृद्धि का परिणमन होता है जो स्वभाव पर्याय है।

आकाश का अवगाहना गुण है और जीव-पुद्गल आदि के निमित्त से प्रदेशभेद कल्पना किये जाते हैं वे पर्याय हैं तथा हानि-वृद्धि का परिणमन वह स्वभाव पर्याय है। कालद्रव्य का वर्तना तो गुण है और जीव और पुद्गल के निमित्त से समय आदि कल्पना सो पर्याय है, इसको व्यवहार काल भी कहते हैं तथा हानि-वृद्धि का परिणमन वह स्वभावपर्याय है इत्यादि। इनका स्वरूप जिन आगम से जानकर देखना, जानना, श्रद्धान करना, इससे चारित्र शुद्ध होता है। बिना ज्ञान, श्रद्धान के आचरण शुद्ध नहीं होता है, इसप्रकार जानना ॥१८॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन भाव मोहरहित जीव के होते हैं, इनका आचरण करता हुआ शीघ्र मोक्ष पाता है -

ए ए तिणि वि भावा हवन्ति जीवस्स मोहरहियस्स ।

णियगुणमाराहंतो अचिरेण य कम्म परिहरइ ॥१९॥

एते त्रयोऽपि भावाः भवन्ति जीवस्य मोहरहितस्य ।

निजगुणमाराधयन् अचिरेण च कर्म परिहरति ॥१९॥

अर्थ - ये पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन भाव हैं, ये निश्चय से मोह अर्थात् मिथ्यात्व रहित जीव के होते हैं, तब यह जीव अपना निजगुण जो शुद्ध दर्शन ज्ञानमयी चेतना की आराधना करता हुआ थोड़े ही काल में कर्म का नाश करता है।

भावार्थ - निजगुण के ध्यान से शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष पाता है ॥१९॥

सद्ज्ञानदर्शनचरण होते हैं अमोही जीव को।

अर स्वयं की आराधना से हरे बन्धन शीघ्र वे ॥१९॥

आगे इस सम्यक्त्वाचरण चारित्र के कथन का संकोच करते हैं -

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमत्ता^१ णं ।
सम्मत्तमणुचरंता करेति दुक्खक्खयं धीरा ॥२०॥
संख्येयामसंख्येयगुणां संसारिमेरुमात्रा णं ।
सम्यक्त्वमनुचरंतः कुर्वन्ति दुःखक्षयं धीराः ॥२०॥

अर्थ - सम्यक्त्व का आचरण करते हुए धीर पुरुष संख्यातगुणी तथा असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा करते हैं और कर्मों के उदय से हुए संसार के दुःख का नाश करते हैं। कर्म कैसे हैं ? संसारी जीवों के मेरु अर्थात् मर्यादा मात्र हैं और सिद्ध होने के बाद कर्म नहीं हैं।

भावार्थ - इस सम्यक्त्व का आचरण होने पर प्रथम काल में तो गुणश्रेणी निर्जरा होती है, वह असंख्यात के गुणाकाररूप है। पीछे जबतक संयम का आचरण नहीं होता है, तबतक गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती है। वहाँ संख्यात के गुणाकाररूप होती है इसलिए संख्यातगुण और असंख्यातगुण इसप्रकार दोनों वचन कहे। कर्म तो संसार अवस्था है, जबतक है उसमें दुःख का कारण मोहकर्म है, उसमें मिथ्यात्व कर्म प्रधान है। सम्यक्त्व के होने पर मिथ्यात्व का तो अभाव ही हुआ और चारित्रमोह दुःख का कारण है, सो यह भी जबतक है तबतक उसकी निर्जरा करता है, इसप्रकार अनुक्रम से दुःख का क्षय होता है। संयमाचरण के होने पर सब दुःखों का क्षय होवेगा ही। सम्यक्त्व का माहात्म्य इसप्रकार है कि सम्यक्त्वाचरण होने पर संयमाचरण भी शीघ्र ही होता है, इसलिए सम्यक्त्व को मोक्षमार्ग में प्रधान जानकर इस ही का वर्णन पहिले किया है ॥२०॥

आगे संयमाचरण चारित्र को कहते हैं -

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं ।
सायारं सगंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ॥२१॥
द्विविधं संयमचरणं सागारं तथा भवेत् निरागारं ।

१. 'संसारिमेरुमता' 'सासारि मेरुमिता' इसका सटीक संस्कृत प्रति में सर्षपमेरुमात्रां इसप्रकार है।

२. पाठान्तरः - संगंथं ।

सम्यक्त्व के अनुचरण से दुख क्षय करें सब धीरजन ।
अर करें वे जिय संख्य और असंख्य गुणमय निर्जरा ॥२०॥
सागार अर अनगार से यह द्विविध है संयमचरण ।
सागार हों सग्रन्थ अर निर्ग्रन्थ हों अणगार सब ॥२१॥

सागारं सग्रन्थे परिग्रहाद्रहिते खलु निरागारम् ॥२१॥

अर्थ – संयमचरण चारित्र दो प्रकार का है, सागार और निरागार। सागार तो परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निरागार परिग्रह से रहित मुनि के होता है, यह निश्चय है ॥२१॥

आगे सागार संयमाचरण को कहते हैं -

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य ।

बंभारंभापरिग्गह अणुमण उद्दिट्ट देसविरदो य ॥२२॥

दर्शनं व्रतं सामायिकं प्रोषधं सचित्तं रात्रिभुक्तिश्च ।

ब्रह्म आरंभः परिग्रहः अनुमतिः उद्दिष्ट देशविरतश्च ॥२२॥

अर्थ – दर्शन, व्रत, सामायिक और प्रोषध आदि का नाम एकदेश है और नाम ऐसे कहे हैं, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग, इसप्रकार ग्यारह प्रकार देशविरत है।

भावार्थ – ये सागार संयमाचरण के ग्यारह स्थान हैं, इनको प्रतिमा भी कहते हैं ॥२२॥

आगे इन स्थानों में संयम का आचरण किसप्रकार से है, वह कहते हैं -

पंचेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।

सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥२३॥

पंचैव अणुव्रतानि गुणव्रतानि भवंति तथा त्रीणि ।

शिक्षाव्रतानि चत्वारि संयमचरणं च सागारम् ॥२३॥

अर्थ – पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – इसप्रकार बारह प्रकार का संयमचरण चारित्र है, जो सागार है, ग्रन्थसहित श्रावक के होता है इसलिए सागार कहा है।

प्रश्न – ये बारह प्रकार तो व्रत के कहे और पहिले गाथा में ग्यारह नाम कहे, उनमें प्रथम दर्शन नाम कहा उसमें ये व्रत कैसे होते हैं ?

इसका समाधान अणुव्रत ऐसा नाम किंचित् व्रत का है, वह पाँच अणुव्रतों में से किंचित् यहाँ

देशव्रत सामायिक प्रोषध सचित निशिभुज त्यागमय ।

ब्रह्मचर्य आरम्भ ग्रन्थ तज अनुमति अर उद्देश्य तज ॥२२॥

पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत कहे ।

यह गृहस्थ का संयमचरण इस भांति सब जिनवर कहें ॥२३॥

भी होते हैं, इसलिए दर्शन प्रतिमा का धारक भी अणुव्रती ही है, इसका नाम दर्शन ही कहा। यहाँ इसप्रकार जानना कि इसके केवल सम्यक्त्व ही होता है और अव्रती है, अणुव्रत नहीं है इसके अणुव्रत अतिचार सहित होते हैं इसलिए व्रती नाम नहीं कहा। दूसरी प्रतिमा में अणुव्रत अतिचार रहित पालता है इसलिए व्रत नाम कहा है, यहाँ सम्यक्त्व के अतिचार टालता है, सम्यक्त्व ही प्रधान है, इसलिए दर्शनप्रतिमा नाम है।

अन्य ग्रन्थों में इसका स्वरूप इसप्रकार कहा है कि जो आठ मूलगुण का पालन करे, सात व्यसन को त्यागे, जिसके सम्यक्त्व अतिचार रहित शुद्ध हो वह दर्शन प्रतिमा का धारक है। पाँच उदम्बरफल और मद्य, मांस, मधु इन आठों का त्याग करना, वह आठ मूलगुण हैं।

अथवा किसी ग्रन्थ में इसप्रकार कहा है कि पाँच अणुव्रत पाले और मद्य, मांस, मधु का त्याग करे वह आठ मूलगुण हैं, परन्तु इसमें विरोध नहीं है, विवक्षा का भेद है। पाँच उदुम्बर फल और तीन मकार का त्याग कहने से जिन वस्तुओं में साक्षात् त्रस जीव दिखते हों उन सब ही वस्तुओं का भक्षण नहीं करे। देवादिक के निमित्त तथा औषधादि निमित्त इत्यादि कारणों से दिखते हुए त्रसजीवों का घात न करे, ऐसा आशय है जो इसमें तो अहिंसाणुव्रत आया। सात व्यसनों के त्याग में झूठ, चोरी और परस्त्री का त्याग आया, अन्य व्यसनों के त्याग में अन्याय, परधन, परस्त्री का ग्रहण नहीं है; इसमें अतिलोभ के त्याग से परिग्रह का घटाना आया, इसप्रकार पाँच अणुव्रत आते हैं।

इनके (व्रतादि प्रतिमा के) अतिचार नहीं टलते हैं इसलिए अणुव्रती नाम प्राप्त नहीं करता (फिर भी) इसप्रकार से दर्शन प्रतिमा का धारक भी अणुव्रती है, इसलिए देशविरत सागारसंयमचरण चारित्र में इसको भी गिना है ॥२३॥

आगे पाँच अणुव्रतों का स्वरूप कहते हैं -

थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्तथूले^१ य।

परिहारो परमहिला परिग्रहारंभपरिमाणं ॥२४॥

स्थूले त्रसकायवधे स्थूलायां मृषायां अदत्तस्थूले च।

परिहारः परमहिलायां परिग्रहारंभपरिमाणम् ॥२४॥

अर्थ - थूल त्रसकाय का घात, थूलमृषा अर्थात् असत्य, थूल अदत्ता अर्थात् पर का बिना

१. 'अदत्तथूले' के स्थान में सं. छाया में 'तितिक्व थूले', 'परमहिला' के स्थान में 'परमपिम्मे' ऐसा पाठ है।

त्रसकायवध अर मृषा चोरी तजे जो स्थूल ही।

परनारि का हो त्याग अर परिमाण परिग्रह का करे ॥२४॥

दिया धन, परमहिला अर्थात् परस्त्री इनका तो परिहार अर्थात् त्याग और परिग्रह तथा आरंभ का परिमाण - इसप्रकार पाँच अणुव्रत हैं।

भावार्थ - यहाँ थूल कहने का ऐसा अर्थ जानना कि जिसमें अपना मरण हो, पर का मरण हो, अपना घर बिगड़े, पर का घर बिगड़े, राजा के दण्ड योग्य हो, पंचों के दण्ड योग्य हो इसप्रकार मोटे अन्यायरूप पापकार्य जानने। इसप्रकार स्थूल पाप राजादिक के भय से न करे वह व्रत नहीं है, इनको तीव्र कषाय के निमित्त से तीव्रकर्मबंध के निमित्त जानकर स्वयमेव न करने के भावरूप त्याग हो वह व्रत है। इसके ग्यारह स्थानक कहे, इनमें ऊपर-ऊपर त्याग बढ़ता जाता है सो इसकी उत्कृष्टता तक ऐसा है कि जिन कार्यों में त्रस जीवों को बाधा हो इसप्रकार के सब ही कार्य छूट जाते हैं इसलिए सामान्य ऐसा नाम कहा है कि त्रसहिंसा का त्यागी देशव्रती होता है। इसका विशेष कथन अन्य ग्रन्थों से जानना ॥२४॥

आगे तीन गुणव्रतों को कहते हैं -

दिसिविदि सिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं बिदियं ।

भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥२५॥

दिग्विदिग्मानं प्रथमं अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम् ।

भोगोपभोगपरिमाणं इमान्येव गुणव्रतानि त्रीणि ॥२५॥

अर्थ - दिशा विदिशामें गमन का परिमाण वह प्रथम गुणव्रत है, अनर्थदण्ड का वर्जना द्वितीय गुणव्रत है और भोगोपभोग का परिमाण तीसरा गुणव्रत है, इसप्रकार ये तीन गुणव्रत हैं।

भावार्थ - यहाँ गुण शब्द तो उपकार का वाचक है, ये अणुव्रतों का उपकार करते हैं। दिशा विदिशा अर्थात् पूर्व दिशादिक में गमन करने की मर्यादा करे। अनर्थदण्ड अर्थात् जिन कार्यों में अपना प्रयोजन न सधे इसप्रकार पापकार्यों को न करे।

यहाँ कोई पूछे - प्रयोजन के बिना तो कोई भी जीव कार्य नहीं करता है, कुछ प्रयोजन विचार करके ही करता है फिर अनर्थदण्ड क्या ?

इसका समाधान - सम्यग्दृष्टि श्रावक होता है वह प्रयोजन अपने पद के योग्य विचारता है, पद के सिवाय सब अनर्थ है। पापी पुरुषों के तो सब ही पाप प्रयोजन है, उसकी क्या कथा ? भोग कहने से भोजनादिक और उपभोग कहने से स्त्री, वस्त्र, आभूषण, वाहनादिक का परिमाण करे -

दिशि-विदिश का परिमाण दिग्ब्रत अर अनर्थकदण्डव्रत ।

परिमाण भोगोपभोग का ये तीन गुणव्रत जिन कहें ॥२५॥

इसप्रकार जानना ॥२५॥

आगे चार शिक्षाव्रतों को कहते हैं -

सामाड्यं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं ।

तड्यं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥२६॥

सामाडकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषधः भणितः ।

तृतीयं च अतिथिपूजा चतुर्थं सल्लेखना अन्ते ॥२६॥

अर्थ - सामायिक तो पहिला शिक्षाव्रत है, वैसे ही दूसरा प्रोषद्य व्रत है, तीसरा अतिथि का पूजन है, चौथा अन्तसमय सल्लेखना व्रत है ।

भावार्थ - यहाँ शिक्षा शब्द से ऐसा अर्थ सूचित होता है कि आगामी मुनिव्रत की शिक्षा इनमें है, जब मुनि होगा तब इसप्रकार रहना होगा । सामायिक कहने से तो रागद्वेष का त्याग कर, सब गृहारंभसंबंधी क्रिया से निवृत्ति कर एकांत स्थान में बैठकर प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न कुछ काल की मर्यादा करके अपने स्वरूप का चिंतवन तथा पंचपरमेष्ठी की भक्ति का पाठ पढ़ना, उनकी वंदना करना इत्यादि विधान करना सामायिक है । इसप्रकार ही प्रोषध अर्थात् अष्टमी और चौदस के पर्वों में प्रतिज्ञा लेकर धर्म कार्यों में प्रवर्तना प्रोषध है । अतिथि अर्थात् मुनियों की पूजा करना, उनको आहारदान देना अतिथिपूजन है । अंत समय में काय और कषाय को कृश करना समाधिमरण करना अन्तसल्लेखना है, इसप्रकार चार शिक्षाव्रत है ।

यहाँ प्रश्न - तत्त्वार्थसूत्र में तीन गुणव्रतों में देशव्रत कहा और भोगोपभोगपरिमाण को शिक्षाव्रत में कहा तथा सल्लेखना को भिन्न कहा, वह कैसे ? इसका समाधान - यह विवक्षा का भेद है, यहाँ देशव्रत दिग्व्रत में गर्भित है और सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में कहा है, कुछ विरोध नहीं है ॥२६॥

आगे कहते हैं कि संयमचरण चारित्र में श्रावक धर्म को कहा, अब यतिधर्म को कहते हैं -

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।

सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिककलं वोच्छे ॥२७॥

एवं श्रावकधर्मं संयमचरणं उपदेशितं सकलम् ।

सामायिका प्रोषध तथा व्रत अतिथिसंविभाग है ।

सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे जिनदेव ने ॥२६॥

इस तरह संयमचरण श्रावक का कहा जो सकल है ।

अनगार का अब कहूँ संयमचरण जो कि निकल है ॥२७॥

शुद्धं संयमचरणं यतिधर्मं निष्फलं वक्ष्ये ॥२७॥

अर्थ – एवं अर्थात् इसप्रकार से श्रावकधर्मस्वरूप संयमचरण तो कहा, यह कैसा है ? सकल अर्थात् कला सहित है, (यहाँ) एकदेश को कला कहते हैं। अब यतिधर्म के धर्मस्वरूप संयमचरण को कहूँगा, ऐसी आचार्य ने प्रतिज्ञा की है। यतिधर्म कैसा है ? शुद्ध है, निर्दोष है जिसमें पापाचरण का लेश नहीं है, निकल अर्थात् कला से निःक्रांत है, सम्पूर्ण है, श्रावकधर्म की तरह एकदेश नहीं है ॥२७॥

आगे यतिधर्म की सामग्री कहते हैं -

पंचेंद्रियसंवरणं पंच वया पंचविंसकिरियासु ।

पंच समिदि तय गुप्ती संजमचरणं णिरायारं ॥२८॥

पंचेंद्रियसंवरणं पंच व्रताः पंचविंशतिक्रियासु ।

पंच समितयः तिस्रः गुप्तयः संयमचरणं निरागारम् ॥२८॥

अर्थ – पाँच इन्द्रियों का संवर, पाँच व्रत - ये पच्चीस क्रिया के सद्भाव होने पर होते हैं, पाँच समिति और तीन गुप्ति ऐसे निरागार संयमचरण चारित्र होता है ॥२८॥

आगे पाँच इन्द्रियों के संवरण का स्वरूप कहते हैं -

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवद्वे अजीवद्वे य ।

ण करेदि रायदोसे पंचेंद्रियसंवरो भणिओ ॥२९॥

अमनोज्ञे च मनोज्ञे सजीवद्रव्ये अजीवद्रव्ये च ।

न करोति रागद्वेषौ पंचेंद्रियसंवरः भणितः ॥२९॥

अर्थ – अमनोज्ञ तथा मनोज्ञ ऐसे पदार्थ जिनको लोग अपने माने - ऐसे सजीवद्रव्य स्त्री पुत्रादिक और अजीवद्रव्य धन धान्य आदि सब पुद्गल द्रव्य आदि में रागद्वेष न करे, उसे पाँच इन्द्रियों का संवर कहा है।

भावार्थ – इन्द्रियगोचर जीव अजीव द्रव्य है, ये इन्द्रियों के ग्रहण में आते हैं, इनमें यह प्राणी

संवरण पंचेन्द्रियों का अर पंचव्रत पच्चिस क्रिया ।

त्रय गुप्ति समिति पंच संयमचरण है अनगार का ॥२८॥

सजीव हो या अजीव हो अमनोज्ञ हो या मनोज्ञ हो ।

ना करे उनमें राग-रुस पंच इन्द्रियाँ, संवर कहा ॥२९॥

किसी को इष्ट मानकर राग करता है और किसी को अनिष्ट मानकर द्वेष करता है, इसप्रकार रागद्वेष मुनि नहीं करते हैं, उनके संयमचरण चारित्र होता है ॥२९॥

आगे पाँच व्रतों का स्वरूप कहते हैं -

हिंसाविरड अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य ।

तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥३०॥

हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिः अदत्तविरतिश्च ।

तुर्य अब्रह्मविरतिः पंचमं संगे विरतिः च ॥३०॥

अर्थ - प्रथम तो हिंसा से विरति अहिंसा है, दूसरा असत्यविरति है, तीसरा अदत्तविरति है, चौथा अब्रह्मविरति है और पाँचवाँ परिग्रहविरति है ।

भावार्थ - इन पाँच पापों का सर्वथा त्याग जिनमें होता है, वे पाँच महाव्रत कहलाते हैं ।

आगे इनको महाव्रत क्यों कहते हैं, वह बताते हैं -

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं ।

जं च महल्लाणि तदो 'महव्वया इत्तहे याइं ॥३१॥

साधयंति यन्महांतः आचरितं यत् महत्पूर्वैः ।

यच्च महन्ति ततः महाव्रतानि एतस्माद्धेतोः तानि ॥३१॥

अर्थ - महल्ला अर्थात् महन्त पुरुष जिनको साधते हैं, आचरण करते हैं और पहले भी जिनका महन्त पुरुषों ने आचरण किया है तथा ये व्रत आप ही महान् हैं, क्योंकि इनमें पाप का लेश भी नहीं है, इसप्रकार ये पाँच महाव्रत हैं ।

भावार्थ - जिनका बड़े पुरुष आचरण करें और आप निर्दोष हो वे ही बड़े कहलाते हैं, इसप्रकार इन पाँच व्रतों को महाव्रत संज्ञा है ॥३१॥

१. पाठान्तर - 'महव्वया इत्तहे याइं' के स्थान पर 'महव्वयाइं तहेयाइं' ।

हिंसा असत्य अदत्त अब्रह्मचर्य और परिग्रहा ।

इनसे विरति सम्पूर्णतः ही पंच मुनिमहाव्रत कहे ॥३०॥

ये महाव्रत निष्पाप हैं अर स्वयं से ही महान हैं ।

पूर्व में साधे महाजन आज भी हैं साधते ॥३१॥

आगे इन पाँच व्रतों की पच्चीस भावना कहते हैं, उनमें से प्रथम अहिंसाव्रत की पाँच भावना कहते हैं -

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो ।
अवलोयभोयणाए अहिंसए भावणा होंति ॥३२॥

वचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः ।
अवलोक्य भोजनेन अहिंसाया भावना भवंति ॥३२॥

अर्थ - वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ऐसे दो तो गुप्तियाँ, ईर्यासमिति, भलेप्रकार कर्मडलु आदि का ग्रहण निक्षेप यह आदाननिक्षेपणा समिति और अच्छी तरह देखकर विधिपूर्वक शुद्ध भोजन करना, यह एषणा समिति - इसप्रकार ये पाँच अहिंसा महाव्रत की भावना हैं ।

भावार्थ - बारबार उस ही के अभ्यास करने का नाम भावना है सो यहाँ प्रवृत्ति निवृत्ति में हिंसा लगती है, उसका निरन्तर यत्न रखे तब अहिंसाव्रत का पालन हो, इसलिए यहाँ योगों की निवृत्ति करनी तो भलेप्रकार गुप्तिरूप करनी और प्रवृत्ति करनी तो समितिरूप करनी, ऐसे निरन्तर अभ्यास से अहिंसा महाव्रत दृढ़ रहता है, इसी आशय से इनको भावना कहते हैं ॥३२॥

आगे सत्य महाव्रत की भावना कहते हैं -

कोहभयहासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव ।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तथा होंति ॥३३॥

क्रोधभयहास्यलोभमोहा विपरीतभावनाः च एव ।
द्वितीयस्य भावना इमा पंचैव च तथा भवंति ॥३३॥

अर्थ - क्रोध, भय, हास्य, लोभ और मोह इनसे विपरीत अर्थात् उल्टा इनका अभाव ये द्वितीय व्रत सत्य महाव्रत की भावना हैं ।

भावार्थ - असत्य वचन की प्रवृत्ति क्रोध से, भय से, हास्य से, लोभ से और परद्रव्य के मोहरूप मिथ्यात्व से होती है, इनका त्याग हो जाने पर सत्य महाव्रत दृढ़ रहता है ।

मनोगुप्ती वचन गुप्ती समिति ईर्या एषणा ।
आदाननिक्षेपण समिति ये हैं अहिंसा भावना ॥३२॥
सत्यव्रत की भावनार्ये क्रोध लोभरु मोह भय ।
अर हास्य से है रहित होना ज्ञानमय आनन्दमय ॥३३॥

तत्त्वार्थसूत्र में पाँचवीं भावना अनुवीचीभाषण कही है सो इसका अर्थ यह है कि जिनसूत्र के अनुसार वचन बोले और यहाँ मोह का अभाव कहा, वह मिथ्यात्व के निमित्त से सूत्रविरुद्ध बोलता है, मिथ्यात्व का अभाव होने पर सूत्रविरुद्ध नहीं बोलता है, अनुवीचीभाषण का भी यही अर्थ हुआ इसमें अर्थभेद नहीं है ॥३३॥

आगे अचौर्य महाव्रत की भावना कहते हैं -

सुण्णायारणिवासो विमोचियावास जं परोधं च ।

एषणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो ॥३४॥

शून्यागारनिवासः विमोचितावासः यत् परोधं च ।

एषणाशुद्धिसहितं साधर्मिसमविसंवादः ॥३४॥

अर्थ - शून्यागार अर्थात् गिरि, गुफा, तरु, कोटरादि में निवास करना, विमोचितावास अर्थात् जिसको लोगों ने किसी कारण से छोड़ दिया हो - इसप्रकार के गृह-ग्रामादिक में निवास करना, परोपरोध अर्थात् जहाँ दूसरे की रुकावट न हो, वस्तिकादिक को अपनाकर दूसरे को रोकना, इसप्रकार नहीं करना, एषणाशुद्धि अर्थात् आहार शुद्ध लेना और साधर्मियों से विसंवाद नहीं करना - ये पाँच भावना तृतीय महाव्रत की हैं ।

भावार्थ - मुनियों की वस्तिका में रहना और आहार लेना ये दो प्रवृत्तियाँ अवश्य होती हैं । लोक में इन्हीं के निमित्त अदत्त का आदान होता है । मुनियों को ऐसे स्थान पर रहना चाहिए, जहाँ अदत्त का दोष न लगे और आहार भी इसप्रकार लें, जिसमें अदत्त का दोष न लगे तथा दोनों की प्रवृत्ति में साधर्मी आदिक से विसंवाद न उत्पन्न हो । इसप्रकार ये पाँच भावना कही हैं, इनके होने से अचौर्य महाव्रत दृढ़ रहता है ॥३४॥

आगे ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना कहते हैं -

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।

पुट्टियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥३५॥

१. पाठान्तर - विमोचितावास ।

हो विमोचितवास शून्यागार हो उपरोध बिन ।

हो एषणाशुद्धी तथा संवाद हो विसंवाद बिन ॥३४॥

त्याग हो आहार पौष्टिक आवास महिलावासमय ।

भोगस्मरण महिलावलोकन त्याग हो विकथा कथन ॥३५॥

महिलालोकनपूर्वरतिस्मरणसंसक्तवसतिविकथाभिः ।

पौष्टिकरसैः विरतः भावनाः पंचापि तुर्ये ॥३५॥

अर्थ – स्त्रियों का अवलोकन अर्थात् रागभावसहित देखना, पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों को स्मरण करना, स्त्रियों से संसक्त वस्तिका में रहना, स्त्रियों की कथा करना, पौष्टिक रसों का सेवन करना, इन पाँचों से विकार उत्पन्न होता है, इसलिए इनसे विरक्त रहना, ये पाँच ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना हैं ।

भावार्थ – कामविकार के निमित्तों से ब्रह्मचर्यव्रत भंग होता है, इसलिए स्त्रियों को रागभाव से देखना इत्यादि निमित्त कहे, इनसे विरक्त रहना, प्रसंग नहीं करना, इससे ब्रह्मचर्य महाव्रत दृढ़ रहता है ॥३५॥

आगे पाँच अपरिग्रह महाव्रत की भावना कहते हैं –

अपरिग्रह समणुण्णेषु सदपरिसरसरूपगंधेषु ।

रायदोसाईणं परिहारो भावणा ह्येति ॥३६॥

अपरिग्रहे समनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरसरूपगंधेषु ।

रागद्वेषादीनां परिहारो भावनाः भवन्ति ॥३६॥

अर्थ – शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध ये पाँच इन्द्रियों के विषय समनोज्ञ अर्थात् मन को अच्छे लगनेवाले और अमनोज्ञ अर्थात् मन को बुरे लगनेवाले हों तो इन दोनों में ही राग-द्वेष आदि न करना परिग्रहत्याग व्रत की ये पाँच भावना हैं ।

भावार्थ – पाँच इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ये हैं, इनमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धिरूप राग-द्वेष नहीं करे, तब अपरिग्रहव्रत दृढ़ रहता है, इसीलिए ये पाँच भावना अपरिग्रह महाव्रत की कही गई हैं ॥३६॥

आगे पाँच समितियों को कहते हैं –

१. पाठान्तर – संजमसोहिणिमित्ते ।

इन्द्रियों के विषय चाहे मनोज्ञ हों अमनोज्ञ हों ।

नहीं करना राग-रुस ये अपरिग्रह व्रत भावना ॥३६॥

ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण सही ।

एवं प्रतिष्ठापना संयमशोधमय समिती कही ॥३७॥

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।

संजमसोहिणिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ ॥३७॥

ईर्या भाषा एषणा या सा आदानं चैव निक्षेपः ।

संयमशोधिनिमित्तं ख्यान्ति जिनाः पंच समितीः ॥३७॥

अर्थ – ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना, ये पाँच समितियाँ संयम की शुद्धता के लिए कारण हैं, इसप्रकार जिनदेव कहते हैं ।

भावार्थ – मुनि पंचमहाव्रतस्वरूप संयम का साधन करते हैं, उस संयम की शुद्धता के लिए पाँच समितिरूप प्रवर्तते हैं इसी से इसका नाम सार्थक है – “सं” अर्थात् सम्यक्प्रकार ‘इति’ अर्थात् प्रवृत्ति जिसमें हो सो समिति है” । चलते समय जूड़ा प्रमाण (चार हाथ) पृथ्वी देखता हुआ चलता है, बोले तब हितमितरूप वचन बोलता है, आहार लेवे तो छियालीस दोष, बत्तीस अंतराय टालकर, चौदह मल दोष रहित शुद्ध आहार लेता है, धर्मोपकरणों को उठाकर ग्रहण करे सो यत्नपूर्वक लेते हैं, ऐसे ही कुछ क्षेपण करे तब यत्नपूर्वक क्षेपण करते हैं, इसप्रकार निष्प्रमाद वर्ते तब संयम का शुद्ध पालन होता है, इसलिए पंचसमितिरूप प्रवृत्ति कही है । इसप्रकार संयमचरण चारित्र की शुद्ध प्रवृत्ति का वर्णन किया ॥३७॥

अब आचार्य निश्चय चारित्र को मन में धारण कर ज्ञान का स्वरूप कहते हैं –

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं ।

णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ॥३८॥

भव्यजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितं ।

ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं आत्मानं तं विजानीहि ॥३८॥

अर्थ – जिनमार्ग में जिनेश्वर देव ने भव्यजीवों के संबोधने के लिए जैसा ज्ञान और ज्ञान का स्वरूप कहा है, वह ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसको हे भव्य जीव ! तू जान ।

भावार्थ – ज्ञान को और ज्ञान के स्वरूप को अन्य मतवाले अनेकप्रकार से कहते हैं, वैसा ज्ञान और वैसा ज्ञान का स्वरूप नहीं है । जो सर्वज्ञ वीतराग देव भाषित ज्ञान और ज्ञान का स्वरूप है वही निर्बाध सत्यार्थ है और ज्ञान है वही आत्मा है तथा आत्मा का स्वरूप है, उसको

सब भव्यजन संबोधने जिननाथ ने जिनमार्ग में ।

जैसा बताया आत्मा हे भव्य ! तुम जानो उसे ॥३८॥

जानकर उसमें स्थिरता भाव करे, परद्रव्यों से रागद्वेष नहीं करे वही निश्चय चारित्र है इसलिए पूर्वोक्त महाव्रतादिक की प्रवृत्ति करके उस ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होना, इसप्रकार उपदेश है ॥३८॥

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार ज्ञान से ऐसे जानता है, वह सम्यग्ज्ञानी है -

जीवाजीवविभक्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी ।

रायादिदोसरहिओ जिणसासणे १मोक्खमग्गोत्ति ॥३९॥

जीवाजीवविभक्तिं यः जानाति स भवेत् सज्ज्ञानः ।

रागादिदोषरहितः जिनशासने मोक्षमार्ग इति ॥३९॥

अर्थ - जो पुरुष जीव और अजीव का भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है और रागादि दोषों से रहित होता है, इसप्रकार जिनशासन में मोक्षमार्ग है ।

भावार्थ - जो जीव-अजीव पदार्थ का स्वरूप भेदरूप जानकर स्व-पर का भेद जानता है, वह सम्यग्ज्ञानी होता है और परद्रव्यों से रागद्वेष छोड़ने से ज्ञान में स्थिरता होने पर निश्चय सम्यक्चारित्र होता है, वही जिनमत में मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा है । अन्य मतवालों ने अनेक प्रकार से कल्पना करके कहा है, वह मोक्षमार्ग नहीं है ॥३९॥

आगे इसप्रकार मोक्षमार्ग को जानकर श्रद्धा सहित इसमें प्रवृत्ति करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है, इसप्रकार कहते हैं -

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए ।

जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥४०॥

दर्शनज्ञानचरित्रं त्रीण्यपि जानीहि परमश्रद्धया ।

यत् ज्ञात्वा योगिनः अचिरेण लभंते निर्वाणम् ॥४०॥

अर्थ - हे भव्य ! तू दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों को परमश्रद्धा से जान, जिसको जानकर

१. पाठान्तरः - मोक्खमग्गुत्ति ।

जीव और अजीव का जो भेद जाने ज्ञानि वह ।

रागादि से हो रहित शिवमग यही है जिनमार्ग में ॥३९॥

तू जान श्रद्धाभाव से उन चरण-दर्शन-ज्ञान को ।

अतिशीघ्र पाते मुक्ति योगी अरे जिनको जानकर ॥४०॥

योगी मुनि थोड़े ही काल में निर्वाण को प्राप्त करता है।

भावार्थ – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रयात्मक मोक्षमार्ग है, इसको श्रद्धापूर्वक जानने का उपदेश है, क्योंकि इसको जानने से मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥४०॥

आगे कहते हैं कि इसप्रकार निश्चयचारित्ररूप ज्ञान का स्वरूप कहा, जो इसको पाते हैं, वे शिवरूप मन्दिर में रहनेवाले होते हैं –

१पाऊण णाणसलिलं णिम्लसुविशुद्धभावसंजुता ।

होंति शिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥४१॥

३प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः ।

भवंति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥४१॥

अर्थ – जो पुरुष इस जिनभाषित ज्ञानरूप जल को प्राप्त करके अपने निर्मल भले प्रकार विशुद्धभाव संयुक्त होते हैं, वे पुरुष तीन भुवन के चूडामणि और शिवालय अर्थात् मोक्षरूपी मन्दिर में रहनेवाले सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।

भावार्थ – जैसे जल से स्नान करके शुद्ध होकर उत्तम पुरुष महल में निवास करते हैं, वैसे ही यह ज्ञान जल के समान है और आत्मा के रागादिक मैल लगने से मलिनता होती है, इसलिए इस ज्ञानरूप जल से रागादिक मल को धोकर जो अपनी आत्मा को शुद्ध करते हैं, वे मुक्तिरूप महल में रहकर आनन्द भोगते हैं, उनको तीन भुवन के शिरोमणि सिद्ध कहते हैं ॥४१॥

आगे कहते हैं कि जो ज्ञानगुण से रहित हैं, वे इष्ट वस्तु को नहीं पाते हैं, इसलिए गुण दोष को जानने के लिए ज्ञान को भले प्रकार से जानना –

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं ।

इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहिं ॥४२॥

ज्ञानगुणैः विहीना न लभते ते स्विष्टं लाभं ।

इति ज्ञात्वा गुणदोषौ तत् सद्ज्ञानं विजानीहि ॥४२॥

१. पाठान्तरः – पीऊण, २. पाठान्तरः – पीत्वा

ज्ञानजल में नहा निर्मल शुद्ध परिणति युक्त हो।

त्रैलोक्यचूडामणि बने एवं शिवालय वास हो ॥४१॥

ज्ञानगुण से हीन इच्छितलाभ को ना प्राप्त हों।

यह जान जानो ज्ञान को गुणदोष को पहिचानने ॥४२॥

अर्थ – ज्ञानगुण से हीन पुरुष अपनी इच्छित वस्तु के लाभ को नहीं प्राप्त करते, इसप्रकार जानकर हे भव्य ! तू पूर्वोक्त सम्यग्ज्ञान को गुण दोष के जानने के लिए जान ।

भावार्थ – ज्ञान के बिना गुण दोष का ज्ञान नहीं होता है तब अपनी इष्ट तथा अनिष्ट वस्तु को नहीं जानता है, तब इष्ट वस्तु का लाभ नहीं होता है इसलिए सम्यग्ज्ञान ही से गुण-दोष जाने जाते हैं, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के बिना हेय-उपादेय वस्तुओं का जानना नहीं होता है और हेय-उपोदय को जाने बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता है । इसलिए ज्ञान ही को चारित्र से प्रधान कहा है ॥४२॥

आगे कहते हैं कि जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र धारण करता है, वह थोड़े ही काल में अनुपम सुख को पाता है -

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।

पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४३॥

चारित्रसमारूढ आत्मनि^१ परं न ईहते ज्ञानी ।

प्राप्नोति अचिरेण सुखं अनुपमं जानीहि निश्चयतः ॥४३॥

अर्थ – जो पुरुष ज्ञानी है और चारित्र सहित है, वह अपनी आत्मा में परद्रव्य की इच्छा नहीं करता है, परद्रव्य में राग-द्वेष-मोह नहीं करता है । वह ज्ञानी जिसकी उपमा नहीं है, इसप्रकार अविनाशी मुक्ति के सुख को पाता है । हे भव्य ! तू निश्चय से इसप्रकार जान । यहाँ ज्ञानी होकर हेय उपादेय को जानकर, संयमी बनकर परद्रव्य को अपने में नहीं मिलाता है, वह परम सुख पाता है, इसप्रकार बताया है ॥४३॥

आगे इष्ट चारित्र के कथन का संकोच करते हैं -

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयराएण ।

सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥४४॥

एवं संक्षेपेण च भणितं ज्ञानेन वीतरागेण ।

सम्यक्त्वसंयमाश्रयद्वयोरपि उद्देशितं चरणम् ॥४४॥

अर्थ – एवं अर्थात् ऐसे पूर्वोक्त प्रकार संक्षेप से श्री वीतरागदेव ने ज्ञान के द्वारा कहे सम्यक्त्व १. सं. प्रति में 'आत्मनि' के स्थान में 'आत्मनः' श्रुतसागरी सं.टीका मुद्रित प्रति में टीका में अर्थ भी 'आत्मना' का ही किया है, दे.पृ. ५४ ।

पर को न चाहें ज्ञानिजन चारित्र में आरूढ हो ।

अनूपम सुख शीघ्र पावें जान लो परमार्थ से ॥४३॥

इसतरह संक्षेप में सम्यक्चरण संयमचरण ।

का कथन कर जिनदेव ने उपकृत किये हैं भव्यजन ॥४४॥

और संयम - इन दोनों के आश्रय से चारित्र सम्यक्त्वचरणस्वरूप और संयमचरणस्वरूप दो प्रकार से उपदेश किया है, आचार्य ने चारित्र के कथन को संक्षेपरूप से कहकर संकोच किया है ॥४४॥

आगे इस चारित्रपाहुड को भाने का उपदेश और इसका फल कहते हैं -

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुणं चेव ।

लहु चउगइ चइऊणं अइरेणऽपुणब्भवा होई ॥४५॥

भावयत भावशुद्धं स्फुटं रचितं चरणप्राभृतं चैव ।

लघु चतुर्गतीः त्यक्त्वा अचिरेण अपुनर्भवाः भवत ॥४५॥

अर्थ - यहाँ आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवों ! यह चरण अर्थात् चारित्रपाहुड हमने स्फुट प्रगट करने हेतु बनाया है, उसको तुम अपने शुद्धभाव से भाओ । अपने भावों में बारम्बार अभ्यास करो, इससे शीघ्र ही चार गतियों को छोड़कर अपुनर्भव मोक्ष तुम्हें होगा, फिर संसार में जन्म नहीं पाओगे ।

भावार्थ - इस चारित्रपाहुड को बांचना, पढ़ना, धारण करना, बारम्बार भाना, अभ्यास करना - यह उपदेश है, इससे चारित्र का स्वरूप जानकर धारण करने की रुचि हो, अंगीकार करे तब चार गतिरूप संसार के दुःख से रहित होकर निर्वाण को प्राप्त हो, फिर संसार में जन्म धारण नहीं करे, इसलिए जो कल्याण को चाहते हैं, वे इसप्रकार करो ॥४५॥

(छप्पय)

चारित दोय प्रकार देव जिनवर ने भाख्या ।

समकित संयम चरण ज्ञानपूरव तिस राख्या ॥

जे नर सरधावान याहि धारैं विधि सेती ।

निश्चय अर व्यवहार रीति आगम में जेती ॥

जब जगधंधा सब मेटि कैं निजस्वरूप में थिर रहै ।

तब अष्टकर्मकूं नाशि कै अविनाशी शिव कूं लहै ॥१॥

ऐसे सम्यक्त्वचरणचारित्र और संयमचरणचारित्र दो प्रकार के चारित्र का स्वरूप इस प्राभृत में कहा ।

(दोहा)

जिनभाषित चारित्रकं जे पालैं मनिराज ।

स्फुट रचित यह चरित पाहुड पढ़ा पाविन भाव से ।

तिनि के चरण नम सदा पाऊ तिनि गुणसाज ॥२॥

तम चतुर्गति को परिकर अपुनर्भव हो जाओग ॥४५॥

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामि विरचित चारित्रप्राभृत को पाण्डित जयचन्द्र छाबड़ा कृत

देशभाषावचनिका का हिन्दी भाषानुवाद समाप्त ॥३॥



अथ बोधपाहुड

४

(दोहा)

देव जिनेश्वर सर्व गुरु वंदूं मन-वच-काय ।

जा प्रसाद भवि बोध ले, पालैं जीव निकाय ॥१॥

इसप्रकार मंगलाचरण के द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत गाथाबन्ध 'बोधपाहुड' की देशभाषामय वचनिका का हिन्दी भाषानुवाद लिखते हैं, पहिले आचार्य ग्रन्थ करने की मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं -

बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे ।

वंदित्ता आयरिए कषायमलवज्जिदे सुद्धे ॥१॥

सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।

वोच्छामि समासेण छक्कायसुहंकरं सुणहं ॥२॥

बहुशास्त्रार्थज्ञापकान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान् ।

वन्दित्वा आचार्यान् कषायमलवर्जितान् शुद्धान् ॥१॥

सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितम् ।

वक्ष्यामि समासेन षट्कायसुखंकरं शृणु ॥२॥ युग्मम् ॥

१. मुद्रित सटीक संस्कृत प्रति में "छक्कायहियंकरं" ऐसा पाठ है ।

शास्त्रज्ञ हैं सम्यक्त्व संयम शुद्धतप संयुक्त हैं ।

कर नमन उन आचार्य को जो कषायों से रहित हैं ॥१॥

अर सकलजन संबोधने जिनदेव ने जिनमार्ग में ।

छहकाय सुखकर जो कहा वह मैं कहूँ संक्षेप में ॥२॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि मैं आचार्यों को नमस्कार कर, छहकाय के जीवों को सुख के करनेवाले जिनमार्ग में जिनदेव ने जैसे कहा है वैसे, जिसमें समस्त लोक के हित का ही प्रयोजन है – ऐसा ग्रन्थ संक्षेप में कहूँगा, उसको हे भव्य जीवों ! तुम सुनो । जिन आचार्यों की वंदना की, वे आचार्य कैसे हैं ? बहुत शास्त्रों के अर्थ को जाननेवाले हैं, जिनका तपश्चरण सम्यक्त्व और संयम से शुद्ध है, कषायरूप मल से रहित है, इसीलिए शुद्ध है ।

भावार्थ – यहाँ आचार्यों की वंदना की, उनके विशेषण से जाना जाता है कि गणधरादिक से लेकर अपने गुरुपर्यंत सबकी वन्दना है और ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा की, उसके विशेषण से जाना जाता है कि जो बोधपाहुड ग्रन्थ करेंगे वह लोगों को धर्ममार्ग में सावधान कर कुमार्ग छोड़ाकर अहिंसाधर्म का उपदेश करेगा ॥३॥

आगे इस 'बोधपाहुड' में ग्यारह स्थल बांधे हैं, उनके नाम कहते हैं –

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं ।
 भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमादत्थं ॥३॥
 अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं ।
 पावज्जगुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ॥४॥
 आयतनं चैत्यगृहं जिनप्रतिमा दर्शनं च जिनबिंबम् ।
 भणितं सुवीतरागं जिनमुद्रा ज्ञानमात्मार्थम्^१ ॥३॥
 अर्हता सुदृष्टं यः देवः तीर्थमिह च अर्हन् ।
 प्रब्रज्या गुणविशुद्धा इति ज्ञातव्याः यथाक्रमशः ॥४॥

अर्थ – १. आयतन, २. चैत्यगृह, ३. जिनप्रतिमा, ४. दर्शन, ५. जिनबिंब । कैसा है जिनबिंब ? भलेप्रकार वीतराग है, ६. जिनमुद्रा रागसहित नहीं होती है, ७. ज्ञान पद कैसा ? आत्मा ही है अर्थ अर्थात् प्रयोजन जिसमें, इसप्रकार सात तो ये निश्चय वीतरागदेव ने कहे वैसे,

१. "आत्मस्थं" संस्कृत में पाठान्तर है ।

ये आयतन अर चैत्यगृह अर शुद्ध जिनप्रतिमा कही ।
 दर्शन तथा जिनबिम्ब जिनमुद्रा विरागी ज्ञान ही ॥३॥
 हैं देव तीरथ और अर्हन् गुणविशुद्धा प्रब्रज्या ।
 अरिहंत ने जैसे कहे वैसे कहूँ मैं यथाक्रम ॥४॥

यथा अनुक्रम से जानने और ८. देव, ९. तीर्थ, १०. अरहंत तथा गुण से विशुद्ध ११. प्रब्रज्या ये चार जो अरहंत भगवान ने कहे वैसे इस ग्रंथ में जानना, इसप्रकार ये ग्यारह स्थल हुए ॥३-४॥

भावार्थ – यहाँ आशय इसप्रकार जानना चाहिए कि धर्ममार्ग में कालदोष से अनेक मत हो गये हैं तथा जैनमत में भी भेद हो गये हैं, उनमें आयतन आदि में विपर्यय (विपरीतपना) हुआ है, उनका परमार्थभूत सच्चा स्वरूप तो लोग जानते नहीं हैं और धर्म के लोभी होकर जैसी बाह्य प्रवृत्ति देखते हैं, उनमें ही प्रवर्तने लग जाते हैं, उनको संबोधने के लिए यह 'बोधपाहुड' बनाया है। उसमें आयतन आदि ग्यारह स्थानों का परमार्थभूत सच्चा स्वरूप जैसा सर्वज्ञदेव ने कहा है, वैसे कहेंगे, अनुक्रम में जैसे नाम कहे हैं, वैसे ही अनुक्रम से इनका व्याख्यान करेंगे सो जानने योग्य है ॥३-४॥

(१) आगे प्रथम ही जो आयतन कहा उसका निरूपण करते हैं -

मणवयणकायदव्वा आयत्ता^१ जस्स इन्द्रिया विसया ।

आयदणं जिणमग्गे णिद्धिं संजयं रूवं ॥५॥

मनोवचनकायद्रव्याणि आयत्ताः यस्य ऐन्द्रियाः विषयाः ।

आयतनं जिनमार्गे निर्दिष्टं संयतं रूपम् ॥५॥

अर्थ – जिनमार्ग में संयमसहित मुनिरूप है, उसे 'आयतन' कहा है। कैसा है मुनिरूप, जिसके मन-वचन-काय द्रव्यरूप हैं वे तथा पाँच इन्द्रियों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ये विषय हैं वे। 'आयत्ता' अर्थात् अधीन हैं-वशीभूत हैं। उनके (मन-वचन-काय और पाँच इन्द्रियों के विषय) संयमी मुनि आधीन नहीं हैं। वे मुनि के वशीभूत हैं ऐसा संयमी है वह 'आयतन' है ॥५॥

आगे फिर कहते हैं -

मयरायदोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता ।

पंचमहव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं ॥६॥

१. स. प्रति में 'आसत्ता' पाठ है जिसकी संस्कृत 'आसक्ताः' है।

आधीन जिनके मन-वचन-तन इन्द्रियों के विषय सब।

कहे हैं जिनमार्ग में वे संयमी ऋषि आयतन ॥५॥

हो गये हैं नष्ट जिनके मोह राग-द्वेष मद।

जिनवर कहें वे महाव्रतधारी ऋषि ही आयतन ॥६॥

मदः रागः द्वेषः मोहः क्रोधः लोभः च यस्य आयत्ताः ।
पंचमहाव्रतधारी आयतनं महर्षयो भणिताः ॥६॥

अर्थ – जिस मुनि के मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ और चकार से माया आदि ये सब ‘आयत्ता’ अर्थात् निग्रह को प्राप्त हो गये और पाँच महाव्रत जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह का त्याग, उनके धारी हो ऐसा महामुनि ऋषीश्वर ‘आयतन’ कहा है।

भावार्थ – पहिली गाथा में तो बाह्य का स्वरूप कहा था। यहाँ बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार से संयमी हो वह ‘आयतन’ है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥६॥

आगे फिर कहते हैं –

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धज्ञाणस्स णाणजुत्तस्स ।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥७॥
सिद्धं यस्य संदर्थं विसुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य ।
सिद्धायतनं सिद्धं मुनिवृषभस्य मुनितार्थम् ॥७॥

अर्थ – जिस मुनि के सदर्थ अर्थात् समीचीन अर्थ जो ‘शुद्ध आत्मा’ सो सिद्ध हो गया हो वह सिद्धायतन है। कैसा है मुनि ? जिसके विशुद्ध ध्यान है, धर्मध्यान को साधकर शुक्लध्यान को प्राप्त हो गया है; ज्ञानसहित है, केवलज्ञान को प्राप्त हो गया है। घातिकर्मरूप मल से रहित है, इसीलिए मुनियों में ‘वृषभ’ अर्थात् प्रधान है, जिसने समस्त पदार्थ जान लिये हैं। इसप्रकार मुनिप्रधान को ‘सिद्धायतन’ कहते हैं।

भावार्थ – इसप्रकार तीन गाथा में ‘आयतन’ का स्वरूप कहा। पहिली गाथा में तो संयमी सामान्य का बाह्यरूप प्रधानता से कहा। दूसरी में अंतरंग-बाह्य दोनों की शुद्धतारूप ऋद्धिधारी मुनि ऋषीश्वर कहा और इस तीसरी गाथा में केवलज्ञानी को जो मुनियों में प्रधान है सिद्धायतन कहा है। यहाँ इसप्रकार जानना जो ‘आयतन’ अर्थात् जिसमें बसे, निवास करे उसको आयतन कहा है, इसलिए धर्मपद्धति में जो धर्मात्मा पुरुष के आश्रय करने योग्य हो वह ‘धर्मायतन’ है। इसप्रकार मुनि ही धर्म के आयतन हैं, अन्य कोई भेषधारी, पाखंडी (ढोंगी) विषय-कषायों में आसक्त, परिग्रहधारी धर्म के आयतन नहीं हैं तथा जैनमत में भी जो सूत्रविरुद्ध प्रवर्तते हैं, वे भी आयतन नहीं, वे सब ‘अनायतन’ हैं।

बौद्धमत में पाँच इन्द्रिय, उनके पाँच विषय, एक मन, एक धर्मायतन शरीर ऐसे बारह आयतन कहे हैं वे भी कल्पित हैं, इसलिए जैसा यहाँ आयतन कहा वैसा ही जानना, धर्मात्मा को उसी का

जो शुक्लध्यानी और केवलज्ञान से संयुक्त हैं ।
अर जिन्हें आतम सिद्ध है वे मुनिवृषभ सिद्धायतन ॥७॥

आश्रय करना, अन्य की स्तुति, प्रशंसा, विनयादिक न करना, यह बोधपाहुड ग्रन्थ करने का आशय है। जिसमें इसप्रकार के निर्ग्रन्थ मुनि रहते हैं, इसप्रकार के क्षेत्र को भी 'आयतन' कहते हैं, जो व्यवहार है ॥७॥

(२) आगे चैत्यगृह का निरूपण करते हैं -

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च ।
 पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥८॥
 बुद्धं यत् बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यत् च ।
 पंचमहाव्रतशुद्धं ज्ञानमयं ज्ञानीहि चैत्यगृहम् ॥८॥

अर्थ - जो मुनि 'बुद्ध' अर्थात् ज्ञानमयी आत्मा को जानता हो, अन्य जीवों को 'चैत्य' अर्थात् चेतनास्वरूप जानता हो, आप ज्ञानमयी हो और पाँच महाव्रतों से शुद्ध हो, निर्मल हो, उस मुनि को हे भव्य ! तू 'चैत्यगृह' जान ।

भावार्थ - जिसमें अपने को और दूसरे को जाननेवाला ज्ञानी निष्पाप-निर्मल इसप्रकार 'चैत्य' अर्थात् चेतनास्वरूप आत्मा रहता है, वह 'चैत्यगृह' है। इसप्रकार का चैत्यगृह संयमी मुनि है, अन्य पाषाण आदि के मंदिर को 'चैत्यगृह' कहना व्यवहार है ॥८॥

आगे फिर कहते हैं -

चेइयं बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स ।
 चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥९॥
 चैत्यं बंधं मोक्षं दुःखं सुखं च आत्मकं तस्य ।
 चैत्यगृहं जिनमार्गे षट्कायहितंकरं भणितम् ॥९॥

अर्थ - जिसके बंध और मोक्ष, सुख और दुःख हो उस आत्मा को चैत्य कहते हैं अर्थात् ये चिह्न जिसके स्वरूप में हो उसे 'चैत्य' कहते हैं, क्योंकि जो चेतनास्वरूप हो उसी के बंध, मोक्ष, सुख, दुःख संभव हैं। इसप्रकार चैत्य का जो गृह हो वह 'चैत्यगृह' है। जिनमार्ग में इसप्रकार चैत्यगृह छहकाय का हित करनेवाला होता है वह इसप्रकार का 'मुनि' है। पाँच स्थावर और त्रस में विकलत्रय और असैनी पंचेन्द्रिय तक केवल रक्षा ही करने योग्य है इसलिए उनकी रक्षा करने

जानते मैं ज्ञानमय परजीव भी चैतन्यमय ।
 सद्ज्ञानमय वे महाव्रतधारी मुनी ही चैत्यगृह ॥८॥
 मुक्ति-बंधन और सुख-दुःख जानते जो चैत्य वे ।
 बस इसलिए षट्काय हितकर मुनी ही हैं चैत्यगृह ॥९॥

का उपदेश करता है तथा आप उनका घात नहीं करता है यही उनका हित है और सैनी पंचेन्द्रिय जीव हैं, उनकी रक्षा भी करता है, रक्षा का उपदेश भी करता है तथा उनको संसार से निवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश करते हैं। इसप्रकार मुनिराज को 'चैत्यगृह' कहते हैं।

भावार्थ – लौकिक जन चैत्यगृह का स्वरूप अन्यथा अनेकप्रकार मानते हैं, उनको सावधान किया है कि जिनसूत्र में छहकाय का हित करनेवाला ज्ञानमयी संयमी मुनि है वह 'चैत्यगृह' है; अन्य को चैत्यगृह कहना मानना व्यवहार है। इसप्रकार चैत्यगृह का स्वरूप कहा ॥१॥

(३) आगे जिनप्रतिमा का निरूपण करते हैं -

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं ।

णिगंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥१०॥

स्वपरा जंगमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम् ।

निर्ग्रन्थवीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥१०॥

अर्थ – जिनका चारित्र दर्शन ज्ञान से शुद्ध निर्मल है, उनकी स्व-परा अर्थात् अपनी और पर की चलती हुई देह है वह जिनमार्ग में 'जंगम प्रतिमा है' अथवा स्वपरा अर्थात् आत्मा से 'पर' यानी भिन्न है – ऐसी देह है। वह कैसी है ? जिसका निर्ग्रन्थ स्वरूप है, कुछ भी परिग्रह का लेश भी नहीं है, ऐसी दिगम्बरमुद्रा है। जिसका वीतराग स्वरूप है, किसी वस्तु से राग-द्वेष-मोह नहीं है, जिनमार्ग में ऐसी 'प्रतिमा' कही है। जिनके दर्शन-ज्ञान से निर्मल चारित्र पाया जाता है, इसप्रकार मुनियों की गुरु-शिष्य अपेक्षा अपनी तथा पर की चलती हुई देह निर्ग्रन्थ वीतरागमुद्रा स्वरूप है, वह जिनमार्ग में 'प्रतिमा' है, अन्य कल्पित है और धातु-पाषाण आदि से बनाये हुए दिगम्बरमुद्रा स्वरूप को 'प्रतिमा' कहते हैं, जो व्यवहार है। वह भी बाह्य आकृति तो वैसी ही हो वह व्यवहार में मान्य है ॥१०॥

आगे फिर कहते हैं -

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ णिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।

सा होई वंदणीया णिगंथा संजदा पडिमा ॥११॥

सद्ज्ञानदर्शनचरण से निर्मल तथा निर्ग्रन्थ मुनि ।

की देह ही जिनमार्ग में प्रतिमा कही जिनदेव ने ॥१०॥

जो देखे जाने रमे निज में ज्ञानदर्शन चरण से ।

उन ऋषीगण की देह प्रतिमा वंदना के योग्य है ॥११॥

यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
सा भवति वंदनीया निर्ग्रन्था संयता प्रतिमा ॥११॥

अर्थ – जो शुद्ध आचरण का आचरण करते हैं तथा सम्यग्ज्ञान से यथार्थ वस्तु को जानते हैं और सम्यग्दर्शन से अपने स्वरूप को देखते हैं इसप्रकार शुद्धसम्यक्त्व जिनके पाया जाता है – ऐसी निर्ग्रन्थ संयमस्वरूप प्रतिमा है, वह वंदन-करने योग्य है ।

भावार्थ – जाननेवाला, देखनेवाला, शुद्धसम्यक्त्व, शुद्धचारित्र स्वरूप निर्ग्रन्थ संयमसहित इसप्रकार मुनि का स्वरूप है वही 'प्रतिमा' है, वही वंदन करने योग्य है; अन्य कल्पित वंदन करने योग्य नहीं है और वैसे ही रूपसदृश धातुपाषाण की प्रतिमा हो वह व्यवहार से वंदने योग्य है ॥११॥

आगे फिर कहते हैं –

दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य ।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्टबंधेहिं ॥१२॥
णिरुवममचलमखोहा णिम्विया जंगमेण रूवेण ।
सिद्धट्टाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥१३॥
दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तवीर्याः अनंतसुखाः च ।
शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कर्माष्टकबंधैः ॥१२॥
निरुपमा अचला अक्षोभाः निर्मापिता जंगमेन रूपेण ।
सिद्धस्थाने स्थिताः व्युत्सर्गप्रतिमा ध्रुवाः सिद्धाः ॥१३॥

अर्थ – जो अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुख सहित हैं; शाश्वत अविनाशी सुखस्वरूप है; अदेह है-कर्म नोकर्मरूप पुद्गलमयी देह जिनके नहीं है; अष्टकर्म के बंधन से रहित है; उपमारहित है, जिसकी उपमा दी जाय ऐसी लोक में वस्तु नहीं है; अचल है, प्रदेशों का चलना जिनके नहीं है; अक्षोभ है, जिनके उपयोग में कुछ क्षोभ नहीं है, निश्चल है; जंगमरूप से

१. सं. प्रति में निर्मापिता: 'अजगमेन रूपेण' ऐसी छाया है ।

अनंतदर्शनज्ञानसुख अर वीर्य से संयुक्त हैं ।
हैं सदासुखमय देहबिन कर्माष्टकों से युक्त हैं ॥१२॥
अनुपम अचल अक्षोभ हैं लोकाग्र में थिर सिद्ध हैं ।
जिनवर कथित व्युत्सर्ग प्रतिमा तो यही ध्रुव सिद्ध है ॥१३॥

निर्मित है, कर्म से निर्मुक्त होने के बाद एक समयमात्र गमनरूप होते हैं, इसलिए जंगमरूप से निर्मापित है; सिद्धस्थान जो लोक का अग्रभाग उसमें स्थित हैं; इसीलिए व्युत्सर्ग अर्थात् कायरहित है, जैसा पूर्व शरीर में आकार था वैसा ही प्रदेशों का आकार चरम शरीर से कुछ कम है; ध्रुव है, संसार से मुक्त हो (उसी समय) एकसमयमात्र गमन कर लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो जाते हैं, फिर चलाचल नहीं होते हैं - ऐसी प्रतिमा 'सिद्धभगवान' है।

भावार्थ - पहिले दो गाथाओं में तो जंगम प्रतिमा संयमी मुनियों की देहसहित कही। इन दो गाथाओं में 'थिरप्रतिमा' सिद्धों की कही, इसप्रकार जंगम थावर प्रतिमा का स्वरूप कहा। अन्य कई अन्यथा बहुत प्रकार से कल्पना करते हैं, वह प्रतिमा वंदन करने योग्य नहीं है।

यहाँ प्रश्न यह तो परमार्थस्वरूप कहा और बाह्य व्यवहार में पाषाणादिक की प्रतिमा की वंदना करते हैं, वह कैसे ? इसका समाधान - जो बाह्य व्यवहार में मतान्तर के भेद से अनेक रीति प्रतिमा की प्रवृत्ति है, यहाँ परमार्थ को प्रधान कर कहा है और व्यवहार है वहाँ जैसा प्रतिमा का परमार्थरूप हो उसी को सूचित करता हो वह निर्बाध है। जैसा परमार्थरूप आकार कहा वैसा ही आकाररूप व्यवहार हो वह व्यवहार भी प्रशस्त है; व्यवहारी जीवों के यह भी वंदन करने योग्य है। स्याद्वाद न्याय से सिद्ध किये गये परमार्थ और व्यवहार में विरोध नहीं है ॥१२-१३ ॥

इसप्रकार जिनप्रतिमा का स्वरूप कहा।

(४) आगे दर्शन का स्वरूप कहते हैं -

दंसेइ मोक्खमगं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च ।

णिगंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥१४॥

दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधर्मं च ।

निर्ग्रन्थं ज्ञानमयं जिनमार्गे दर्शनं भणितम् ॥१४॥

अर्थ - जो मोक्षमार्ग को दिखाता है वह 'दर्शन' है, मोक्षमार्ग कैसा है ? सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण सम्यक्त्वस्वरूप है, संयम अर्थात् चारित्र-पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति - ऐसे तेरह प्रकार चारित्ररूप है, सुधर्म अर्थात् उत्तमक्षमादिक दशलक्षण धर्मरूप है, निर्ग्रन्थरूप है, बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह रहित है, ज्ञानमयी है, जीव अजीवादि पदार्थों को जाननेवाला है। यहाँ 'निर्ग्रन्थ' और 'ज्ञानमयी' ये दो विशेषण दर्शन के भी होते हैं, क्योंकि दर्शन है सो बाह्य तो इसकी

सम्यक्त्व संयम धर्ममय शिवमग बतावनहार जो ।

वे ज्ञानमय निर्ग्रन्थ ही दर्शन कहे जिनमार्ग में ॥१४॥

मूर्ति निर्ग्रन्थ है और अंतरंग ज्ञानमयी है। इसप्रकार मुनि के रूप को जिनमार्ग में 'दर्शन' कहा है तथा इसप्रकार के रूप के श्रद्धानरूप सम्यक्त्व स्वरूप को 'दर्शन' कहते हैं।

भावार्थ – परमार्थरूप 'अंतरंग दर्शन' तो सम्यक्त्व है और 'बाह्य' उसकी मूर्ति, ज्ञानसहित ग्रहण किया निर्ग्रन्थ रूप, इसप्रकार मुनि का रूप है सो 'दर्शन' है, क्योंकि मत की मूर्ति को दर्शन कहना लोक में प्रसिद्ध है ॥

आगे फिर कहते हैं -

जह फुल्लं गंधमयं भवति हु खीरं स घियमयं चावि ।

तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥१५॥

यथा पुष्पं गंधमयं भवति स्फुटं क्षीरं तत् घृतमयं चापि ।

तथा दर्शनं हि सम्यक् ज्ञानमयं भवति रूपस्थम् ॥१५॥

अर्थ – जैसे फूल गंधमयी है, दूध घृतमयी है वैसे ही दर्शन अर्थात् मत में सम्यक्त्व है। कैसा है दर्शन ? अंतरंग तो ज्ञानमयी है और बाह्य रूपस्थ है-मुनि का रूप है तथा उत्कृष्ट श्रावक, अर्जिका का रूप है।

भावार्थ – 'दर्शन' नाम मत का प्रसिद्ध है। यहाँ जिनदर्शन में मुनि, श्रावक और आर्यिका का जैसा बाह्य भेष कहा सो 'दर्शन' जानना और इसकी श्रद्धा सो 'अंतरंग दर्शन' जानना। ये दोनों ही ज्ञानमयी हैं, यथार्थ तत्त्वार्थ का जाननेरूप सम्यक्त्व जिसमें पाया जाता है इसीलिए फूल में गंध का और दूध में घृत का दृष्टांत युक्त है, इसप्रकार दर्शन का रूप कहा। अन्यमत में तथा कालदोष से जिनमत में जैनाभास भेषी अनेकप्रकार अन्यथा कहते हैं जो कल्याणरूप नहीं है, संसार का कारण है ॥१५॥

(५) आगे जिनबिंब का निरूपण करते हैं -

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।

जं देह दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

दूध घृतमय लोक में अर पुष्प हैं ज्यों गंधमय ।

मुनिलिंगमय यह जैनदर्शन त्योंहि सम्यक् ज्ञानमय ॥१५॥

जो कर्मक्षय के लिए दीक्षा और शिक्षा दे रहे ।

वे वीतरागी ज्ञानमय आचार्य ही जिनबिंब हैं ॥१६॥

जिनबिंब ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च ।
यत् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षयकारणे शुद्धे ॥१६॥

अर्थ – जिनबिंब कैसा है ? ज्ञानमयी है, संयम से शुद्ध है, अतिशयकर वीतराग है, कर्म के क्षय का कारण और शुद्ध है – इसप्रकार की दीक्षा और शिक्षा देता है ।

भावार्थ – जो 'जिन' अर्थात् अरहन्त सर्वज्ञ का प्रतिबिंब कहलाता है । उसकी जगह उसके जैसा ही मानने योग्य हो, इसप्रकार आचार्य हैं वे दीक्षा अर्थात् व्रत का ग्रहण और शिक्षा अर्थात् व्रत का विधान बताना, ये दोनों भव्यजीवों को देते हैं । इसलिए १. प्रथम तो वह आचार्य ज्ञान मयी हो, जिनसूत्र का उनको ज्ञान हो, ज्ञान बिना यथार्थ दीक्षा-शिक्षा कैसे हो ? और २. आप संयम से शुद्ध हो, यदि इसप्रकार न हो तो अन्य को भी संयम से शुद्ध नहीं करा सकते । ३. अतिशय-विशेषतया वीतराग न हो तो कषायसहित हो तब दीक्षा, शिक्षा यथार्थ नहीं दे सकते हैं, अतः इसप्रकार आचार्य को जिन के प्रतिबिंब जानना ॥१६॥

आगे फिर कहते हैं –

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं ।
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥१७॥
तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वा पूजां च विनयं वात्सल्यम् ।
यस्य च दर्शनं ज्ञानं अस्ति ध्रुवं चेतनाभावः ॥१७॥

अर्थ – इसप्रकार पूर्वोक्त जिनबिंब को प्रणाम करो और सर्वप्रकार पूजा करो, विनय करो, वात्सल्य करो, क्योंकि उसके ध्रुव अर्थात् निश्चय से दर्शन-ज्ञान पाया जाता है और चेतनाभाव है ।

भावार्थ – दर्शन-ज्ञानमयी चेतनाभावसहित जिनबिंब आचार्य हैं, उनको प्रणामादिक करना । यहाँ परमार्थ प्रधान कहा है, जड़ प्रतिबिंब की गौणता है ॥१७॥

आगे फिर कहते हैं –

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
अरहन्तमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥१८॥

सद्ज्ञानदर्शन चेतनामय भावमय आचार्य को ।
अतिविनय वत्सलभाव से वंदन करो पूजन करो ॥१७॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षाशिक्षाणां च ॥१८॥

अर्थ – जो तप, व्रत और गुण अर्थात् उत्तरगुणों से शुद्ध हों, सम्यग्ज्ञान से पदार्थों को यथार्थ जानते हों, सम्यग्दर्शन से पदार्थों को देखते हों, इसीलिए जिनके शुद्ध सम्यक्त्व है – इसप्रकार जिनबिंब आचार्य है। यही दीक्षा-शिक्षा की देनेवाली अरहंत की मुद्रा है।

भावार्थ – इसप्रकार जिनबिंब है वह जिनमुद्रा ही है, इसप्रकार जिनबिंब का स्वरूप कहा है ॥१८॥

(६) आगे जिनमुद्रा का स्वरूप कहते हैं –

दृढसंजममुद्राए इन्द्रियमुद्रा कषायदृढमुद्रा ।
मुद्रा इह णाणाए जिणमुद्रा एरिसा भणिया ॥१९॥
दृढसंयममुद्रया इन्द्रियमुद्रा कषायदृढमुद्रा ।
मुद्रा इह ज्ञानेन जिनमुद्रा ईदृशी भणिता ॥१९॥

अर्थ – दृढ़ अर्थात् वज्रवत् चलाने पर भी न चले ऐसा संयम-इन्द्रिय मन का वश करना, षट्जीव निकाय की रक्षा करना, इसप्रकार संयमरूप मुद्रा से तो पाँच इन्द्रियों को विषयों में न प्रवर्ताना; उनका संकोच करना यह तो इन्द्रियमुद्रा है और इसप्रकार संयम द्वारा ही जिसमें कषायों की प्रवृत्ति नहीं है ऐसी कषायदृढ़मुद्रा है तथा ज्ञान को स्वरूप में लगाना इसप्रकार ज्ञान द्वारा सब बाह्यमुद्रा शुद्ध होती है। इसप्रकार जिनशास्त्र में ऐसी 'जिनमुद्रा' होती है।

भावार्थ – १. जो संयमसहित हो, २. जिसकी इन्द्रियाँ वश में हों, ३. कषायों की प्रवृत्ति न होती हो और ४. ज्ञान को स्वरूप में लगाता हो – ऐसा मुनि हो सो ही 'जिनमुद्रा' है ॥१९॥

(७) आगे ज्ञान का निरूपण करते हैं –

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥

व्रततप गुणों से शुद्ध सम्यक्भाव से पहिचानते ।
दें दीक्षा शिक्षा यही मुद्रा कही है अरिहंत की ॥१८॥
निज आतमा के अनुभवी इन्द्रियजयी दृढ़ संयमी ।
जीती कषायें जिन्होंने वे मुनी जिनमुद्रा कही ॥१९॥
संयमसहित निजध्यानमय शिवमार्ग ही प्राप्तव्य है ।
सद्ज्ञान से हो प्राप्त इससे ज्ञान ही ज्ञातव्य है ॥२०॥

संयमसंयुक्तस्य च सुध्यानयोग्यस्य
 मा लक्ष मा ग र य ।
 ज्ञानेन लभते लक्षं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम् ॥२०॥

अर्थ – संयम से संयुक्त और ध्यान के योग्य इसप्रकार जो मोक्षमार्ग उसका लक्ष्य अर्थात् लक्षणे योग्य-जाननेयोग्य निशाना जो अपना निजस्वरूप वह ज्ञान द्वारा पाया जाता है, इसलिए इसप्रकार के लक्ष्य को जानने के लिए ज्ञान को जानना ।

भावार्थ – संयम अंगीकार कर ध्यान करे और आत्मा का स्वरूप न जाने तो मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं है, इसीलिए ज्ञान का स्वरूप जानना चाहिए, उसके जानने से सर्वसिद्धि है ॥२०॥

आगे इसी को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं -

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो ।
 तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥
 तथा नापि लभते स्फुटं लक्षं रहितः कांडस्य वेधकविहीनः ।
 तथा नापि लक्षयति लक्षं अज्ञानी मोक्षमार्गस्य ॥२१॥

अर्थ – जैसे बेधनेवाला (वेधक) जो बाण उससे रहित ऐसा जो पुरुष है वह कांड अर्थात् धनुष के अभ्यास से रहित हो तो लक्ष्य अर्थात् निशाने को नहीं पाता है, वैसे ही ज्ञान से रहित अज्ञानी है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग उसका लक्ष्य अर्थात् स्वलक्षण से जानने योग्य परमात्मा के स्वरूप, उसको नहीं प्राप्त कर सकते ।

भावार्थ – धनुषधारी धनुष के अभ्यास से रहित और 'वेधक' बाण से रहित हो तो निशाने को नहीं प्राप्त कर सकते, वैसे ही ज्ञानरहित अज्ञानी मोक्षमार्ग का निशाना जो परमात्मा का स्वरूप है, उसको न पहिचाने तब मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती है, इसलिए ज्ञान को जानना चाहिए । परमात्मारूप निशाना ज्ञानरूपबाण द्वारा वेधना योग्य है ॥२१॥

आगे कहते हैं कि इसप्रकार ज्ञान-विनय-संयुक्त पुरुष होवे वही मोक्ष को प्राप्त करता है -

णाणं पुरिस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि

१. 'सुध्यानयोग्य' का श्रेष्ठ ध्यान सहित सं. टीका प्रति में ऐसा भी अर्थ है । २. 'वेधक-' 'वेध्यक' पाठान्तर है ।

है असंभव लक्ष्य विधना बाणबिन अभ्यासबिन ।
 मुक्तिमग पाना असंभव ज्ञानबिन अभ्यासबिन ॥२१॥
 मुक्तिमग का लक्ष्य तो बस ज्ञान से ही प्राप्त हो ।
 इसलिए सविनय करें जन-जन ज्ञान की आराधना ॥२२॥

विणयसंजुता ।
 गाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥
 ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषोऽपि विनयसंयुक्तः ।
 ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्षयन् मोक्षमार्गस्य ॥२२॥

अर्थ – ज्ञान पुरुष के होता है और पुरुष विनयसंयुक्त हो तो ज्ञान को प्राप्त करता है, जब ज्ञान को प्राप्त करता है तब उस ज्ञान द्वारा ही मोक्षमार्ग का लक्ष्य जो 'परमात्मा का स्वरूप' उसको लक्षता-देखता-ध्यान करता हुआ उस लक्ष्य को प्राप्त करता है ।

भावार्थ – ज्ञान पुरुष के होता है और पुरुष ही विनयवान होवे सो ज्ञान को प्राप्त करता है, उस ज्ञान द्वारा ही शुद्ध आत्मा का स्वरूप जाना जाता है, इसलिए विशेष ज्ञानियों के विनय द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करनी, क्योंकि निज शुद्ध स्वरूप को जानकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है । यहाँ जो विनयरहित हो, यथार्थ सूत्र पद से चिगा हो, भ्रष्ट हो गया हो उसका निषेध जानना ॥२२॥

आगे इसी को दृढ़ करते हैं -

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं ।
 परमत्थबद्धलक्खो णवि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥२३॥
 मतिधनुर्यस्य स्थिरं श्रुतं गुणः बाणाः सुसंति रत्नत्रयं ।
 परमार्थबद्धलक्ष्यः नापि स्वलति मोक्षमार्गस्य ॥२३॥

अर्थ – जिस मुनि के मतिज्ञानरूप धनुष स्थिर हो, श्रुतज्ञानरूप गुण अर्थात् प्रत्यंचा हो, रत्नत्रयरूप उत्तम बाण हो और परमार्थस्वरूप निजशुद्धात्मस्वरूप का संबन्धरूप लक्ष्य हो, वह मुनि मोक्षमार्ग को नहीं चूकता है ।

भावार्थ – धनुष की सब सामग्री यथावत् मिले तब निशाना नहीं चूकता है वैसे ही मुनि के मोक्षमार्ग की यथावत् सामग्री मिले तब मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता है । उसके साधन से मोक्ष को प्राप्त होता है । यह ज्ञान का माहात्म्य है, इसलिए जिनागम के अनुसार सत्यार्थ ज्ञानियों का विनय करके ज्ञान का साधन करना ॥२३॥

इसप्रकार ज्ञान का निरूपण किया ।

(८) आगे देव का स्वरूप कहते हैं ।

मति धनुष श्रुतज्ञान डोरी रत्नत्रय के बाण हों ।
 परमार्थ का हो लक्ष्य तो मुनि मुक्तिमग नहीं चूकते ॥२३॥

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामांशुदेइ णाणं च ।
 सो दइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पवज्जा ॥२४॥
 सः देवः यः अर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च ।
 सः ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः धर्मः च
 प्र व ज य ा । । २ ४ । ।

अर्थ – ‘देव’ उसको कहते हैं जो अर्थ अर्थात् धन, धर्म, काम अर्थात् इच्छा का विषय – ऐसा भोग और मोक्ष का कारण ज्ञान इन चारों को देवे । यहाँ न्याय ऐसा है कि जो वस्तु जिसके पास हो सो देवे और जिसके पास जो वस्तु न हो सो कैसे देवे ? इस न्याय से अर्थ, धर्म, स्वर्गादिक के भोग और मोक्षसुख का कारण प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा जिसके हो उसको ‘देव’ जानना ॥२४॥

आगे धर्मादिक का स्वरूप कहते हैं, जिनके जानने से देवादि का स्वरूप जाना जाता है –

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।
 देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥२५॥
 धर्मः दयाविशुद्धः प्रव्रज्या सर्वसंगपरित्यक्ता ।
 देवः व्यपगतमोहः उदयकरः भव्यजीवानाम् ॥२५॥

अर्थ – जो दया से विशुद्ध है वह धर्म है, जो सर्व परिग्रह से रहित है वह प्रव्रज्या है, जिसका मोह नष्ट हो गया है वह देव है, वह भव्य जीवों के उदय को करनेवाला है ।

भावार्थ – लोक में यह प्रसिद्ध है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुष के प्रयोजन हैं । उनके लिए पुरुष किसी को वंदना करता है, पूजा करता है और यह न्याय है कि जिसके पास जो वस्तु हो वह दूसरे को देवे, न हो तो कहाँ से लावे ? इसलिए ये चार पुरुषार्थ जिनदेव के पाये जाते हैं । धर्म तो उनके दयारूप पाया जाता है, उसको साधकर तीर्थकर हो गये, तब धन की और संसार के भोगों की प्राप्ति हो गई, लोकपूज्य हो गए और तीर्थकर के परमपद में दीक्षा लेकर, सब

धर्मार्थ कामरु ज्ञान देवे देव जन उसको कहें ।
 जो हो वही दे नीति यह धर्मार्थ कारण प्रव्रज्या ॥२४॥
 सब संग का परित्याग दीक्षा दयामय सद्धर्म हो ।
 अर भव्यजन के उदय कारक मोह विरहित देव हों ॥२५॥

मोह से रहित होकर, परमार्थस्वरूप आत्मिकधर्म को साधकर, मोक्षसुख को प्राप्त कर लिया ऐसे तीर्थकर जिन हैं, वे ही 'देव' हैं।

अज्ञानी लोग जिनको देव मानते हैं, उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नहीं है, क्योंकि कई हिंसक हैं, कई विषयासक्त हैं, मोही हैं, उनके धर्म कैसा ? अर्थ और काम की जिनके वांछा पाई जाती है, उनके अर्थ, काम कैसा ? जन्म, मरण सहित हैं, उनके मोक्ष कैसे ? ऐसा देव सच्चा जिनदेव ही है वही भव्यजीवों के मनोरथ पूर्ण करते हैं, अन्य सब कल्पित देव हैं ॥२५॥

इसप्रकार देव का स्वरूप कहा -

(९) आगे तीर्थ का स्वरूप कहते हैं -

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेंद्रियसंजदे णिरावेक्खे ।

णहाएउ मुणी तित्थे, दिक्खासिक्खासुणहाणेण ॥२६॥

व्रतसम्यक्त्वविशुद्धे पंचेंद्रियसंयते निरपेक्षे ।

स्नातु मुनिः तीर्थे दीक्षाशिक्षासुस्नानेन ॥२६॥

अर्थ - व्रत सम्यक्त्व से विशुद्ध और पाँच इन्द्रियों से संयत अर्थात् संवरसहित तथा निरपेक्ष अर्थात् ख्याति, लाभ, पूजादिक इस लोक के फल की तथा परलोक में स्वर्गादिक के भोगों की अपेक्षा से रहित ऐसे आत्मस्वरूप तीर्थ में दीक्षा-शिक्षारूप स्नान से पवित्र होओ।

भावार्थ - तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण-सहित, पाँच महाव्रत से शुद्ध और पाँच इन्द्रियों के विषयों से विरक्त, इस लोक-परलोक में विषयभोगों की वांछा से रहित ऐसे निर्मल आत्मा के स्वभावरूप तीर्थ में स्नान करने से पवित्र होते हैं, ऐसी प्रेरणा करते हैं ॥२६॥

आगे फिर कहते हैं -

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं ।

तं तित्थं जिणमगो हवेइ जदि सतिभावेण ॥२७॥

यत् निर्मलं सुधर्मं, सम्यक्त्वं संयमं तपः ज्ञानम् ।

सम्यक्त्वव्रत से शुद्ध संवर सहित अर इन्द्रियजयी ।

निरपेक्ष आत्मतीर्थ में स्नान कर परिशुद्ध हों ॥२६॥

यदि शान्त हों परिणाम निर्मलभाव हों जिनमार्ग में ।

तो जान लो सम्यक्त्व संयम ज्ञान तप ही तीर्थ है ॥२७॥

तत् तीर्थं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन ॥२७॥

अर्थ – जिनमार्ग में वह तीर्थ है जो निर्मल उत्तमक्षमादिक धर्म तथा तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण शंकादिमलरहित निर्मल सम्यक्त्व तथा इन्द्रिय व मन को वश में करना, षट्काय के जीवों से रक्षा करना इसप्रकार जो निर्मल संयम तथा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश – ऐसे बाह्य छह प्रकार के तप और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग व ध्यान ऐसे छह प्रकार के अंतरंग तप – इसप्रकार बारह प्रकार के निर्मल तप और जीव-अजीव आदि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान, ये ‘तीर्थ’ हैं, ये भी यदि शांतभावसहित हो, कषायभाव न हो तब निर्मल तीर्थ हैं, क्योंकि यदि ये क्रोधादिकभावसहित हों तो मलिनता हो और निर्मलता न रहे ॥

भावार्थ – जिनमार्ग में तो इसप्रकार ‘तीर्थ’ कहा है। लोग सागर-नदियों को तीर्थ मानकर स्नान करके पवित्र होना चाहते हैं, वह शरीर का बाह्यमल इनसे कुछ उतरता है, परन्तु शरीर के भीतर का धातु-उपधातुरूप अन्तर्मल इनसे उतरता नहीं है तथा ज्ञानावरण आदि कर्मरूप मल और अज्ञान राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्मरूप मल आत्मा के अन्तर्मल हैं, वह तो इनसे कुछ भी उतरते नहीं हैं, उल्टा हिंसादिक से पापकर्मरूप मल लगता है, इसलिए सागर-नदी आदि को तीर्थ मानना भ्रम है। जिससे तिरे सो ‘तीर्थ’ है इसप्रकार जिनमार्ग में कहा है, उसे ही संसारसमुद्र से तारनेवाला जानना ॥२७॥

इसप्रकार तीर्थ का स्वरूप कहा।

(१०) आगे अरहंत का स्वरूप कहते हैं –

णामे ठवणे हि संद्वे भावे हि सगुणपज्जाया ।

चउणागदि संपदिमे^१ भावा भावन्ति अरहन्तं ॥२८॥

नान्मि संस्थापनायां हि च संद्रव्ये भावे च सगुणपर्यायाः^२ ।

च्यवनमागतिः संपत् इमे भावा भावयन्ति अर्हन्तम् ॥२८॥

अर्थ – नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव – ये चार भाव अर्थात् पदार्थ हैं, ये अरहंत को बतलाते हैं और सगुणपर्यायाः अर्थात् अरहंत के गुण पर्यायोंसहित तथा चउणा अर्थात् च्यवन और

१. सं. प्रति में ‘संपदिम’ पाठ है। २. ‘सगुणपज्जाया’ इस पद की छाया में ‘स्वगुण पर्यायाः’ सं. प्रति में है।

नाम थापन द्रव्य भावों और गुणपर्यायों से।

च्यवन आगति संपदा से जानिये अरिहंत को ॥२८॥

आगति व सम्पदा - ऐसे ये भाव अरहंत को बतलाते हैं ।

भावार्थ - अरहंत शब्द से यद्यपि सामान्य अपेक्षा केवलज्ञानी हों वे सब ही अरहंत हैं तो भी यहाँ तीर्थकर पद की प्रधानता से कथन करते हैं, इसलिए नामादिक से बतलाना कहा है । लोकव्यवहार में नाम आदि की प्रवृत्ति इसप्रकार है कि जो जिस वस्तु का नाम हो वैसा गुण न हो उसको **नामनिक्षेप** कहते हैं । जिस वस्तु को जैसा आकार हो उस आकार की काष्ठ-पाषाणादिक की मूर्ति बनाकर उसका संकल्प करे उसको **स्थापना** कहते हैं । जिस वस्तु की पहली अवस्था हो उस ही को आगे की अवस्था प्रधान करके कहे उसको **द्रव्य** कहते हैं । वर्तमान में जो अवस्था हो उसको **भाव** कहते हैं । ऐसे चार निक्षेप की प्रवृत्ति है । उसका कथन शास्त्र में भी लोगों को समझाने के लिए किया है । जो निक्षेप विधान द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य को भाव न समझे, नाम को नाम समझे, स्थापना को स्थापना समझे, द्रव्य को द्रव्य समझे, भाव को भाव समझे, अन्य को अन्य समझे, अन्यथा तो 'व्यभिचार' नाम का दोष आता है । उसे दूर करने के लिए लोगों को यथार्थ समझाने के लिए शास्त्र में कथन है, किन्तु यहाँ वैसा निक्षेप का कथन नहीं समझना । यहाँ तो निश्चयनय की प्रधानता से कथन है सो जैसा अरहंत का नाम है वैसा ही गुण सहित नाम जानना, स्थापना जैसी उसकी देह सहित मूर्ति है वही स्थापना जानना, जैसा उसका द्रव्य है, वैसा द्रव्य जानना और जैसा उसका भाव है वैसा ही भाव जानना ॥२८॥

इसप्रकार ही कथन आगे करते हैं । प्रथम ही नाम को प्रधान करके कहते हैं -

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्टुक्कम्मबंधेण ।

णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥२९॥

दर्शनं^१ अनंतं ज्ञानं मोक्षः नष्टानष्टकर्मबंधेन ।

निरुपमगुणमारूढः अर्हन् ईदृशो भवति ॥२९॥

अर्थ - जिसके दर्शन और ज्ञान ये तो अनन्त हैं, घातिकर्म के नाश से सब ज्ञेय पदार्थों को देखना व जानना है, अष्ट कर्मों का बंध नष्ट होने से मोक्ष है । यहाँ सत्त्व की और उदय की विवक्षा न लेना, केवली के आठों ही कर्म का बंध नहीं है । यद्यपि साता वेदनीय का आस्रव मात्र बंध सिद्धान्त में कहा है तथापि स्थिति अनुभागरूप बंध नहीं है, इसलिए अबंधतुल्य ही है । इसप्रकार आठों ही कर्मबंध के अभाव की अपेक्षा भावमोक्ष कहलाता है और उपमारहित गुणों से आरूढ

१. सटीक सं. प्रति में 'दर्शने अनंत ज्ञाने' ऐसा सप्तमी अंत आठ है ।

अनंत दर्शन ज्ञानयुत आरूढ अनुपम गुणों में ।

कर्माष्ट बंधन मुक्त जो वे ही अरे अरिहंत हैं ॥२९॥

हैं-सहित हैं। इसप्रकार गुण छद्मस्थ में कहीं भी नहीं है, इसलिए जिसमें उपमारहित गुण हैं, ऐसे अरहंत होते हैं।

भावार्थ – केवल नाममात्र ही अरहंत हो उसको अरहंत नहीं कहते हैं। इसप्रकार के गुणों से सहित हो उसको अरहंत कहते हैं।

आगे फिर कहते हैं -

जरवाहिजम्ममरणं चउगङ्गमणं च पुण्णपावं च ।

हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥

जराव्याधिजन्ममरणं चतुर्गतिगमनं पुण्यपावं च ।

हत्वा दोषकर्माणि भूतः ज्ञानमयश्चार्हन् ॥३०॥

अर्थ – जरा-बुढ़ापा, व्याधि-रोग, जन्म-मरण, चारों गतियों में गमन, पुण्य-पाप और दोषों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों का नाश करके, केवलज्ञानमयी अरहंत हुआ हो वह 'अरहंत' है।

भावार्थ – पहिली गाथा में तो गुणों के सद्भाव से अरहंत नाम कहा और इस गाथा में दोषों के अभाव से अरहंत नाम कहा। राग, द्वेष, मद, मोह, अरति, चिंता, भय, निद्रा, विषाद, खेद और विस्मय ये ग्यारह दोष तो घातिकर्म के उदय से होते हैं और क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, रोग और स्वेद - ये सात दोष अघातिकर्म के उदय से होते हैं। इस गाथा में जरा, रोग, जन्म, मरण और चार गतियों में गमन का अभाव कहने से तो अघातिकर्म से हुए दोषों का अभाव जानना, क्योंकि अघातिकर्म में इन दोषों को उत्पन्न करनेवाली पापप्रकृतियों के उदय का अरहंत के अभाव है और रागद्वेषादिक दोषों का घातिकर्म के अभाव से अभाव है।

यहाँ कोई पूछे - अर्हन्त को मरण का और पुण्य का अभाव कहा; मोक्षगमन होना यह 'मरण' अरहंत के है और पुण्यप्रकृतियों का उदय पाया जाता है, उनका अभाव कैसे ?

उसका समाधान - यहाँ मरण होकर फिर संसार में जन्म हो इसप्रकार के 'मरण' की अपेक्षा यह कथन है, इसप्रकार मरण अरहंत के नहीं है, उसीप्रकार जो पुण्यप्रकृति का उदय पापप्रकृति सापेक्ष करे इसप्रकार पुण्य के उदय का अभाव जानना अथवा बंध-अपेक्षा पुण्य का भी बंध नहीं है। सातावेदनीय बंधे वह स्थिति-अनुभाग बिना बंधतुल्य ही है।

प्रश्न - केवली के असाता वेदनीय का उदय भी सिद्धान्त में कहा है, उसकी प्रवृत्ति कैसे है ?

जन्ममरणजरा चतुर्गतिगमन पापरु पुण्य सब ।

दोषोत्पादक कर्म नाशक ज्ञानमय अरिहंत हैं ॥३०॥

उत्तर - इसप्रकार जो असाता का अत्यन्त मंद-बिल्कुल मंद अनुभाग उदय है और साता का अति तीव्र अनुभाग उदय है, उसके वश से असाता कुछ बाह्य कार्य करने में समर्थ नहीं है, सूक्ष्म उदय देकर खिर जाता है तथा संक्रमणरूप होकर सातारूप हो जाता है, इसप्रकार जानना । इसप्रकार अनंत चतुष्टयसहित सर्वदोषरहित सर्वज्ञ वीतराग हो उसको नाम से 'अरहंत' कहते हैं ॥३०॥

आगे स्थापना द्वारा अरहंत का वर्णन करते हैं -

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं ।

ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥३१॥

गुणस्थानमार्गणाभिः च पर्याप्तिप्राणजीवस्थानैः ।

स्थापना पंचविधैः प्रणेत्व्या अर्हत्पुरुषस्य ॥३१॥

अर्थ - गुणस्थान, मार्गणास्थान, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान इन पाँच प्रकार से अरहंत पुरुष की स्थापना प्राप्त करना अथवा उसको प्रणाम करना चाहिए ।

भावार्थ - स्थापनानिक्षेप में काष्ठपाषाणादिक में संकल्प करना कहा है सो यहाँ प्रधान नहीं है । यहाँ निश्चय की प्रधानता से कथन है । यहाँ गुणस्थानादिक से अरहंत का स्थापन कहा है ॥३१॥

आगे विशेष कहते हैं -

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो ।

चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ट पडिहारा ॥३२॥

त्रयोदशे गुणस्थाने सयोगकेवलिकः भवति अर्हन् ।

चतुस्त्रिंशत् अतिशयगुणा भवंति स्फुटं तस्याष्टप्रातिहार्या ॥३२॥

अर्थ - गुणस्थान चौदह कहे हैं, उसमें सयोगकेवली नाम तेरहवाँ गुणस्थान है । उसमें योगों की प्रवृत्तिसहित केवलज्ञानसहित सयोगकेवली अरहंत होता है । उनके चौतीस अतिशय और आठ प्रतिहार्य होते हैं, ऐसे तो गुणस्थान द्वारा 'स्थापना अरहंत' कहलाते हैं ।

गुणस्थान मार्गणस्थान जीवस्थान अर पर्याप्ति से ।

और प्राणों से करो अरहंत की स्थापना ॥३१॥

आठ प्रातिहार्य अरु चौतीस अतिशय युक्त हों ।

सयोगकेवलि तेरवें गुणस्थान में अरहंत हों ॥३२॥

भावार्थ – यहाँ चौतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य कहने से तो समवसरण में विराजमान तथा विहार करते हुए अरहंत हैं और 'सयोग' कहने से विहार की प्रवृत्ति और वचन की प्रवृत्ति सिद्ध होती है। 'केवली' कहने से केवलज्ञानद्वारा सब तत्त्वों का जानना सिद्ध होता है। चौतीस अतिशय इसप्रकार हैं – जन्म से प्रकट होनेवाले दस – १. मलमूत्र का अभाव, २. पसेव का अभाव, ३. धवल रुधिर होना, ४. समचतुरस्रसंस्थान, ५. वज्रवृषभनाराच संहनन, ६. सुन्दर रूप, ७. सुगंध शरीर, ८. शुभ लक्षण होना, ९. अनन्त बल, १०. मधुर वचन – इसप्रकार दस होते हैं।

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर दस होते हैं – १. उपसर्ग का अभाव, २. अदया का अभाव, ३. शरीर की छाया न पड़ना, ४. चतुर्मुख दीखना, ५. सब विद्याओं का स्वामित्व, ६. नेत्रों के पलक न गिरना, ७. शतयोजन सुभिक्षता, ८. आकाशगमन, ९. कवलाहार नहीं होना, १०. नख-केशों का नहीं बढ़ना, ऐसे दस होते हैं।

चौदह देवकृत होते हैं – १. सकलार्द्धमागधी भाषा, २. सब जीवों में मैत्रीभाव, ३. सब ऋतु के फल-फूल फलना, ४. दर्पण समान भूमि, ५. कंटकरहित भूमि, ६. मंद सुगंध पवन, ७. सबके आनंद होना, ८. गंधोदकवृष्टि, ९. पैरों के नीचे कमल रचना, १०. सर्वधान्य निष्पत्ति, ११. दशों दिशाओं का निर्मल होना, १२. देवों के द्वारा आह्वानन शब्द, १३. धर्मचक्र का आगे चलना, १४. अष्ट मंगल द्रव्यों का आगे चलना।

अष्ट मंगल द्रव्यों के नाम – १. छत्र, २. ध्वजा, ३. दर्पण, ४. कलश, ५. चामर, ६. भृङ्गार (झारी), ७. ताल (ठवणा) और स्वस्तिक (साँथिया) अर्थात् सुप्रतीच्छक ऐसे आठ होते हैं। ऐसे चौतीस अतिशय के नाम कहे।

आठ प्रातिहार्य होते हैं, उनके नाम ये हैं – १. अशोकवृक्ष, २. पुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चामर, ५. सिंहासन, ६. भामण्डल, ७. दुन्दुभिवादित्र और ८. छत्र – ऐसे आठ होते हैं। इसप्रकार गुणस्थान द्वारा अरहंत का स्थापन कहा ॥३२॥

अब मार्गणा द्वारा कहते हैं –

गइ इंद्रियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।

गति इन्द्रिय कायरु योग वेद कसाय ज्ञानरु संयमा ।

दर्शलेश्या भव्य सम्यक् संज्ञिना आहार हैं ॥३३॥

संजम दंसण लेसा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥३३॥

गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च ।

संयमे दर्शने लेश्यायां भव्यत्वे सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे ॥३३॥

अर्थ – गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार इसप्रकार चौदह मार्गणा होती हैं। अरहंत सयोगकेवली को तेरहवाँ गुणस्थान है, इसमें 'मार्गणा' लगाते हैं। गति चार में मनुष्यगति है, इन्द्रियजाति पाँच में पंचेन्द्रिय जाति है, काय में छह त्रसकाय है, योग पन्द्रह में योग-मनोयोग तो सत्य और अनुभय इसप्रकार दो और ये ही वचनयोग दो तथा काययोग औदारिक इसप्रकार पाँच योग हैं, जब समुद्घात करे तब औदारिकमिश्र और कार्माण ये दो मिलकर सात योग हैं। वेद – तीनों का ही अभाव है; कषाय – पच्चीस सब ही प्रकार का अभाव है; ज्ञान आठ में केवलज्ञान है; संयम सात में एक यथाख्यात है; दर्शन चार में एक केवलदर्शन है; लेश्या छह में एक शुक्ल जो योगनिमित्त है; भव्य दो में एक भव्य है; सम्यक्त्व छह में क्षायिक सम्यक्त्व है; संज्ञी दो में संज्ञी है, वह द्रव्य से हैं भाव से क्षयोपशमरूप भावमन का अभाव है; आहारक अनाहारक दो में 'आहारक' है वह भी नोकर्मवर्गणा अपेक्षा है, किन्तु कवलाहार नहीं है और समुद्घात करे तो 'अनाहारक' भी है, इसप्रकार दोनों हैं। इसप्रकार मार्गणा अपेक्षा अरहंत का स्थापन जानना ॥३३॥

आगे पर्याप्ति द्वारा कहते हैं –

आहारो य सरीरो इन्द्रियमणआणपाणभासा य ।

पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो ॥३४॥

आहारः च शरीरं इन्द्रियमनआनप्राणभाषाः च ।

पर्याप्तिगुणसमृद्धः उत्तमदेवः भवति अर्हन् ॥३४॥

अर्थ – आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन, आनप्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास और भाषा इसप्रकार छह पर्याप्ति हैं, इस पर्याप्ति गुण द्वारा समृद्ध अर्थात् युक्त उत्तम देव अरहंत हैं।

भावार्थ – पर्याप्ति का स्वरूप इसप्रकार है – जो जीव एक अन्य पर्याय को छोड़कर अन्य पर्याय में जावे तब विग्रह गति में तीन समय उत्कृष्ट बीच में रहे, पीछे सैनी पंचेन्द्रिय में उत्पन्न हो। वहाँ तीन जाति की वर्गणा का ग्रहण करे, आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, इसप्रकार

आहार तन मन इन्द्रि श्वासोच्छ्वास भाषा छहों इन ।

पर्याप्तियों से सहित उत्तम देव ही अरहंत हैं ॥३४॥

ग्रहण करके 'आहार' जाति की वर्गणा से तो आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास - इसप्रकार चार पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्त काल में पूर्ण करे, तत्पश्चात् भाषाजाति मनोजाति की वर्गणा से अन्तर्मुहूर्त में ही भाषा, मनःपर्याप्ति पूर्ण करे, इसप्रकार छहों पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण करता है तत्पश्चात् आयुपर्यन्त पर्याप्त ही कहलाता है और नोकर्मवर्गणा का ग्रहण करता ही रहता है। यहाँ आहार नाम कवलाहार का नहीं जानना। इसप्रकार तेरहवें गुणस्थान में भी अरहंत के पर्याप्ति पूर्ण ही है, इसप्रकार पर्याप्ति द्वारा अरहंत की स्थापना है ॥३४॥

आगे प्राणद्वारा कहते हैं -

पंच वि इंद्रियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा ।

आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ॥३५॥

पंचापि इंद्रियप्राणाः मनोवचनकायैः त्रयो बलप्राणाः ।

आनप्राणप्राणाः आयुष्कप्राणेन भवन्ति दशप्राणाः ॥३५॥

अर्थ - पाँच इंद्रियप्राण, मन-वचन-काय तीन बलप्राण, एक श्वासोच्छ्वास प्राण और एक आयुप्राण ये दस प्राण हैं।

भावार्थ - इसप्रकार दस प्राण कहे उनमें तेरहवें गुणस्थान में भावइन्द्रिय और भावमन का क्षयोपशमभावरूप प्रवृत्ति नहीं है इस अपेक्षा तो कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु - ये चार प्राण हैं और द्रव्य अपेक्षा दसों ही हैं। इसप्रकार प्राण द्वारा अरहंत का स्थापन है ॥३५॥

आगे जीवस्थानद्वारा कहते हैं -

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्टाणेसु होइ चउदसमे ।

एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरहो ॥३६॥

मनजुभवे पंचेन्द्रियः जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशे ।

एतद्गुणगणयुक्तः गुणमारूढो भवति अर्हन् ॥३६॥

अर्थ - मनुष्यभव में पंचेन्द्रिय नाम के चौदहवें जीवस्थान अर्थात् जीवसमास उसमें इतने गुणों के समूह से युक्त तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त अरहंत होते हैं।

पंचेन्द्रियों मन-वचन-तन बल और श्वासोच्छ्वास

भ ी ।

अर आयु - इन दश प्राणों में अरिहंत की स्थापना ॥३५॥

सैनी पंचेन्द्रियों नाम के इस चतुर्दश जीवस्थान में।

अरहंत होते हैं सदा गुणसहित मानवलोक में ॥३६॥

भावार्थ- जीवसमास चौदह कहे हैं - एकेन्द्रिय सूक्ष्म और बादर २. दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चोइन्द्रिय ऐसे विकलत्रय-३, पंचेन्द्रिय असैनी सैनी २, ऐसे सात हुए, ये पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चौदह हुए। इनमें चौदहवाँ 'सैनी पंचेन्द्रिय जीवस्थान' अरहंत के हैं। गाथा में सैनी का नाम न लिया और मनुष्यभव का नाम लिया सो मनुष्य सैनी ही होते हैं, असैनी नहीं होते हैं, इसलिए मनुष्य कहने से 'सैनी' ही जानना चाहिए ॥३६॥

इसप्रकार जीवस्थानद्वारा 'स्थापना अरहंत' का वर्णन किया -

आगे द्रव्य की प्रधानता से अरहंत का निरूपण करते हैं -

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।
 सिंहाण खेले सेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य ॥३७॥
 दस पाणा पज्जती अट्टसहस्सा य लक्खणा भणिया ।
 गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥३८॥
 एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
 ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स ॥३९॥
 जराव्याधिदुःखरहितः आहारनीहारवर्जितः विमलः ।
 सिंहाणः खेलः स्वेदः नास्ति दुर्गन्ध च दोषः च ॥३७॥
 दश प्राणाः पर्याप्तयः अष्टसहस्राणि च लक्षणानि भणितानि ।
 गोक्षीरशंखधवलं मांसं रुधिरं च सर्वांगे ॥३८॥
 ईदृशगुणैः सर्वैः अतिशयवान् सुपरिमलामोदः ।
 औदारिकश्च कायः अर्हत्पुरुषस्य ज्ञातव्यः ॥३९॥

अर्थ - अरहंत पुरुष के औदारिक काय इसप्रकार होता है, जो जरा, व्याधि और रोग संबंधी दुःख उसमें नहीं है, आहार-नीहार से रहित है, विमल अर्थात् मलमूत्र रहित है; सिंहाण अर्थात् श्लेष्म, खेल अर्थात् थूक, पसेव और दुर्गन्ध अर्थात् जुगुप्सा, ग्लानि और दुर्गन्धादि दोष उसमें

व्याधी बुढ़ापा श्वेद मल आहार अर नीहार से ।
 थूक से दुर्गन्ध से मल-मूत्र से वे रहित हैं ॥३७॥
 अठ सहस लक्षण सहित हैं अर रक्त है गोक्षीर सम ।
 दश प्राण पर्याप्ती सहित सर्वांग सुन्दर देह है ॥३८॥
 इस तरह अतिशयवान निर्मल गुणों से सयुक्त हैं ।
 अर परम औदारिक श्री अरिहंत की नरदेह है ॥३९॥

नहीं है ॥३७॥

दस तो उसमें प्राण होते हैं वे द्रव्यप्राण हैं, पूर्ण पर्याप्ति है, एक हजार आठ लक्षण हैं और गोक्षीर अर्थात् कपूर अथवा चंदन तथा शंख जैसा उसमें सर्वांग धवल रुधिर और मांस है ॥३८॥

इसप्रकार गुणों से संयुक्त सर्व ही देह अतिशयसहित निर्मल है, आमोद अर्थात् सुगंध जिसमें इसप्रकार अरहंत पुरुष औदारिक देह के है ॥३९॥

भावार्थ – यहाँ द्रव्यनिक्षेप नहीं समझना। आत्मा से जुदा ही देह की प्रधानता से 'द्रव्य अरहंत का' वर्णन है ॥३७-३८-३९॥

इसप्रकार द्रव्य अरहंत का वर्णन किया।

आगे भाव की प्रधानता से वर्णन करते हैं -

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविशुद्धो ।

चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥४०॥

मदरागदोषरहितः कषायमलवर्जितः च सुविशुद्धः ।

चित्तपरिणामरहितः केवलभावे ज्ञातव्यः ॥४०॥

अर्थ – केवलभाव अर्थात् केवलज्ञानरूप ही एक भाव होते हुए अरहंत होते हैं - ऐसा जानना। मद अर्थात् मानकषाय से हुआ गर्व, राग, द्वेष अर्थात् कषायों के तीव्र उदय से होनेवाले प्रीति और अप्रीतिरूप परिणाम इनसे रहित हैं, पच्चीस कषायरूप मल उसका द्रव्यकर्म तथा उनके उदय से हुआ भावमल उससे रहित है, इसीलिए अत्यन्त विशुद्ध है-निर्मल है, चित्तपरिणाम अर्थात् मन के परिणामरूप विकल्प से रहित है, ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशमरूप मन का विकल्प नहीं है, इसप्रकार केवल एक ज्ञानरूप वीतरागस्वरूप 'भाव अरहंत' जानना ॥४०॥

आगे भाव ही का विशेष कहते हैं -

सम्मदंसणि पस्सदि जाणदि गाणेण दव्वपज्जाया ।

सम्मत्तगुणविशुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो ॥४१॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति ज्ञानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान् ।

राग-द्वेष विकार वर्जित विकल्पों से पार हैं।

कषायमल से रहित केवलज्ञान से परिपूर्ण हैं ॥४०॥

सद्दृष्टि से सम्पन्न अर सब द्रव्य-गुण-पर्याय को।

जो देखते अर जानते जिननाथ वे अरिहंत हैं ॥४१॥

सम्यक्त्वगुणविशुद्धः भावः अर्हतः ज्ञातव्यः ॥४१॥

अर्थ – ‘भाव अरहंत’ सम्यग्दर्शन से तो अपने को तथा सबको सत्तामात्र देखते हैं, इसप्रकार जिनको केवलदर्शन है, ज्ञान से सब द्रव्य-पर्यायों को जानते हैं, इसप्रकार जिनको केवलज्ञान है, जिनको सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है, इसप्रकार अरहंत का भाव जानना ।

भावार्थ – अरहंतपना घातियाकर्म के नाश से होता है । मोहकर्म के नाश से सम्यक्त्व और कषाय के अभाव से परमवीतरागता सर्वप्रकार निर्मलता होती है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के नाश से अनंतदर्शन-अनंतज्ञान प्रकट होता है, इनसे सब द्रव्य-पर्यायों को एक समय में प्रत्यक्ष देखते हैं और जानते हैं ।

द्रव्य छह हैं, उनमें जीवद्रव्य की संख्या अनंतानंत है, पुद्गलद्रव्य उससे अनंतानंतगुणे हैं, आकाशद्रव्य एक है, वह अनंतानंत प्रदेशी है, इसके मध्य में सब जीव पुद्गल असंख्यात प्रदेश में स्थित हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य – ये दोनों असंख्यातप्रदेशी हैं, इनसे आकाश के लोक-अलोक का विभाग है, उसी लोक में ही कालद्रव्य के असंख्यात कालाणु स्थित हैं । इन सब द्रव्यों के परिणामरूप पर्याय हैं वे एक-एक द्रव्य के अनंतानंत हैं, उनको कालद्रव्य का परिणाम निमित्त है, उसके निमित्त से क्रमरूप होता समयादिक ‘व्यवहारकाल’ कहलाता है । इसकी गणना से अतीत, अनागत, वर्तमान द्रव्यों की पर्यायें अनंतानंत हैं, इन सब द्रव्यपर्यायों को अरहंत का दर्शन-ज्ञान एकसमय में देखता और जानता है, इसीलिए अरहंत को सर्वदर्शी-सर्वज्ञ कहते हैं ।

भावार्थ – इसप्रकार अरहंत का निरूपण चौदह गाथाओं में किया । प्रथम गाथा में नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, गुण, पर्याय सहित च्यवन, आगति, संपत्ति ये भाव अरहंत को बतलाते हैं । इसका व्याख्यान नामादि कथन में सर्व ही आ गया, उसका संक्षेप भावार्थ लिखते हैं –

गर्भकल्याणक – प्रथम गर्भकल्याणक होता है, गर्भ में आने के छह महीने पहिले इन्द्र का भेजा हुआ कुबेर, जिस राजा की रानी के गर्भ में तीर्थकर आयेंगे, उसके नगर की शोभा करता है, रत्नमयी सुवर्णमयी मन्दिर बनाता है, नगर के कोट, खाई, दरवाजे, सुन्दर वन, उपवन की रचना करता है, सुन्दर भेषवाले नर-नारी नगर में बसाता है, नित्य राजमन्दिर पर रत्नों की वर्षा होती रहती है, तीर्थकर का जीव जब माता के गर्भ में आता है, तब माता को सोलह स्वप्न आते हैं, रुचकवरद्वीप में रहनेवाली देवांगनायें माता की नित्य सेवा करती हैं, ऐसे नौ महीने पूरे होने पर प्रभु

का तीन ज्ञान और दस अतिशय सहित जन्म होता है, तब तीन लोक में आनंदमय क्षोभ होता है, देवों के बिना बजाए बाजे बजते हैं, इन्द्र का आसन कंपायमान होता है, तब इन्द्र प्रभु का जन्म हुआ जानकर स्वर्ग से ऐरावत हाथी पर चढ़कर आता है, सर्व चार प्रकार के देव-देवी एकत्र होकर आते हैं, शची (इन्द्राणी) माता के पास जाकर गुप्तरूप से प्रभु को ले आती हैं, इन्द्र हर्षित होकर हजार नेत्रों से देखता है।

फिर सौधर्म इन्द्र, बालक शरीरी भगवान को अपनी गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर चढ़कर मेरुपर्वत पर जाता है, ईशान इन्द्र छत्र धारण करता है, सनत्कुमार, महेन्द्र इन्द्र चंवर ढोरते हैं, मेरु के पांडुकवन की पांडुकशिला पर सिंहासन के ऊपर प्रभु को विराजमान करते हैं, सब देव क्षीरसमुद्र में एक हजार आठ कलशों में जल लाकर देव-देवांगना गीत नृत्य वादित्र द्वारा बड़े उत्साह सहित प्रभु के मस्तक पर कलश ढारकर जन्मकल्याणक का अभिषेक करते हैं, पीछे शृंगार, वस्त्र, आभूषण पहिनाकर माता के मंदिर में लाकर माता को सौंप देते हैं, इन्द्रादिक देव अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं, कुबेर सेवा के लिए रहता है।

तदनन्तर कुमार अवस्था तथा राज्य अवस्था भोगते हैं। उसमें मनोवांछित भोग भोगकर फिर कुछ वैराग्य का कारण पाकर संसार-देह-भोगों से विरक्त हो जाते हैं। तब लौकान्तिक देव आकर, वैराग्य को बढ़ानेवाली प्रभु की स्तुति करते हैं, फिर इन्द्र आकर 'तपकल्याणक' करता है। पालकी में बैठाकर बड़े उत्सव से वन में ले जाता है, वहाँ प्रभु पवित्र शिला पर बैठकर पंचमुष्टि से लोचकर पंच महाव्रत अंगीकार करते हैं, समस्त परिग्रह का त्याग कर दिगम्बररूप धारण कर ध्यान करते हैं, उसीसमय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो जाता है। फिर कुछ समय व्यतीत होने पर तप के बल से घातिकर्म की प्रकृति ४७, अघाति कर्मप्रकृति १६, इसप्रकार त्रेसठ प्रकृति का सत्ता में से नाशकर केवलज्ञान उत्पन्न कर अनन्तचतुष्टयरूप होकर क्षुधादिक अठारह दोषों से रहित अरहंत होते हैं।

फिर इन्द्र आकर समवसरण की रचना करता है सो आगमोक्त अनेक शोभासहित मणिसुवर्णमयी कोट, खाई, वेदी चारों दिशाओं में चार दरवाजे, मानस्तंभ, नाट्यशाला, वन आदि अनेक रचना करता है। उसके बीच सभामण्डप में बारह सभा, उनमें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, देव, देवी, तिर्यच बैठते हैं। प्रभु के अनेक अतिशय प्रकट होते हैं। सभामंडप के बीच तीन पीठ पर गंधकुटी के बीच सिंहासन पर कमल के ऊपर अंतरीक्ष प्रभु विराजते हैं और आठ प्रातिहार्य युक्त होते हैं। वाणी खिरती है, उसको सुनकर गणधर द्वादशांग शास्त्र रचते हैं। ऐसे केवलज्ञानकल्याणक का उत्सव इन्द्र करता है। फिर प्रभु विहार करते हैं। उनका बड़ा उत्सव देव करते हैं। कुछ समय

बाद आयु के दिन थोड़े रहने पर योगनिरोध कर अघातिकर्म का नाशकर मुक्ति पधारते हैं, तत्पश्चात् शरीर का अग्नि संस्कार कर इन्द्र उत्सवसहित 'निर्वाण कल्याणक' महोत्सव करता है। इसप्रकार तीर्थकर पंचकल्याणक की पूजा प्राप्त कर, अरहंत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं - ऐसा जानना ॥४१॥

आगे (११) प्रब्रज्या का निरूपण करते हैं, उसको दीक्षा कहते हैं। प्रथम ही दीक्षा के योग्य स्थानविशेष को तथा दीक्षासहित मुनि जहाँ तिष्ठते हैं, उसका स्वरूप कहते हैं -

सुण्णहरे तरुहिट्टे उज्जाणे तह मसाणवासे वा ।
 गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥४२॥
 १सवसासत्तं तित्थं २वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं ।
 जिणभवनं अह बेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥४३॥
 पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा ।
 सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ॥४४॥
 शून्यगृहे तरुमूले उद्याने तथा श्मसानवासे वा ।
 गिरिगुहायां गिरिशिखरे वा भीमवने अथवा वसतौ वा ॥४२॥
 स्ववशासक्तं तीर्थं वचश्चैत्यालयत्रिकं च उक्तैः ।
 जिनभवनं अथ वेध्यं जिनमार्गं जिनवरा विदन्ति ॥४३॥
 पंचमहाव्रतयुक्ताः पंचेन्द्रियसंयताः निरपेक्षाः ।

१. सं. प्रति में 'सवसा' 'सतं' ऐसे दो पद किये हैं जिनकी सं. स्ववशा 'सत्त्वं' लिखा है।

२. 'वचचइदालत्तयं' इसके भी दो ही पद किये हैं 'वचः' चैत्यालयं।

शून्यघर तरुमूल वन उद्यान और मसान में।
 वसतिका में रहें या गिरिशिखर पर गिरिगुफा में ॥४२॥
 चैत्य आलय तीर्थ वच स्ववशासक्तस्थान में।
 जिनभवन में मुनिवर रहें जिनवर कहें जिनमार्ग में ॥४३॥
 इन्द्रियजयी महाव्रतधनी निरपेक्ष सारे लोक से।
 निजध्यानरत स्वाध्यायरत मुनिश्रेष्ठ ना इच्छा करें ॥४४॥

स्वाध्यायध्यानयुक्ताः मुनिवरवृषभाः नीच्छन्ति ॥४४॥

अर्थ – सूना धर, वृक्ष का मूल, कोटर, उद्यान, वन, श्मशानभूमि, पर्वत की गुफा, पर्वत का शिखर, भयानक वन और वस्तिका – इनमें दीक्षासहित मुनि ठहरें। ये दीक्षायोग्य स्थान हैं।

स्ववशासक्त अर्थात् स्वाधीन मुनियों से आसक्त जो क्षेत्र उन क्षेत्रों में मुनि ठहरे। जहाँ से मोक्ष पधारे इसप्रकार तो तीर्थस्थान और वच, चैत्य, आलय इसप्रकार त्रिक में जो पहिले कहा गया है अर्थात् आयतन आदिक परमार्थरूप, संयमी मुनि, अरहंत, सिद्धस्वरूप उनके नाम के अक्षररूप 'मंत्र' तथा उनकी आज्ञारूप वाणी को 'वच' कहते हैं तथा उनके आकार धातु-पाषाण की प्रतिमा स्थापन को "चैत्य" कहते हैं और वह प्रतिमा तथा अक्षर मंत्र वाणी जिसमें स्थापित किये जाते हैं, इसप्रकार आलय-मंदिर, यंत्र या पुस्तकरूप ऐसा वच, चैत्य तथा आलय का त्रिक है अथवा जिनभवन अर्थात् अकृत्रिम चैत्यालय मंदिर इसप्रकार आयतनादिक उनके समान ही उनका व्यवहार उसे जिनमार्ग में जिनवर देव 'वेध्य' अर्थात् दीक्षासहित मुनियों के ध्यान करने योग्य, चिन्तन करने योग्य कहते हैं।

जो मुनिवृषभ अर्थात् मुनियों में प्रधान हैं, उनके कहे हुए शून्यगृहादिक तथा तीर्थ, नाम मंत्र, स्थापनरूप मूर्ति और उनका आलय-मंदिर, पुस्तक और अकृत्रिम जिनमन्दिर उनको 'णिइच्छति' अर्थात् निश्चय से इष्ट करते हैं। सूने घर आदि में रहते हैं और तीर्थ आदि का ध्यान चिंतन करते हैं तथा दूसरों को वहाँ दीक्षा देते हैं।

यहाँ 'णिइच्छति' का पाठान्तर 'णइच्छति' इसप्रकार भी है इसका काकोक्ति द्वारा तो इसप्रकार अर्थ होता है कि "जो क्या इष्ट नहीं करते हैं ? अर्थात् करते ही हैं।" एक टिप्पणी में ऐसा अर्थ किया है कि ऐसे शून्यगृहादिक तथा तीर्थादिक स्ववशासक्त अर्थात् स्वेच्छाचारी भ्रष्टाचारियों द्वारा आसक्त हो (युक्त हो) तो वे मुनिप्रधान इष्ट न करें वहाँ न रहें।

कैसे हैं वे मुनिप्रधान ? पाँच महाव्रत संयुक्त हैं, पाँच इन्द्रियों को भले प्रकार जीतनेवाले हैं, निरपेक्ष हैं, किसीप्रकार की वांछा से मुनि नहीं हुए हैं, स्वाध्याय और ध्यानयुक्त हैं, कई तो शास्त्र पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं, कई धर्म-शुक्लध्यान करते हैं।

भावार्थ – यहाँ दीक्षायोग्य स्थान तथा दीक्षासहित दीक्षा देनेवाले मुनि का तथा उनके चिंतन योग्य व्यवहार का स्वरूप कहा है ॥४२-४३-४४॥

परिषहजयी जितकषायी निर्ग्रन्थ है निर्मोह है।

है मुक्त पापारंभ से ऐसी प्रव्रज्या जिन कही ॥४५॥

(११) आगे प्रव्रज्या का स्वरूप कहते हैं -

गिहग्रंथमोहमुक्ता बावीसपरीसहा जियकषाया ।

पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४५॥

गृहग्रंथमोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहा जितकषाया ।

पापारंभविमुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४५॥

अर्थ - गृह (घर) और ग्रंथ (परिग्रह) इन दोनों से मुनि तो मोह ममत्व, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से रहित ही है, जिनमें बाईस परीषहों का सहना होता है, कषायों को जीतते हैं और पापरूप आरंभ से रहित हैं, इसप्रकार प्रव्रज्या जिनेश्वरदेव ने कही है।

भावार्थ - जैनदीक्षा में कुछ भी परिग्रह नहीं, सर्व संसार का मोह नहीं, जिसमें बाईस परीषहों का सहना तथा कषायों का जीतना पाया जाता है और पापारंभ का अभाव होता है। इसप्रकार की दीक्षा अन्यमत में नहीं है ॥४५॥

आगे फिर कहते हैं -

धणधणवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं ।

कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४६॥

धनधान्यवस्त्रदानं हिरण्यशयनासनादि छत्रादि ।

कुदानविरहरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४६॥

अर्थ - धन, धान्य, वस्त्र इनका दान, हिरण्य अर्थात् रूपा, सोना आदिक, शय्या, आसन आदि शब्द से छत्र, चामरादिक और क्षेत्र आदि कुदानों से रहित प्रव्रज्या कही है।

भावार्थ - अन्यमती, बहुत से इसप्रकार प्रव्रज्या कहते हैं - गौ, धन, धान्य, वस्त्र, सोना, रूपा (चाँदी), शयन, आसन, छत्र, चंवर और भूमि आदि का दान करना प्रव्रज्या है। इसका इस गाथा में निषेध किया है - प्रव्रज्या तो निर्ग्रन्थस्वरूप है, जो धन, धान्य आदि रखकर दान करे उसके काहे की प्रव्रज्या ? यह तो गृहस्थ का कर्म है, गृहस्थ के भी इन वस्तुओं के दान से विशेष पुण्य तो होता नहीं है, क्योंकि पाप बहुत हैं और पुण्य अल्प है वह बहुत पापकार्य तो गृहस्थ को

धन-धान्य पट अर रजत-सोना आसनादिक वस्तु के।

भूमि चंवर-छत्रादि दानों से रहित हो प्रव्रज्या ॥४६॥

जिनवर कही है प्रव्रज्या समभाव लाभालाभ में।

अर कांच-कंचन मित्र-अरि निन्दा-प्रशंसा भाव में ॥४७॥

करने में लाभ नहीं है। जिसमें बहुत लाभ हो वही काम करना योग्य है। दीक्षा तो इन वस्तुओं से रहित ही है ॥४६॥

आगे फिर कहते हैं -

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदा अलब्धिलब्धिसमा ।

तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥

शत्रौ मित्रे च समा प्रशंसानिन्दाऽलब्धिलब्धिसमा ।

तृणे कनके समभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४७॥

अर्थ - जिसमें शत्रु-मित्र में समभाव है, प्रशंसा-निन्दा में, लाभ-अलाभ में और तृण-कंचन में समभाव है। इसप्रकार प्रव्रज्या कही है।

भावार्थ - जैनदीक्षा में राग-द्वेष का अभाव है। शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा, लाभ-अलाभ और तृण-कंचन में समभाव है। जैनमुनियों की दीक्षा इसप्रकार ही होती है ॥४७॥

आगे फिर कहते हैं -

उत्तममज्झिमगेहे दारिहे ईसरे णिरावेक्खा ।

सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४८॥

उत्तममध्यगेहे दरिद्रे ईश्वरे निरपेक्षा ।

सर्वत्र गृहीतपिंडा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४८॥

अर्थ - उत्तम गेह अर्थात् शोभा सहित राजभवनादि और मध्यमगेह अर्थात् जिसमें अपेक्षा नहीं है। शोभारहित सामान्य लोगों का घर इनमें तथा दरिद्र-धनवान् इनमें निरपेक्ष अर्थात् इच्छारहित हैं, सब ही योग्य जगह पर आहार ग्रहण किया जाता है। इसप्रकार प्रव्रज्या कही है।

भावार्थ - मुनि दीक्षासहित होते हैं और आहार लेने को जाते हैं, तब इसप्रकार विचार नहीं करते हैं कि बड़े घर जाना अथवा छोटे घर वा दरिद्री के घर या धनवान के घर जाना इसप्रकार वांछारहित निर्दोष आहार की योग्यता हो वहाँ सब ही जगह से योग्य आहार ले लेते हैं, इसप्रकार

प्रव्रज्या जिनवर कही सम्पन्न हों असंपन्न हों।

उत्तम मध्यम घरों में आहार लें समभाव से ॥४८॥

निर्ग्रन्थ है निःसंग है निर्मान है नीराग है।

निर्दोष है निरआश है जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥४९॥

दीक्षा है ॥४८॥

आगे फिर कहते हैं -

णिगंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्वोसा ।

णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४९॥

निर्ग्रथा निःसंगा निर्मानाशा अरागा निर्द्वेषा ।

निर्ममा निरहंकारा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४९॥

अर्थ - कैसी है प्रव्रज्या ? निर्ग्रथस्वरूप है, परिग्रह से रहित है, निःसंग अर्थात् जिसमें स्त्री आदि पर द्रव्य का संग-मिलाप नहीं है; जिसमें निर्माना अर्थात् मान कषाय भी नहीं है, मदरहित है, जिसमें आशा नहीं है, संसारभोग की आशा रहित है, जिसमें अराग अर्थात् राग का अभाव है, संसार-देह-भोगों से प्रीति नहीं है, निर्द्वेषा अर्थात् किसी से द्वेष नहीं है, निर्ममा अर्थात् किसी से ममत्वभाव नहीं है, निरहंकारा अर्थात् अहंकाररहित है, जो कुछ कर्म का उदय होता है, वही होता है। इसप्रकार जानने से परद्रव्य में कर्तृत्व का अहंकार नहीं रहता है और अपने स्वरूप का ही उसमें साधन है, इसप्रकार प्रव्रज्या कही है।

भावार्थ - अन्यमती भेष पहिनकर उसी मात्र को दीक्षा मानते हैं, वह दीक्षा नहीं है, जैनदीक्षा इसप्रकार कही है ॥४९॥

आगे फिर कहते हैं -

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार

णि ण क क ल ँ स ा ।

णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०॥

निःस्नेहा निर्लोभा निर्मोहा निर्विकारा निःकलुषा ।

निर्भया निराशभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५०॥

अर्थ - प्रव्रज्या ऐसी कही है - निःस्नेहा अर्थात् जिसमें किसी से स्नेह नहीं, जिसमें परद्रव्य से रागादिरूप सचिक्कणभाव नहीं है, जिसमें निर्लोभा अर्थात् कुछ परद्रव्य के लेने की वांछा नहीं

निर्लोभ है निर्मोह है निष्कलुष है निर्विकार है।

निस्नेह निर्मल निराशा जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥५०॥

है, जिसमें निर्मोहा अर्थात् किसी परद्रव्य से मोह नहीं है, भूलकर भी परद्रव्य में आत्मबुद्धि नहीं होती है, निर्विकारा अर्थात् बाह्य-आभ्यन्तर विकार से रहित है, जिसमें बाह्य शरीर की चेष्टा तथा वस्त्राभूषणादिक का तथा अंग-उपांग का विकार नहीं है, जिसमें अंतरंग काम क्रोधादिक का विकार नहीं है। निःकलुषा अर्थात् मलिनभाव रहित है। आत्मा को कषाय मलिन करते हैं, अतः कषाय जिसमें नहीं है। निर्भया अर्थात् जिसमें किसीप्रकार का भय नहीं है, अपने स्वरूप को अविनाशी जाने उसको किसका भय हो, जिसमें निराशभावा अर्थात् किसीप्रकार के परद्रव्य की आशा का भाव नहीं है, आशा तो किसी वस्तु की प्राप्ति न हो उसकी लगी रहती है, परन्तु जहाँ परद्रव्य को अपना जाना ही नहीं और अपने स्वरूप की प्राप्ति हो गई तब कुछ प्राप्त करना शेष न रहा फिर किसकी आशा हो ? प्रब्रज्या इसप्रकार कही है ॥

भावार्थ – जैनदीक्षा ऐसी है। अन्यमत में स्व-पर द्रव्य का भेदज्ञान नहीं है, उनके इसप्रकार दीक्षा कहाँ से हो ॥५०॥

आगे दीक्षा का बाह्यस्वरूप कहते हैं -

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता ।

परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५१॥

यथाजातरूपसदृशी अवलंबितभुजा निरायुधा शांता ।

परकृतनिलयनिवासा प्रब्रज्या ईदृशी भणिता ॥५१॥

अर्थ – कैसी है प्रब्रज्या ? यथाजातरूपसदृशी अर्थात् जैसा जन्म होते ही बालक का नग्नरूप होता है वैसा ही नग्नरूप उसमें है। अवलंबितभुजा अर्थात् जिसमें भुजा लंबायमान की है, जिसमें बाहुल्य अपेक्षा कायोत्सर्ग खड़ा रहना होता है, निरायुधा अर्थात् आयुधों से रहित है, शांता अर्थात् जिसमें अंग-उपांग के विकार रहित शांतमुद्रा होती है। परकृतनिलयनिवासा अर्थात् जिसमें दूसरे का बनाया निलय जो वस्तिका आदि उसमें निवास होता है, जिसमें अपने को कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन, काय द्वारा दोष न लगा हो ऐसी दूसरे की बनाई हुई वस्तिका आदि में रहना होता है ऐसी प्रब्रज्या कही है।

शान्त है है निरायुध नग्नत्व अवलम्बित भुजा ।

आवास परकृत निलय में जिन प्रब्रज्या ऐसी कही ॥५१॥

उपशम क्षमा दम युक्त है शृंगारवर्जित रूक्ष है ।

मदरागरुस से रहित है जिनप्रब्रज्या ऐसी कही ॥५२॥

भावार्थ – अन्यमती कई लोग बाह्य में वस्त्रादिक रखते हैं, कई आयुध रखते हैं, कई सुख के लिए आसन चलाचल रखते हैं, कई उपाश्रय आदि रहने का निवास बनाकर उसमें रहते हैं और अपने को दीक्षासहित मानते हैं, उनके भेषमात्र है, जैनदीक्षा तो जैसी कही वैसी ही है ॥५१॥

आगे फिर कहते हैं -

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसंकारवज्जिया रुक्खा ।

मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५२॥

उपशमक्षमदमयुत्ता शरीरसंस्कार वर्जिता रूक्षा ।

मदरागदोषरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५२॥

अर्थ – कैसी है प्रव्रज्या ? उपशमक्षमदमयुत्ता अर्थात् उपशम तो मोहकर्म के उदय का अभावरूप शांतपरिणाम और क्षमा अर्थात् क्रोध का अभावरूप उत्तमक्षमा तथा दम अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में नहीं प्रवर्ताना, इन भावों से युक्त है, शरीरसंस्कारवर्जिता अर्थात् स्नानादि द्वारा शरीर को सजाना इससे रहित है, जिसमें रूक्ष अर्थात् तेल आदि का मर्दन शरीर के नहीं है। मद, राग, द्वेष रहित है - इसप्रकार प्रव्रज्या कही है।

भावार्थ – अन्यमत के भेषी क्रोधादिरूप परिणमते हैं, शरीर को सजाकर सुन्दर रखते हैं, इन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हैं और अपने को दीक्षासहित मानते हैं, वे तो गृहस्थ के समान हैं, अतीत (यति) कहलाकर उलटे मिथ्यात्व को दृढ़ करते हैं; जैनदीक्षा इसप्रकार है, वही सत्यार्थ है, इसको अंगीकार करते हैं, वे ही सच्चे अतीत (यति) हैं ॥५२॥

आगे फिर कहते हैं -

विवरीयमूढभावा पणट्टकम्मट्ट णट्टमिच्छत्ता ।

सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५३॥

विपरीतमूढभावा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा ।

सम्यक्त्वगुणविसुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५३॥

अर्थ – कैसी है प्रव्रज्या - कि जिसके मूढभाव, अज्ञानभाव विपरीत हुआ है अर्थात् दूर हो मूढ़ता विपरीतता मिथ्यापने से रहित है।

सम्यक्त्व गुण से शुद्ध है जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥५३॥

जिनमार्ग में यह प्रव्रज्या निर्ग्रन्थता से युक्त है।

भव्य भावे भावना यह कर्मक्षय कारण कही ॥५४॥

गया है। अन्यमती आत्मा का स्वरूप सर्वथा एकांत से अनेकप्रकार भिन्न-भिन्न कहकर वाद करते हैं, उनके आत्मा के स्वरूप में मूढभाव है। जैन मुनियों के अनेकांत से सिद्ध किया हुआ यथार्थ ज्ञान है, इसलिए मूढभाव नहीं है। जिसमें आठकर्म और मिथ्यात्वादि प्रणष्ट हो गये हैं, जैनदीक्षा में अतत्त्वार्थश्रद्धानरूप मिथ्यात्व का अभाव है, इसीलिए सम्यक्त्वनामक गुण द्वारा विशुद्ध है, निर्मल है, सम्यक्त्वसहित दीक्षा में दोष नहीं रहता है, इसप्रकार प्रव्रज्या कही है ॥५३॥

आगे फिर कहते हैं -

जिणमगे पव्वज्जा छहसंहणणेषु भणिय णिगंथा ।

भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥५४॥

जिनमार्गे प्रव्रज्या षट्संहननेषु भणिता निर्ग्रंथा ।

भावयंति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता ॥५४॥

अर्थ - प्रव्रज्या जिनमार्ग में छह संहननवाले जीव के होना कहा है, निर्ग्रन्थ स्वरूप है, सब परिग्रह से रहित यथाजातस्वरूप है। इसकी भव्यपुरुष ही भावना करते हैं। इसप्रकार की प्रव्रज्या कर्म के क्षय का कारण कही है।

भावार्थ - वज्रवृषभनाराच आदि, छह शरीर के संहनन कहे हैं, उनमें सबमें ही दीक्षा होना कहा है, जो भव्यपुरुष हैं वे कर्मक्षय का कारण जानकर इसको अंगीकार करो। इसप्रकार नहीं है कि दृढ़ संहनन वज्रऋषभ आदि हैं उनमें ही दीक्षा हो और असंसृपाटिक संहनन में न हो, इसप्रकार निर्ग्रन्थरूप दीक्षा तो असंप्राप्तसृपाटिका संहनन में भी होती है ॥५४॥

आगे फिर कहते हैं -

तिलतुसमत्तणिमित्तसम बाहिरगंधसंगहो णत्थि ।

पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहिं ॥५५॥

तिलतुषमात्रनिमित्तसमः बाह्यग्रंथसंग्रहः नास्ति ।

प्रव्रज्या भवति एषा यथा भणिता सर्वदर्शिभिः ॥५५॥

१. पाठान्तर - अच्छेइ।

जिसमें परिग्रह नहीं अन्तर्बाह्य तिलतुषमात्र भी।

सर्वज्ञ के जिनमार्ग में जिनप्रव्रज्या ऐसी कही ॥५५॥

परिषह सहें उपसर्ग जीतें रहें निर्जन देश में।

शिला पर या भूमितल पर रहें वे सर्वत्र ही ॥५६॥

अर्थ – जिस प्रब्रज्या में तिल के तुषमात्र के संग्रह का कारण इसप्रकार भावरूप इच्छा अर्थात् अंतरंग परिग्रह और उस तिल के तुष मात्र बाह्य परिग्रह का संग्रह नहीं है इसप्रकार की प्रब्रज्या जिसप्रकार सर्वज्ञदेव ने कही है, उसीप्रकार है, अन्यप्रकार प्रब्रज्या नहीं है, ऐसा नियम जानना चाहिए। श्वेताम्बर आदि कहते हैं कि अपवादमार्ग में वस्त्रादिक का संग्रह साधु को कहा है, वह सर्वज्ञ के सूत्र में तो नहीं कहा है। उन्होंने कल्पित सूत्र बनाये हैं, उनमें कहा है, वह कालदोष है।

आगे फिर कहते हैं –

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च 'अत्थइ ।

सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥५६॥

उपसर्गपरीषहसहा निर्जनदेशे हि नित्यं तिष्ठति ।

शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति

स व ' त्र । । ५ ६ । ।

अर्थ – उपसर्ग अथवा देव, मनुष्य, तिर्यच और अचेतनकृत उपद्रव और परीषह अर्थात् दैव-कर्मयोग से आये हुए बाईस परीषहों को समभावों से सहना इसप्रकार प्रब्रज्यासहित मुनि है, वे जहाँ अन्यजन नहीं रहते ऐसे निर्जन वनादि प्रदेशों में सदा रहते हैं, वहाँ भी शिलातल, काष्ठ, भूमितल में रहते हैं, इन सब ही प्रदेशों में बैठते हैं, सोते हैं, 'सर्वत्र' कहने से वन में रहें और किंचित्काल नगर में रहें तो ऐसे ही स्थान पर रहें।

भावार्थ – जैनदीक्षावाले मुनि उपसर्गपरीषह में समभाव रखते हैं और जहाँ सोते हैं, बैठते हैं, वहाँ निर्जन प्रदेश में शिला, काष्ठ, भूमि में ही बैठते हैं, सोते हैं, इसप्रकार नहीं है कि अन्यमत के भेषीवत् स्वच्छन्दी प्रमादी रहें, इसप्रकार जानना चाहिए ॥५६॥

आगे अन्य विशेष कहते हैं –

पसुमहिलसंढसंगं कुशीलसंगं ण कुणइ विकहाओ ।

सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५७॥

पशुमहिलाषंढसंगं कुशीलसंगं न करोति विकथाः ।

पशु-नपुंसक-महिला तथा कुशीलजन की संगति ।

ना करें विकथा ना करें रत रहें अध्ययन-ध्यान में ॥५७॥

स्वाध्यायध्यानयुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५७॥

अर्थ – जिस प्रव्रज्या में पशु-तिर्यच, महिला (स्त्री), षंड (नपुंसक) इनका संग तथा कुशील (व्यभिचारी) पुरुष का संग नहीं करते हैं; स्त्री कथा, राज कथा, भोजन कथा और चोर इत्यादि की कथा जो विकथा है, उनको नहीं करते हैं तो क्या करते हैं ? स्वाध्याय अर्थात् शास्त्र जिनवचनों का पठन-पाठन और ध्यान अर्थात् धर्म-शुक्ल ध्यान इनसे युक्त रहते हैं। इसप्रकार प्रव्रज्या जिनदेव ने कही है।

भावार्थ – जिनदीक्षा लेकर कुसंगति करे, विकथादिक करे और प्रमादी रहे तो दीक्षा का अभाव हो जाय, इसलिए कुसंगति निषिद्ध है। अन्य भेष की तरह यह भेष नहीं है। यह मोक्षमार्ग है, अन्य संसारमार्ग है ॥५७॥

आगे फिर विशेष कहते हैं -

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य ।

सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५८॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धा संयमसम्यक्त्वगुणविशुद्धा च ।

शुद्धा गुणैः शुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिताः ॥५८॥

अर्थ – जिनदेव ने प्रव्रज्या इसप्रकार कही है कि तप अर्थात् बाह्य-आभ्यन्तर बारह प्रकार के तप तथा व्रत अर्थात् महाव्रत और गुण अर्थात् इनके भेदरूप उत्तरगुणों से शुद्ध हैं। 'संयम' अर्थात् इन्द्रिय मन का निरोध, छहकाय के जीवों की रक्षा, 'सम्यक्त्व' अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन तथा इनके 'गुण' अर्थात् मूलगुणों से शुद्ध, अतिचार रहित निर्मल है और जो प्रव्रज्या के गुण कहे उनसे शुद्ध हैं, भेषमात्र ही नहीं है; इसप्रकार शुद्ध प्रव्रज्या कही जाती है इन गुणों के बिना प्रव्रज्या शुद्ध नहीं है।

१. पाठान्तरः - आयत्तगुणपव्वज्जता ।

२. संस्कृत सटीक प्रति में 'आयतन' इसको सं. 'आत्मत्व' इसप्रकार है।

सम्यक्त्व संयम तथा व्रत-तप गुणों से सुविशुद्ध हो ।

शुद्ध हो सद्गुणों से जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥५८॥

आयतन से प्रव्रज्या तक यह कथन संक्षेप में।

सुविशुद्ध समकित सहित दीक्षा यों कही जिनमार्ग में ॥५९॥

भावार्थ – तप व्रत सम्यक्त्व इन सहित और जिनमें इनके मूलगुण तथा अतिचारों का शोधना होता है इसप्रकार दीक्षा शुद्ध है। अन्य वादी तथा श्वेताम्बरादि चाहे जैसे कहते हैं, वह दीक्षा शुद्ध नहीं है ॥५८॥

आगे प्रव्रज्या के कथन का संकोच करते हैं -

एवं १आयत्तणगुणपज्जंता बहुविसुद्धसम्मत्ते ।

णिगंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥५९॥

एवं २आयतनगुणपर्याप्ता बहुविसुद्धसम्यक्त्वे ।

निर्ग्रंथे जिनमार्गे संक्षेपेण यथाख्यातम् ॥५९॥

अर्थ – इसप्रकार पूर्वोक्त प्रकार से आयतन अर्थात् दीक्षा का स्थान जो निर्ग्रन्थ मुनि उसके गुण जितने हैं, उनसे पज्जता अर्थात् परिपूर्ण अन्य भी जो बहुत से गुण दीक्षा में होने चाहिए वे गुण जिसमें हों इसप्रकार की प्रव्रज्या जिनमार्ग में प्रसिद्ध है। उसीप्रकार संक्षेप में कही है। कैसा है जिनमार्ग ? जिसमें सम्यक्त्व विशुद्ध है, जिसमें अतिचार रहित सम्यक्त्व पाया जाता है और निर्ग्रन्थरूप है अर्थात् जिसमें बाह्य-अंतरंग परिग्रह नहीं है।

भावार्थ – इसप्रकार पूर्वोक्त प्रव्रज्या निर्मल सम्यक्त्वसहित निर्ग्रन्थरूप जिनमार्ग में कही है। अन्य नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, मीमांसक, पातंजलि और बौद्ध आदिक मत में नहीं है। कालदोष से जैनमत में भ्रष्ट हो गये और जैन कहलाते हैं इसप्रकार के श्वेताम्बरादिक में भी नहीं है ॥५९॥

इसप्रकार प्रव्रज्या के स्वरूप का वर्णन किया।

आगे बोधपाहुड को संकोचते हुए आचार्य कहते हैं -

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।

भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उक्तं ॥६०॥

रूपस्थं शुद्धयर्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितम् ।

भव्यजनबोधनार्थं षट्कायहितंकरं उक्तम् ॥६०॥

अर्थ – जिसमें अंतरंग भावरूप अर्थ शुद्ध है और ऐसा ही रूपस्थ अर्थात् बाह्यस्वरूप

षट्काय हितकर जिसतरह ये कहे हैं जिनदेव ने।

बस उसतरह ही कहे हमने भव्यजन संबोधने ॥६०॥

मोक्षमार्ग जैसा जिनमार्ग में जिनदेव ने कहा है, वैसा छहकाय के जीवों का हित करनेवाला मार्ग भव्यजीवों के संबोधने के लिए कहा है। इसप्रकार आचार्य ने अपना अभिप्राय प्रकट किया है।

भावार्थ – इस बोधपाहुड में आयतन आदि से लेकर प्रव्रज्यापर्यन्त ग्यारह स्थल कहे। इनका बाह्य-अंतरंग स्वरूप जैसे जिनदेव ने जिनमार्ग में कहा वैसे ही कहा है। कैसा है यह रूप ? छह काय के जीवों का हित करनेवाला है, जिसमें एकेन्द्रिय आदि असैनी पर्यन्त जीवों की रक्षा का अधिकार है, सैनी पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा भी कराता है और मोक्षमार्ग का उपदेश करके संसार का दुःख मेटकर मोक्ष को प्राप्त कराता है, इसप्रकार के मार्ग (उपाय) भव्यजीवों के संबोधने के लिए कहा है। जगत के प्राणी अनादि से लगाकर मिथ्यामार्ग में प्रवर्तनकर संसार में भ्रमण करते हैं, इसीलिए दुःख दूर करने के लिए आयतन आदि ग्यारह स्थान धर्म के ठिकाने का आश्रय लेते हैं, अज्ञानी जीव इन स्थानों पर अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनसे सुख लेना चाहते हैं, वह यथार्थ के बिना सुख कहाँ ? इसलिए आचार्य दयालु होकर जैसे सर्वज्ञ ने कहे वैसे ही आयतन आदि का स्वरूप संक्षेप से यथार्थ कहा है। इसको बांचो, पढ़ो, धारण करो और इसकी श्रद्धा करो। इसके अनुसार तद्रूपप्रवृत्ति करो। इसप्रकार करने से वर्तमान में सुखी रहो और आगामी संसार दुःख से छूटकर परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करो। इसप्रकार आचार्य के कहने का अभिप्राय है।

यहाँ कोई पूछे – इस बोधपाहुड में व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति के ग्यारह स्थान कहे। इनका विशेषण किया कि ये छहकाय के जीवों के हित करनेवाले हैं। वह अन्यमती इनको अन्यथा स्थापित कर प्रवृत्ति करते हैं, वे हिंसारूप हैं और जीवों के हित करनेवाले नहीं हैं। ये ग्यारह ही स्थान संयमी मुनि और अरहंत, सिद्ध को ही कहे हैं। ये तो छहकाय के जीवों के हित करनेवाले ही हैं, इसलिए पूज्य हैं। यह तो सत्य है और जहाँ रहते हैं, इसप्रकार आकाश के प्रदेशरूप क्षेत्र तथा पर्वत की गुफा वनादिक तथा अकृत्रिम चैत्यालय ये स्वयमेव बने हुए हैं, उनको भी प्रयोजन और निमित्त विचार उपचारमात्र से छहकाय के जीवों के हित करनेवाले कहें तो विरोध नहीं है, क्योंकि ये प्रदेश जड़ हैं, ये बुद्धिपूर्वक किसी का बुरा-भला नहीं करते हैं तथा जड़ को सुख-दुःख आदि फल का अनुभव नहीं है, इसलिए ये भी व्यवहार से पूज्य हैं, क्योंकि अरहंतादिक जहाँ रहते हैं, वे क्षेत्र-निवास आदिक प्रशस्त हैं, इसलिए उन अरहंतादिक के आश्रय से ये क्षेत्रादिक भी पूज्य हैं, परन्तु प्रश्न – गृहस्थ जिनमंदिर बनावे, वस्तिका, प्रतिमा बनावे और प्रतिष्ठा पूजा करे उसमें तो छहकाय के जीवों की विराधना होती है, यह उपदेश और प्रवृत्ति की बाहुल्यता कैसे है ?

इसका समाधान इसप्रकार है कि गृहस्थ, अरहंत, सिद्ध और मुनियों का उपासक हैं, ये जहाँ साक्षात् हों वहाँ तो उनकी वंदना, पूजन करता ही है। जहाँ ये साक्षात् न हों वहाँ परोक्ष संकल्प कर वंदना पूजन करता है तथा उनके रहने का क्षेत्र तथा ये मुक्त हुए उस क्षेत्र में तथा अकृत्रिम चैत्यालय में उनका संकल्प कर वन्दना व पूजन करता है। इसमें अनुरागविशेष सूचित होता है, फिर उनकी मुद्रा, प्रतिमा तदाकार बनावे और उसको मंदिर बनाकर प्रतिष्ठा कर स्थापित करे तथा नित्य पूजन करे इसमें अत्यन्त अनुराग से सूचित होता है, उस अनुराग से विशिष्ट पुण्यबंध होता है और उस मंदिर में छहकाय के जीवों के हित की रक्षा का उपदेश होता है तथा निरन्तर सुननेवाले और धारण करनेवाले के अहिंसा धर्म की श्रद्धा दृढ़ होती है तथा उनकी तदाकार प्रतिमा देखनेवाले के शांत भाव होते हैं, ध्यान की मुद्रा का स्वरूप जाना जाता है और वीतरागधर्म से अनुराग विशेष होने से पुण्यबन्ध होता है, इसलिए इनको भी छहकाय के जीवों के हित करनेवाले उपचार से कहते हैं।

जिनमंदिर वस्तिका प्रतिमा बनाने में तथा पूजा प्रतिष्ठा करने में आरम्भ होता है, उसमें कुछ हिंसा भी होती है। ऐसा आरम्भ तो गृहस्थ का कार्य है, इसमें गृहस्थ को अल्प पाप कहा, पुण्य बहुत कहा है, क्योंकि गृहस्थ के पद में न्यायकार्य करके, न्यायपूर्वक धन उपार्जन करना, रहने के लिए मकान बनवाना, विवाहादिक करना और यत्नपूर्वक आरंभ कर आहारादिक स्वयं बनाना तथा खाना इत्यादिक कार्यों में यद्यपि हिंसा होती है तो भी गृहस्थ को इनका महापाप नहीं कहा जाता है। गृहस्थ के तो महापाप मिथ्यात्व का सेवन करना, अन्याय, चोरी आदि से धन उपार्जन करना, त्रसजीवों को मारकर मांस आदि अभक्ष्य खाना और परस्त्री सेवन करना ये महापाप हैं।

गृहस्थाचार छोड़कर मुनि हो जावे तब गृहस्थ के न्यायकार्य भी अन्याय ही हैं। मुनि के भी आहार आदि की प्रवृत्ति में कुछ हिंसा होती है, उससे मुनि को हिंसक नहीं कहा जाता है, वैसे ही गृहस्थ के न्यायपूर्वक अपने पद के योग्य आरंभ के कार्यों में अल्प पाप ही कहा जाता है, इसलिए जिनमंदिर, वस्तिका और पूजा प्रतिष्ठा के कार्यों में आरंभ का अल्प पाप है, मोक्षमार्ग में प्रवर्तनेवाले से अति अनुराग होता है और उनकी प्रभावना करते हैं, उनको आहारदानादिक देते हैं और उनका वैयावृत्त्यादि करते हैं। ये सम्यक्त्व के अंग हैं और महान पुण्य के कारण हैं, इसलिए गृहस्थ को सदा ही करना योग्य है और गृहस्थ होकर ये कार्य न करे तो ज्ञात होता है कि इसके धर्मानुराग विशेष नहीं है।

प्रश्न - गृहस्थी को जिसके बिना चले नहीं इसप्रकार के कार्य तो करना ही पड़े और धर्म पद्धति में आरम्भ का कार्य करके पाप क्यों मिलावे, सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रोषध आदि करके

पुण्य उपजावे ।

उसको कहते हैं - यदि तुम इसप्रकार कहो तो तुम्हारे परिणाम तो इस जाति के हैं नहीं, केवल बाह्यक्रिया मात्र में ही पुण्य समझते हो । बाह्य में बहु आरंभ परिग्रह का मन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि निरारंभ कार्यों में विशेषरूप से लगता नहीं है, यह अनुभवगम्य है, तुम्हारे अपने भावों का अनुभव नहीं है, केवल बाह्य सामायिकादि निरारंभ कार्य का भेष धारण कर बैठो तो कुछ विशिष्ट पुण्य नहीं है, शरीरादिक बाह्य वस्तु तो जड़ है, केवल जड़ की क्रिया का फल तो आत्मा को मिलता नहीं है । अपने भाव जितने अंश में बाह्यक्रिया में लगे; उतने अंश में शुभाशुभ फल अपने को लगता है, इसप्रकार विशिष्ट पुण्य तो भावों के अनुसार है ।

आरंभी परिग्रही के भाव तो पूजा, प्रतिष्ठादिक बड़े आरंभ में ही विशेष अनुराग सहित लगते हैं । जो गृहस्थाचार के बड़े आरंभ से विरक्त होगा सो उसे त्यागकर अपना पद बढ़ावेगा, जब गृहस्थाचार के बड़े आरंभ छोड़ेगा तब उसीतरह धर्मप्रवृत्ति के बड़े आरम्भ भी पद के अनुसार घटावेगा । मुनि होगा तब आरम्भ क्यों करेगा ? अतः तब तो सर्वथा आरम्भ नहीं करेगा, इसलिए मिथ्यादृष्टि बाह्यबुद्धि जो बाह्य कार्यमात्र ही को पुण्य-पाप मोक्षमार्ग समझते हैं, उनका उपदेश सुनकर अपने को अज्ञानी नहीं होना चाहिए । पुण्य-पाप के बंध में शुभाशुभ भाव ही प्रधान हैं और पुण्य-पापरहित मोक्षमार्ग है, उसमें सम्यग्दर्शनादिकरूप आत्मपरिणाम प्रधान है । (हेय बुद्धि सहित) धर्मानुराग मोक्षमार्ग का सहकारी है और (आंशिक वीतराग भाव सहित) धर्मानुराग के तीव्र मंद के भेद बहुत हैं, इसलिए अपने भावों को यथार्थ पहिचानकर अपनी पदवी, सामर्थ्य पहिचान-समझकर श्रद्धान-ज्ञान और उसमें प्रवृत्ति करना अपना भला-बुरा अपने भावों के आधीन है, बाह्य परद्रव्य तो निमित्तमात्र है, उपादानकारण हो तो निमित्त भी सहकारी हो और उपादान न हो तो निमित्त कुछ भी नहीं करता है, इसप्रकार इस बोधपाहुड का आशय जानना चाहिए ।

इसको अच्छी तरह समझकर आयतनादिक जैसे कहे वैसे और इनका व्यवहार भी बाह्य वैसा ही तथा चैत्यगृह, प्रतिमा, जिनबिंब, जिनमुद्रा आदि धातु पाषाणादिक का भी व्यवहार वैसा ही जानकर श्रद्धान और प्रवृत्ति करनी । अन्यमती अनेकप्रकार स्वरूप बिगाड़कर प्रवृत्ति करते हैं उनको बुद्धि कल्पित जानकर उपासना नहीं करनी । इस द्रव्यव्यवहार का प्ररूपण प्रव्रज्या के

१. गाथा २ में बिंब की जगह 'वच' ऐसा पाठ है ।

जिनवरकथित शब्दत्वपरिणत समागत जो अर्थ है ।

बस उसे ही प्रस्तुत किया भद्रबाहु के इस शिष्य ने ॥६१॥

स्थल में आदि से दूसरी गाथा में बिंब^१ चैत्यालयत्रिक और जिनभवन ये भी मुनियों के ध्यान करने योग्य हैं इसप्रकार कहा है सो गृहस्थ जब इनकी प्रवृत्ति करते हैं तब ये मुनियों के ध्यान करने योग्य होते हैं, इसलिए जो जिनमंदिर, प्रतिमा, पूजा, प्रतिष्ठा आदिक के सर्वथा निषेध करनेवाले वह सर्वथा एकान्ती की तरह मिथ्यादृष्टि हैं, इनकी संगति नहीं करना।

(मूलाचार पृ. ४९२ अ. १० गाथा ९६ में कहा है कि “श्रद्धाभ्रष्टों के संपर्क की अपेक्षा (गृह में) प्रवेश करना अच्छा है; क्योंकि विवाह में मिथ्यात्व नहीं होगा, परन्तु ऐसे गण तो सर्व दोषों के आकर हैं, उसमें मिथ्यात्वादि दोष उत्पन्न होते हैं, अतः इनसे अलग रहना ही अच्छा है” ऐसा उपदेश है।)

आगे आचार्य इस बोधपाहुड का वर्णन अपनी बुद्धिकल्पित नहीं है, किन्तु पूर्वाचार्यों के अनुसार कहा है इसप्रकार कहते हैं -

सद्वियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।

सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

शब्दविकारो भूतः भाषासूत्रेषु यज्जिनेन कथितम् ।

तत् तथा कथितं ज्ञातं शिष्येण च भद्रबाहोः ॥६१॥

अर्थ - शब्द के विकार से उत्पन्न हुआ इसप्रकार अक्षररूप परिणमे भाषासूत्रों में जिनदेव ने कहा, वही श्रवण में अक्षररूप आया और जैसा जिनदेव ने कहा वैसा ही परम्परा से भद्रबाहु नामक पंचम श्रुतकेवली ने जाना और अपने शिष्य^१ विशाखाचार्य आदि को कहा। वह उन्होंने जाना वही अर्थरूप विशाखाचार्य की परम्परा से चला आया। वही अर्थ आचार्य कहते हैं, हमने कहा है, वह हमारी बुद्धि से कल्पित करके नहीं कहा गया है, इसप्रकार अभिप्राय है ॥६१॥

आगे भद्रबाहु स्वामी की स्तुतिरूप वचन कहते हैं -

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं ।

सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ ॥६२॥

द्वादशांगविज्ञानः चतुर्दशपूर्वांग विपुलविस्तरणः ।

१. विशाखाचार्य-मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को दीक्षाकाल में दिया हुआ नाम है।

अंग बारह पूर्व चउदश के विपुल विस्तार विद ।

श्री भद्रबाहु गमकगुरु जयवंत हो इस जगत में ॥६२॥

श्रुतज्ञानिभद्रबाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु ॥६२॥

अर्थ – भद्रबाहु नाम आचार्य जयवंत होवें, कैसे हैं ? जिनको बारह अंगों का विशेष ज्ञान है, जिनको चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार है, इसीलिए श्रुतज्ञानी हैं, पूर्ण भावज्ञान सहित अक्षरात्मक श्रुतज्ञान उनके था, 'गमक गुरु' है जो सूत्र के अर्थ को प्राप्त कर उसीप्रकार वाक्यार्थ करे उसको 'गमक' कहते हैं, उनके भी गुरुओं में प्रधान हैं, भगवान हैं – सुरासुरों से पूज्य हैं, वे जयवंत होवें। इसप्रकार कहने में उनको स्तुतिरूप नमस्कार सूचित है। 'जयति' धातु सर्वोत्कृष्ट अर्थ में है वह सर्वोत्कृष्ट कहने से नमस्कार ही आता है।

भावार्थ – भद्रबाहुस्वामी पंचम श्रुतकेवली हुए। उनकी परम्परा से शास्त्र का अर्थ जानकर यह बोधपाहुड ग्रन्थ रचा गया है, इसलिए उनको अंतिम मंगल के लिए आचार्य ने स्तुतिरूप नमस्कार किया है। इसप्रकार बोधपाहुड समाप्त किया है ॥६२॥

(छप्पय)

१. पंचमगुरु - पांचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी।

प्रथम आयतन^१ दुतिय चैत्यगृह^२ तीजी प्रतिमा^३।

दर्शन^४ अर जिनबिंब^५ छठो जिनमुद्रा^६ यतिमा ॥

ज्ञान^७ सातमूं देव^८ आठमूं नवमूं तीरथ^९।

दसमूं है अरहन्त^{१०} ग्यारमूं दीक्षा^{११} श्रीपथ ॥

इम परमारथ मुनिरूप सति अन्यभेष सब निंद्य है।

व्यवहार धातुपाषाणमय आकृति इनिकी वंद्य है ॥१॥

(दोहा)

भयो वीर जिनबोध यह, गौतमगणधर धारि।

बरतायो ^१पंचमगुरु, नमूं तिनहिं मद छारि ॥२॥

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामि विरचित बोधपाहुड की

जयपुरनिवासि पण्डित जयचन्द्रछाबड़ाकृत

देशभाषामयवचनिका समाप्त ॥४॥



अथ भावपाहुड

५

आगे भावपाहुड की वचनिका लिखते हैं -

(दोहा)

परमातमकूं वंदिकरि शुद्धभावकरतार ।

करूं भावपाहुडतणीं देशवचनिका सार ॥१॥

इसप्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत भावपाहुड गाथाबंध की देशभाषामय वचनिका लिखते हैं । प्रथम आचार्य इष्ट के नमस्काररूप मंगल करके ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा का सूत्र कहते हैं -

णमिरुण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवदिण सिद्धे ।

वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥१॥

नमस्कृत्य जिनवरेन्द्रान् नरसुरभवनेन्द्रवदितान् सिद्धान् ।

वक्ष्यामि भावप्राभृतमवशेषान् संयतान् शिरसा ॥१॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि मैं भावपाहुड नामक ग्रन्थ को कहूँगा । पहिले क्या करके ? जिनवरेन्द्र अर्थात् तीर्थंकर परमदेव तथा सिद्ध अर्थात् अष्टकर्म का नाश करके सिद्धपद को प्राप्त हुए और अवशेष संयत अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इसप्रकार पंचपरमेष्ठी को मस्तक से वंदना करके कहूँगा । कैसे हैं पंचपरमेष्ठी ? नर अर्थात् मनुष्य, सुर अर्थात् स्वर्गवासी देव, भवनेन्द्र अर्थात् पातालवासी देव, इन सबके इन्द्रों द्वारा वंदने योग्य हैं ।

भावार्थ - आचार्य 'भावपाहुड' ग्रन्थ बनाते हैं, वह भावप्रधान पंचपरमेष्ठी हैं, उनको आदि में नमस्कार युक्त है, क्योंकि जिनवरेन्द्र इसप्रकार हैं - जिन अर्थात् गुणश्रेणी निर्जरायुक्त इसप्रकार

सुर-असुर-इन्द्र-नरेन्द्र वंदित सिद्ध जिनवरदेव अर ।

सब संयतों को नमन कर इस भावपाहुड को कहूँ ॥१॥

के अविरतसम्यग्दृष्टि आदिकों में वर अर्थात् श्रेष्ठ ऐसे गणधरादिकों में इन्द्र तीर्थकर परमदेव हैं, वह गुणश्रेणीनिर्जरा शुद्धभाव से ही होती है। वे तीर्थकरभाव के फल को प्राप्त हुए, घातिकर्म का नाशकर केवलज्ञान को प्राप्त किया, उसीप्रकार सर्वकर्मों का नाशकर, परम शुद्धभाव को प्राप्त कर सिद्ध हुए, आचार्य, उपाध्याय शुद्धभाव के एकदेश को प्राप्त कर पूर्णता को स्वयं साधते हैं तथा अन्य को शुद्धभाव की दीक्षा-शिक्षा देते हैं, इसीप्रकार साधु हैं वे ही शुद्धभाव को स्वयं साधते हैं और शुद्धभाव की ही महिमा से तीनलोक के प्राणियों द्वारा पूजने योग्य-वंदने योग्य कहे हैं, इसलिए 'भावप्राभृत' की आदि में इनको नमस्कार युक्त है। मस्तक द्वारा नमस्कार करने में सब अंग आ गये, क्योंकि मस्तक सब अंगों में उत्तम है। स्वयं नमस्कार किया तब अपने भावपूर्वक ही हुआ तब 'मन-वचन-काय' तीनों ही आ गये, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१॥

आगे कहते हैं कि लिंग द्रव्य भाव के भेद से दो प्रकार का है, इनमें भावलिंग परमार्थ है -

भावो हि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।

भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा १वेन्ति ॥२॥

भावः हि प्रथमलिंगं न द्रव्यलिंगं च जानीहि परमार्थम् ।

भावो कारणभूतः गुणदोषाणां जिना १बुवन्ति ॥२॥

अर्थ - भाव प्रथमलिंग है, इसीलिए हे भव्य ! तू द्रव्यलिंग है उसको परमार्थरूप मत जान, क्योंकि गुण और दोषों का कारणभूत भाव ही है, इसप्रकार जिन भगवान कहते हैं।

भावार्थ - गुण जो स्वर्ग-मोक्ष का होना और दोष अर्थात् नरकादिक संसार का होना इनका कारण भगवान ने भावों को ही कहा है, क्योंकि कारण कार्य के पहिले होता है। यहाँ मुनि-श्रावक के द्रव्यलिंग के पहिले भावलिंग अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव हों तो सच्चा मुनि-श्रावक होता है, इसलिए भावलिंग ही प्रधान है। प्रधान है, वही परमार्थ है, इसलिए द्रव्यलिंग को परमार्थ न जानना, इसप्रकार उपदेश किया है।

यहाँ कोई पूछे - भाव का स्वरूप क्या है ? इसका समाधान - भाव का स्वरूप तो आचार्य आगे कहेंगे पर यहाँ भी कुछ कहते हैं - इस लोक में छहद्रव्य हैं, इनमें जीव-पुद्गल का वर्तन प्रकट देखने में आता है - जीव चेतनास्वरूप है और पुद्गल स्पर्श, रस, गंध और वर्णस्वरूप

१. पाठान्तरः - विन्ति ।

२. पाठान्तरः - विदन्ति ।

बस भाव ही गुण-दोष के कारण कहे जिनदेव ने ।

भावलिंग ही प्रधान हैं द्रव्यलिंग न परमार्थ है ॥२॥

जड़ है। इनकी अवस्था से अवस्थान्तररूप होना ऐसे परिणाम को 'भाव' कहते हैं। जीव का स्वभाव-परिणामरूप भाव तो दर्शन-ज्ञान है और पुद्गल कर्म के निमित्त से ज्ञान में मोह-राग-द्वेष होना 'विभावभाव' है। पुद्गल के स्पर्श से स्पर्शान्तर, रस से रसान्तर इत्यादि गुण से गुणान्तर होना 'स्वभावभाव' है और परमाणु से स्कन्ध होना तथा स्कन्ध से अन्य स्कन्ध होना और जीव के भाव के निमित्त से कर्मरूप होना ये 'विभावभाव' हैं। इसप्रकार इनके परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव होते हैं।

पुद्गल तो जड़ है, इसके नैमित्तिकभाव से कुछ सुख-दुःख आदि नहीं है और जीव चेतन है, इसके निमित्त से भाव होते हैं, उनसे सुख-दुःख आदि होते हैं अतः जीव को स्वभाव-भावरूप रहने का और नैमित्तिकभावरूप न प्रवर्तने का उपदेश है। जीव के पुद्गल कर्म के संयोग देहादिक द्रव्य का संबंध है, इस बाह्यरूप को 'द्रव्य' कहते हैं और 'भाव' से द्रव्य की प्रवृत्ति होती है, इसप्रकार द्रव्य की प्रवृत्ति होती है। इसप्रकार द्रव्य-भाव का स्वरूप जान कर स्वभाव में प्रवर्त्ते विभाव में न प्रवर्त्ते, उसके परमानन्द सुख होता है; और विभाव रागद्वेषमोहरूप प्रवर्त्ते, उसके संसारसंबंधी दुःख होता है।

द्रव्यरूप पुद्गल का विभाव है, इस संबंधी जीव को दुःख सुख नहीं होता अतः भाव ही प्रधान है, ऐसा न हो तो केवली भगवान को भी सांसारिक सुख-दुःख की प्राप्ति हो, परन्तु ऐसा नहीं है। इसप्रकार जीव के ज्ञान दर्शन तो स्वभाव है और रागद्वेषमोह ये स्वभाव-विभाव हैं और पुद्गल के स्पर्शादिक और स्कन्धादिक स्वभाव-विभाव हैं। उनमें जीव का हित-अहितभाव प्रधान है, पुद्गलद्रव्यसंबंधी प्रधान नहीं है। बाह्य द्रव्य निमित्तमात्र है, उपादान के बिना निमित्त कुछ करता नहीं है।

यह तो सामान्यरूप से स्वभाव का स्वरूप है और इसी का विशेष सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो जीव का स्वभाव-भाव है, इसमें सम्यग्दर्शन भाव प्रधान है। इसके बिना सब बाह्यक्रिया मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, ये विभाव हैं और संसार के कारण हैं, इसप्रकार जानना चाहिए ॥२॥

आगे कहते हैं कि बाह्यद्रव्य निमित्तमात्र है 'इसका अभाव' जीव के भाव की विशुद्धता का निमित्त जान बाह्यद्रव्य का त्याग करते हैं -

भावविसुद्धिनिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।

बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥३॥

अर भावशुद्धि के लिए बस परीग्रह का त्याग हो ।

रागादि अन्तर में रहें तो विफल समझो त्याग सब ॥३॥

भावविशुद्धिनिमित्तं बाह्यग्रंथस्य क्रियते त्यागः ।

बाह्यत्यागः विफलः अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥३॥

अर्थ – बाह्य परिग्रह का त्याग भावों की विशुद्धि के लिए किया जाता है, परन्तु अभ्यन्तर परिग्रह रागादिक हैं, उनसे युक्त के बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है ।

भावार्थ – अन्तरंग भाव बिना बाह्य त्यागादिक की प्रवृत्ति निष्फल है, यह प्रसिद्ध है ॥३॥

आगे कहते हैं कि करोड़ों भवों में तप करे तो भी भाव बिना सिद्धि नहीं है -

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।

जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥४॥

भावरहितः न सिद्धयति यद्यपि तपश्चरति कोटिकोटी ।

जन्मान्तराणि बहुशः लंबितहस्तः गलितवस्त्रः ॥४॥

अर्थ – यदि कई जन्मान्तरों तक कोडाकोडि संख्या काल तक हाथ लम्बे लटकाकर, वस्त्रादिक का त्याग करके तपश्चरण करे तो भी भावरहित को सिद्धि नहीं होती है ।

भावार्थ – भाव में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप विभाव रहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप स्वभाव में प्रवृत्ति न हो तो कोडाकोडि भव तक कायोत्सर्गपूर्वक नग्नमुद्रा धारणकर तपश्चरण करे तो भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है, इसप्रकार भावों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव प्रधान हैं और इनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है, क्योंकि इसके बिना ज्ञान-चारित्र मिथ्या कहे हैं, इसप्रकार जानना चाहिए ॥४॥

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं -

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुज्जेइ बाहिरे य जई ।

बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥५॥

परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् च यदि ।

बाह्यग्रन्थत्यागः भावविहीनस्य किं करोति ॥५॥

वस्त्रादि सब परित्याग कोडाकोडि वर्षों तप करें ।

पर भाव बिन ना सिद्धि हो सत्यार्थ यह जिनवर कहें ॥४॥

परिणामशुद्धि के बिना यदि परिग्रह सब छोड़ दें ।

तब भी अरे निज आत्महित का लाभ कुछ होगा नहीं ॥५॥

अर्थ – यदि मुनि बनकर परिणाम अशुद्ध होते हुए बाह्य परिग्रह को छोड़े तो बाह्य परिग्रह का त्याग उस भावरहित मुनि को क्या करे ? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं करता है ।

भावार्थ – जो बाह्य परिग्रह को छोड़कर मुनि बन जावे और परिणाम परिग्रहरूप अशुद्ध हों, अभ्यन्तर परिग्रह न छोड़े तो बाह्यत्याग कुछ कल्याणरूप फल नहीं कर सकता । सम्यग्दर्शनादि भाव बिना कर्मनिर्जरारूप कार्य नहीं होता है ॥५॥

पहिली गाथा से इसमें यह विशेषता है कि यदि मुनिपद भी लेवे और परिणाम उज्ज्वल न रहे, आत्मज्ञान की भावना न रहे तो कर्म नहीं कटते हैं ।

आगे उपदेश करते हैं कि भाव को परमार्थ जानकर इसी को अंगीकार करो –

**जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिण्ण ।
पंथिय सिवपुरिपंथं जिणउवड्ढं पयत्तेण ॥६॥
जानीहि भावं प्रथमं किं ते लिंगेण भावरहितेन ।
पथिक शिवपुरीपंथाः जिनोपदिष्टः प्रयत्नेन ॥६॥**

अर्थ – हे शिवपुरी के पथिक ! प्रथम भाव को जान, भावरहित लिंग से तुझे क्या प्रयोजन है? शिवपुरी का पंथ जिनभगवन्तों ने प्रयत्नसाध्य कहा है ।

भावार्थ – मोक्षमार्ग जिनेश्वरदेव ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मभावस्वरूप परमार्थ से कहा है, इसलिए इसी को परमार्थ जानकर सर्व उद्यम से अंगीकार करो, केवल द्रव्यमात्र लिंग से क्या साध्य है ? इसप्रकार उपदेश है ॥६॥

आगे कहते हैं कि द्रव्यलिंग आदि तूने बहुत धारण किये, परन्तु उससे कुछ भी सिद्धि नहीं हुई –

**भावरहिण्ण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिगंथरूवाइं ॥७॥
भावरहितेन सत्पुरुष! अनादिकालं अनंतसंसारे ।
गृहीतो ज्झितानि बहुशः बाह्यनिर्ग्रथरूपाणि ॥७॥**

प्रथम जानो भाव को तुम भाव बिन द्रवलिंग से ।
तो लाभ कुछ होता नहीं पथ प्राप्त हो पुरुषार्थ से ॥६॥
भाव बिन द्रवलिंग अगणित धरे काल अनादि से ।
पर आजतक हे आत्मन् ! सुख रंच भी पाया नहीं ॥७॥

अर्थ – हे सत्पुरुष ! अनादिकाल से लगाकर इस अनन्त संसार में तूने भावरहित निर्ग्रन्थरूप बहुत बार ग्रहण किये और छोड़े ।

भावार्थ – भाव जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना बाह्य निर्ग्रन्थरूप द्रव्यलिंग संसार में अनन्तकाल से लगाकर बहुत बार धारण किये और छोड़े तो भी कुछ सिद्धि न हुई । चारों गतियों में भ्रमण ही करता रहा ॥७॥

वही कहते हैं –

भीषणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए ।
पत्तो सि तिब्बदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ॥८॥
भीषणनरकगतौ तिर्यग्गतौ कुदेवमनुष्यगत्योः ।
प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं भावय जिनभावनां जीव! ॥८॥

अर्थ – हे जीव ! तूने भीषण (भयंकर) नरकगति तथा तिर्यचगति में और कुदेव कुमनुष्यगति में तीव्र दुःख पाये हैं, अतः अब तू जिनभावना अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना भा, इससे तेरे संसार का भ्रमण मिटेगा ।

भावार्थ – आत्मा की भावना बिना चार गति के दुःख अनादि काल से संसार में प्राप्त किये, इसलिए अब हे जीव ! तू जिनेश्वरदेव का शरण ले और शुद्धस्वरूप का बारबार भावनारूप अभ्यास कर; इससे संसार के भ्रमण से रहित मोक्ष को प्राप्त करेगा, यह उपदेश है ॥८॥

आगे चार गति के दुःखों को विशेषरूप से कहते हैं, पहिले नरकगति के दुःखों को कहते हैं—

सत्तसु णरयावासे दारुणभीमाइं असहणीयाइं ।
भुत्ताइं सुइरकालं दुःक्खाइं णिरंतरं अहियं ॥९॥
सत्तसु नरकावासेषु दारुणभीषणानि असहनीयानि ।
भुक्तानि सुचिरकालं दुःखानि निरंतरं सोढानि^१ ॥९॥

१. मुद्रित संस्कृत प्रति में 'सत्तसु नरकावासे' ऐसा पाठ है ।

२. मुद्रित संस्कृत प्रति में 'स्वहित' ऐसा पाठ है । 'सहिय' इसकी छाया में ।

भीषण नरक तिर्यच नर अर देवगति में भ्रमण कर ।
पाये अनन्ते दुःख अब भावो जिनेश्वर भावना ॥८॥
इन सात नरकों में सतत चिरकाल तक हे आत्मन् ।
दारुण भयंकर अर असह्य महान दुःख तूने सहे ॥९॥

अर्थ – हे जीव ! तूने सात नरकभूमियों के नरक आवास बिलों में दारुण अर्थात् तीव्र तथा भयानक और असहनीय अर्थात् सहे न जावें – इसप्रकार के दुःखों को बहुत दीर्घ काल तक निरन्तर ही भोगे और सहे ।

भावार्थ – नरक की पृथ्वी सात हैं, उनमें बिल बहुत हैं, उनमें दस हजार वर्ष से लगाकर तथा एक सागर से लगाकर तेतीस सागर तक आयु है, जहाँ आयुपर्यन्त अति तीव्र दुःख यह जीव अनन्तकाल से सहता आया है ॥९॥

आगे तिर्यचगति के दुःखों को कहते हैं –

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च ।

पत्तो सि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥१०॥

खननोत्तापनज्वालन वेदनविच्छेदनानिरोधं च ।

प्राप्तोऽसि भावरहितः तिर्यगतौ चिरं कालं ॥१०॥

अर्थ – हे जीव ! तूने तिर्यचगति में खनन, उत्तापन, ज्वलन, वेदन, व्युच्छेदन, निरोधन इत्यादि दुःख सम्यग्दर्शन आदि भावरहित होकर बहुतकालपर्यन्त प्राप्त किये ।

भावार्थ – इस जीव ने सम्यग्दर्शनादि भाव बिना तिर्यच गति में चिरकालतक दुःख पाये – पृथ्वीकाय में कुदाल आदि खोदने द्वारा दुःख पाये, जलकाय में अग्नि से तपना, ढोलना इत्यादि द्वारा दुःख पाये, अग्निकाय में जलाना, बुझाना आदि द्वारा दुःख पाये, पवनकाय में भारे से हलका चलना, फटना आदि द्वारा दुःख पाये, वनस्पतिकाय में फाड़ना, छेदना, राँधना आदि द्वारा दुःख पाये, विकलत्रय में दूसरे से रुकना, अल्प आयु से मरना इत्यादि द्वारा दुःख पाये, पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी-जलचर आदि में परस्पर घात तथा मनुष्यादि द्वारा वेदना, भूख, तृषा, रोकना, वध-बंधन इत्यादि द्वारा दुःख पाये । इसप्रकार तिर्यचगति में असंख्यात अनन्तकालपर्यन्त दुःख पाये* ॥१०॥

आगे मनुष्यगति के दुःखों को कहते हैं –

१. मुद्रित संस्कृत प्रति में 'वेयण' इसकी संस्कृत 'व्यञ्जन' है ।

* देहादि में या बाह्य संयोगों से दुःख नहीं है, किन्तु अपनी भूलरूप मिथ्यात्वरगादि दोष से ही दुःख होता है, यहाँ निमित्तादि द्वारा उपादान का-योग्यता का ज्ञान कराने के लिए यह उपचरित व्यवहारनय से कथन है ।

तिर्यचगति में खनन उत्तापन जलन अर छेदना ।

रोकना वध और बंधन आदि दुख तूने सहे ॥१०॥

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि ।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तो सि अणंतयं कालं ॥११॥

आगंतुकं मानसिकं सहजं शारीरिकं च चत्वारि ।
दुःखानि मनुजजन्मनि प्राप्तोऽसि अनन्तकं कालं ॥११॥

अर्थ – हे जीव ! तूने मनुष्यगति में अनन्तकाल तक आगन्तुक अर्थात् अकस्मात् वज्रपातादिक का आ गिरना, मानसिक अर्थात् मन में ही होनेवाले विषयों की वांछा का होना और तदनुसार न मिलना, सहज अर्थात् माता, पितादि द्वारा सहज से ही उत्पन्न हुआ तथा रागद्वेषादिक से वस्तु के इष्ट अनिष्ट मानने से दुःख का होना, शारीरिक अर्थात् व्याधि, रोगादिक तथा परकृत छेदन, भेदन आदि से हुए दुःख – ये चार प्रकार के और चकार से इनको आदि लेकर अनेक प्रकार के दुःख पाये ॥११॥

आगे देवगति के दुःखों को कहते हैं –

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिब्वं ।
संपत्तो सि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥१२॥

सुरनिलयेषु सुराप्सरावियोगकाले च मानसं तीव्रम् ।
संप्राप्तोऽसि महायश ! दुःखं शुभभावनारहितः ॥१२॥

अर्थ – हे महायश ! तूने सुरनिलयेषु अर्थात् देवलोक में सुराप्सरा अर्थात् प्यारे देव तथा प्यारी अप्सरा के वियोगकाल में उसके वियोग संबंधी दुःख तथा इन्द्रादिक बड़े ऋद्धिधारियों को देखकर अपने को हीन मानने के मानसिक तीव्र दुःखों को शुभभावना से रहित होकर पाये हैं ।

भावार्थ – यहाँ ‘महायश’ इसप्रकार सम्बोधन किया । उसका आशय यह है कि जो मुनि निर्ग्रन्थलिंग धारण करे और द्रव्यलिंगी मुनि की समस्त क्रिया करे, परन्तु आत्मा के स्वरूप शुद्धोपयोग के सन्मुख न हो उसको प्रधानतया उपदेश है कि मुनि हुआ वह तो बड़ा कार्य किया, तेरा यश लोक में प्रसिद्ध हुआ, परन्तु भली भावना अर्थात् शुद्धात्मतत्त्व के अभ्यास बिना

मानसिक देहिक सहज एवं अचानक आ पड़े ।
ये चतुर्विध दुख मनुजगति में आत्मन् तूने सहे ॥११॥
हे महायश सुरलोक में परसंपदा लखकर जला ।
देवांगना के विरह में विरहाग्नि में जलता रहा ॥१२॥

तपश्चरणादिक करके स्वर्ग में देव भी हुआ तो वहाँ भी विषयों का लोभी होकर मानसिक दुःख से ही तप्तयमान हुआ ॥१२॥

आगे शुभभावना से रहित अशुभ भावना का निरूपण करते हैं -

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य ।

भाऊण द्रव्यलिंगी प्रहीणदेवो दिवे जाओ ॥१३॥

कांदर्पीत्यादीः पंचापि अशुभादिभावनाः च ।

भावयित्वा द्रव्यलिंगी प्रहीणदेवः दिवि जातः ॥१३॥

अर्थ - हे जीव ! तू द्रव्यलिंगी मुनि होकर कान्दर्पी आदि पाँच अशुभ भावना भाकर प्रहीणदेव अर्थात् नीचदेव होकर स्वर्ग में उत्पन्न हुआ ।

भावार्थ - कान्दर्पी, किल्बिषिकी, संमोही, दानवी और अभियोगिकी - ये पाँच अशुभ भावना हैं । निर्ग्रन्थ मुनि होकर सम्यक्त्व भावना बिना इन अशुभ भावनाओं को भावे तब किल्बिष आदि नीच देव होकर मानसिक दुःख को प्राप्त होता है ॥१३॥

आगे द्रव्यलिंगी पार्श्वस्थ आदि होते हैं, उनको कहते हैं -

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ ।

भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥१४॥

पार्श्वस्थभावनाः अनादिकालं अनेकवारान् ।

भावयित्वा दुःखं प्राप्तः कुभावनाभावबीजैः ॥१४॥

अर्थ - हे जीव ! तू पार्श्वस्थ भावना से अनादिकाल से लेकर अनन्तबार भाकर दुःख को प्राप्त हुआ । किससे दुःख पाया ? कुभावना अर्थात् खोटी भावना, उसका भाव - वे ही हुए दुःख के बीज, उनसे दुःख पाया ।

भावार्थ - जो मुनि कहलावे और वस्तिका बांधकर आजीविका करे उसे पार्श्वस्थ वेषधारी कहते हैं । जो कषायी होकर व्रतादिक से भ्रष्ट रहे, संघ का अविनय करे इसप्रकार के वेषधारी को

पंचविध कांदर्पि आदि भावना भा अशुभतम ।

मुनि द्रव्यलिंगीदेव हों किल्बिषिक आदिक अशुभतम ॥१३॥

पार्श्वस्थ आदि कुभावनायें भवदुःखों की बीज जो ।

भाकर उन्हें दुख विविध पाये विविध बार अनादि से ॥१४॥

कुशील कहते हैं। जो वैद्यक ज्योतिषविद्या मंत्र की आजीविका करे, राजादिक का सेवक होवे इसप्रकार के वेषधारी को संसक्त कहते हैं। जो जिनसूत्र से प्रतिकूल, चारित्र से भ्रष्ट आलसी इसप्रकार वेषधारी को 'अवसन्न' कहते हैं। गुरु का आश्रय छोड़कर एकाकी स्वच्छन्द प्रवर्ते, जिन आज्ञा का लोप करे ऐसे वेषधारी को 'मृगचारी' कहते हैं। इनकी भावना भावे वह दुःख ही को प्राप्त होता है ॥१४॥

ऐसे देव होकर मानसिक दुःख पाये इसप्रकार कहते हैं -

देवाण गुण विहूर्ई इड्ठी माहप्प बहुविहं दट्ठुं ।
 होऊण हीणदेवो पत्तो बहु माणसं दुक्खं ॥१५॥
 देवानां गुणान् विभूतीः ऋद्धीः माहात्म्यं बहुविधं दृष्ट्वा ।
 भूत्वा हीनदेवः प्राप्तः बहु मानसं दुःखम् ॥१५॥

अर्थ - हे जीव ! तू हीन देव होकर अन्य महर्द्धिक देवों के गुण, विभूति और ऋद्धि रूप अनेकप्रकार का माहात्म्य देखकर बहुत मानसिक दुःख को प्राप्त हुआ ।

भावार्थ - स्वर्ग में हीन देव होकर बड़े ऋद्धिधारी देव के अणिमादि गुण की विभूति देखे तथा देवांगना आदि का बहुत परिवार देखे और आज्ञा, ऐश्वर्य आदि का माहात्म्य देखे तब मन में इसप्रकार विचारे कि मैं पुण्यरहित हूँ, ये बड़े पुण्यवान् हैं, इनके ऐसी विभूतिमाहात्म्य ऋद्धि है, इसप्रकार विचार करने से मानसिक दुःख होता है ॥१५॥

आगे कहते हैं कि अशुभ भावना से नीच देव होकर ऐसे दुःख पाते हैं, ऐसे कहकर इस कथन का संकोच करते हैं -

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो ।
 होऊण कुदेवत्तं पत्तो सि अणेयवाराओ ॥१६॥
 चतुर्विधविकथासक्तः मदमत्तः अशुभभावप्रकटार्थः ।
 भूत्वा कुदेवत्वं प्राप्तः असि अनेकवारान् ॥१६॥

निज हीनता अर विभूति गुण-ऋद्धि महिमा अन्य की ।
 लख मानसिक संताप हो है यह अवस्था देव की ॥१५॥
 चतुर्विध विकथा कथा आसक्त अर मदमत्त हो ।
 यह आतमा बहुबार हीन कुदेवपन को प्राप्त हो ॥१६॥

अर्थ – हे जीव ! तू चार प्रकार की विकथा में आसक्त होकर, मद से मत्त और जिसके अशुभ भावना का ही प्रकट प्रयोजन है, इसप्रकार होकर अनेकबार कुदेवपने को प्राप्त हुआ ।

भावार्थ – स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा और राजकथा इन चार विकथाओं में आसक्त होकर वहाँ परिणाम को लगाया तथा जाति आदि आठ मर्दों से उन्मत्त हुआ ऐसी अशुभ भावना ही का प्रयोजन धारण कर अनेकबार नीच देवपने को प्राप्त हुआ, वहाँ मानसिक दुःख पाया ।

यहाँ यह विशेष जानने योग्य है कि विकथादिक से तो नीच देव भी नहीं होता है, परन्तु यहाँ मुनि को उपदेश है, वह मुनिपद धारण कर कुछ तपश्चरणादिक भी करे और वेष में विकथादिक में रक्त हो तब नीच देव होता है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१६॥

आगे कहते हैं कि ऐसी कुदेवयोनि पाकर वहाँ से चय कर जो मनुष्य-तिर्यच होवे, वहाँ गर्भ में आवे उसकी इसप्रकार व्यवस्था है –

असुईबीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि ।

वसिओ सि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिप्रवर ॥१७॥

अशुचिवीभत्सासु य कलिमलबहुलासु गर्भवसतिषु ।

उषितोऽसि चिरं कालं अनेकजननीनां मुनिप्रवर! ॥१७॥

अर्थ – हे मुनिप्रवर ! तू कुदेवयोनि से चयकर अनेक माताओं की गर्भ की बसती में बहुत काल रहा । कैसी है वह बसती ? अशुचि अर्थात् अपवित्र है, बीभत्स (घिनावनी) है और उसमें कलिमल बहुत है अर्थात् पापरूप मलिन मल की अधिकता है ।

भावार्थ – यहाँ 'मुनिप्रवर' ऐसा सम्बोधन है सो प्रधानरूप से मुनियों को उपदेश है । जो मुनिपद लेकर मुनियों में प्रधान कहलावे और शुद्धात्मरूप निश्चय चारित्र के सन्मुख न हो, उसको कहते हैं कि बाह्य द्रव्यलिंग तो बहुतबार धारण कर चार गतियों में ही भ्रमण किया, देव भी हुआ तो वहाँ से चयकर इसप्रकार के मलिन गर्भवास में आया, वहाँ भी बहुतबार रहा ॥१७॥

आगे फिर कहते हैं कि इसप्रकार के गर्भवास से निकलकर जन्म लेकर अनेक माताओं का दूध पिया –

पीओ सि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराडं जणणीणं ।

अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥१८॥

फिर अशुचितम वीभत्स जननी गर्भ में चिरकाल तक ।

दुख सहे तूने आजतक अज्ञानवश हे मुनिप्रवर ॥१७॥

पीतोऽसि स्तनक्षीरं अनंतजन्मांतराणि जननीनाम् ।

अन्यासामन्यासां महायश ! सागरसलिलात् अधिकतरम् ॥१८॥

अर्थ – हे महायश ! उस पूर्वोक्त गर्भवास में अन्य-अन्य जन्म में, अन्य-अन्य माता के स्तन का दूध तूने समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिक पिया है ।

भावार्थ – जन्म-जन्म में, अन्य-अन्य माता के स्तन का दूध इतना पिया कि उसको एकत्र करें तो समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिक हो जावे । यहाँ अतिशय का अर्थ अनन्तगुणा जानना, क्योंकि अनन्तकाल का एकत्र किया हुआ दूध अनन्तगुणा हो जाता है ॥१८॥

आगे फिर कहते हैं कि जन्म लेकर मरण किया तब माता के रोने के अश्रुपात का जल भी इतना हुआ -

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयज्जणणीणं ।

रुण्णाण णयणणीर सायरसलिलादु अहिययरं ॥१९॥

तव मरणे दुःखेन अन्यासामन्यासां अनेकजननीनाम् ।

रुदितानां नयननीरं सागरसलितात् अधिकतरम् ॥१९॥

अर्थ – हे मुने ! तूने माता के गर्भ में रहकर जन्म लेकर मरण किया, वह तेरे मरण से अन्य-अन्य जन्म में अन्य-अन्य माता के रुदन के नयनों का नीर एकत्र करें तब समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिकगुणा हो जावे अर्थात् अनन्तगुणा हो जावे ।

आगे फिर कहते हैं कि जितने संसार में जन्म लिए उनके केश, नख, नाल कटे और उनका पुंज करें तो मेरु से अधिक राशि हो जाय -

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठी ।

पुञ्जइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥२०॥

अरे तू नरलोक में अगणित जनम धर-धर जिया ।

हो उदधि जल से भी अधिक जो दूध जननी का पिया ॥१८॥

तेरे मरण से दुखित जननी नयन से जो जल बहा ।

वह उदधिजल से भी अधिक यह वचन जिनवर ने कहा ॥१९॥

ऐसे अनन्ते भव धरे नरदेह के नख-केश सब ।

यदि करे कोई इकट्ठे तो ढेर होवे मेरु सम ॥२०॥

भवसागरे अनन्ते छिन्नोज्झितानि केशनखरनालास्थीनि ।

पुञ्जयति यदि कोऽपि देवः भवति च गिरिसमाधिकः राशिः ॥२०॥

अर्थ – हे मुने ! इस अनन्त संसार सागर में तूने जन्म लिये, उनमें केश, नख, नाल और अस्थि कटे, टूटे उनका यदि कोई देव पुंज करे तो मेरु पर्वत से भी अधिक राशि हो जावे, अनन्तगुणा हो जावे ॥२०॥

आगे कहते हैं कि हे आत्मन् ! तू जल थल आदि स्थानों में सब जगह रहा है -

जलथलसिहिपवणंवरगिरिसरिदरितरुवणाइ* सव्वत्थ ।

वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥२१॥

जलस्थलशिखिपवनांवरगिरिसरिद्वीतरुवनादिषु सर्वत्र ।

उचितोऽपि चिरं कालं त्रिभुवनमध्ये अनात्मवशः ॥२१॥

अर्थ – हे जीव ! तू जल में, थल अर्थात् भूमि में, शिखि अर्थात् अग्नि में, पवन में, अम्बर अर्थात् आकाश में, गिरि अर्थात् पर्वत में, सरित् अर्थात् नदी में, दरी अर्थात् पर्वत की गुफा में, तरु अर्थात् वृक्षों में, वनों में और अधिक क्या कहें सब ही स्थानों में, तीनलोक में अनात्मवश अर्थात् पराधीनवश होकर बहुत काल तक रहा अर्थात् निवास किया ।

भावार्थ – निज शुद्धात्मा की भावना बिना कर्म के आधीन होकर तीन लोक में सर्व दुःखसहित सर्वत्र निवास किया ॥२१॥

आगे फिर कहते हैं कि हे जीव ! तूने इस लोक में सर्व पुद्गल भक्षण किये तो भी तृप्त नहीं हुआ -

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं ।

पत्तो सि तो ण तित्तिं पुणरुत्तं ताइं भुञ्जंतो ॥२२॥

* पाठान्तर 'वणाइ', 'वणाई' ।

१. मुद्रित संस्कृत प्रति में 'पुणरुत्तं' पाठ है जिसकी संस्कृत में 'पुनरूपं' छाया है ।

परवश हुआ यह रह रहा चिरकाल से आकाश में ।

थल अनल जल तरु अनिल उपवन गहन वन गिरि गुफा में ॥२१॥

पुद्गल सभी भक्षण किये उपलब्ध हैं जो लोक में ।

बहु बार भक्षण किये पर तृप्ति मिली न रंच भी ॥२२॥

ग्रसिताः पुद्गलाः भुवनोदरवर्तिनः सर्वे ।

प्राप्तोऽसि तन्न तृप्तिं पुनरुक्तान् तान् भुंजानः ॥२२॥

अर्थ – हे जीव ! तूने इस लोक के उदर में वर्तते जो पुद्गल स्कन्ध, उन सबको ग्रसे अर्थात् भक्षण किये और उन ही को पुनरुक्त अर्थात् बारबार भोगता हुआ भी तृप्ति को प्राप्त न हुआ ।

फिर कहते हैं -

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे ।

तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥२३॥

त्रिभुवनसलिलं सकलं पीतं तृष्णाया पीडितेन त्वया ।

तदपि न तृष्णाछेदः जातः चिन्तय भवमथनम् ॥२३॥

अर्थ – हे जीव ! तूने इस लोक में तृष्णा से पीड़ित होकर तीनलोक का समस्त जल पिया तो भी तृषा का व्युच्छेद न हुआ अर्थात् प्यास न बुझी, इसलिए तू इस संसार का मंथन अर्थात् तेरे संसार का नाश हो, इसप्रकार निश्चय रत्नत्रय का चिन्तन कर ।

भावार्थ – संसार में किसी भी तरह तृप्ति नहीं है, जैसे अपने संसार का अभाव हो वैसे चिन्तन करना अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को धारण करना, सेवन करना यह उपदेश है ॥२३॥

आगे फिर कहते हैं -

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।

ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर ॥२४॥

गृहीतोऽज्झितानि मुनिवर कलेवराणि त्वया अनेकानि ।

तेषां नास्ति प्रमाणं अनन्तभवसागरे धीर! ॥२४॥

अर्थ – हे मुनिवर ! हे धीर ! तूने इस अनन्त भवसागर में कलेवर अर्थात् शरीर अनेक ग्रहण किये और छोड़े, उनका परिमाण नहीं है ।

त्रैलोक्य में उपलब्ध जल सब तृषित हो तूने पिया ।

पर प्यास फिर भी ना बुझी अब आत्मचिंतन में लगो ॥२३॥

जिस देह में तू रम रहा ऐसी अनन्ती देह तो ।

मूरख अनेकों बार तूने प्राप्त करके छोड़ दीं ॥२४॥

भावार्थ – हे मुनिप्रधान ! तू इस शरीर से कुछ स्नेह करना चाहता है तो इस संसार में इतने शरीर छोड़े और ग्रहण किये कि उनका कुछ परिमाण भी नहीं किया जा सकता है।

आगे कहते हैं कि जो पर्याय स्थिर नहीं है, आयुर्कर्म के आधीन है, वह अनेकप्रकार से क्षीण हो जाती है -

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेणं ।
 आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥२५॥
 हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं ।
 रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥२६॥
 इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्झिऊण बहुवारं ।
 अवमिच्चुमहादुक्खं तिक्खं पत्तो सि तं मित्त ॥२७॥

विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रग्रहणसंक्लेशैः ।
 आहारोच्छ्वासानां निरोधनात् क्षीयते आयुः ॥२५॥
 हिमज्वलनसलिलगुरुतरपर्वततरुरोहणपतनभङ्गैः ।
 रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः विविधैः ॥२६॥
 इति तिर्यग्मनुष्यजन्मनि सुचिरं उत्पद्य बहुवारम् ।
 अपमृत्युमहादुःखं तीव्रं प्राप्तोऽसि त्वं मित्र ! ॥२७॥

अर्थ – विषभक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से, रक्त अर्थात् रुधिर के क्षय से, भय से, शस्त्र के घात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के निरोध से इन कारणों से आयु का क्षय होता है।

शस्त्र श्वासनिरोध एवं रक्तक्षय संक्लेश से ।
 अर जहर से भय वेदना से आयुक्षय हो मरण हो ॥२५॥
 अनिल जल से शीत से पर्वतपतन से वृक्ष से ।
 परधनहरण परगमन से कुमरण अनेक प्रकार हो ॥२६॥
 हे मित्र ! इस विधि नरगति में और गति तिर्यच में ।
 बहुविध अनन्ते दुःख भोगे भयंकर अपमृत्यु के ॥२७॥

हिम अर्थात् शीत पाले से, अग्नि से, जल से, बड़े पर्वत पर चढ़कर पड़ने से, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरने से, शरीर का भंग होने से, रस अर्थात् पारा आदि की विद्या उसके संयोग से धारण करके भक्षण करे, इससे और अन्याय कार्य, चोरी, व्यभिचार आदि के निमित्त से इसप्रकार अनेकप्रकार के कारणों का आयु का व्युच्छेद (नाश) होकर कुमरण होता है।

इसलिए कहते हैं कि हे मित्र ! इसप्रकार तिर्यच, मनुष्य जन्म में बहुतकाल बहुतबार उत्पन्न होकर अपमृत्यु अर्थात् कुमरण संबंधी तीव्र महादुःख को प्राप्त हुआ।

भावार्थ – इस लोक में प्राणी की आयु (जहाँ सोपक्रम आयु बँधी है उसी नियम के अनुसार) तिर्यच-मनुष्य पर्याय में अनेक कारणों से छिदती है, इससे कुमरण होता है। इससे मरते समय तीव्र दुःख होता है तथा खोटे परिणामों से मरण कर फिर दुर्गति ही में पड़ता है, इसप्रकार यह जीव संसार में महादुःख पाता है। इसलिए आचार्य दयालु होकर उन दुःखों को बारबार दिखाते हैं और संसार से मुक्त होने का उपदेश करते हैं, इसप्रकार जानना चाहिए ॥२५-२६-२७॥

आगे निगोद के दुःख को कहते हैं -

छत्तीस तिण्णि सया छावट्टिसहस्सवारमरणाणि ।

अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तो सि निगोयवासम्मि ॥२८॥

षट्त्रिंशत् त्रीणि शतानि षट्षष्टिसहस्रवारमरणानि ।

अन्तर्मुहूर्तमध्ये प्राप्तोऽसि निकोतवासे ॥२८॥

अर्थ – हे आत्मन् ! तू निगोद के वास में एक अन्तर्मुहूर्त में छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण को प्राप्त हुआ।

भावार्थ – निगोद में एक श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण आयु पाता है। वहाँ एक मुहूर्त के सैंतीससौ तिहत्तर श्वासोच्छ्वास गिनते हैं। उनमें छत्तीससौ पिच्यासी श्वासोच्छ्वास और एक श्वास के तीसरे भाग के छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार निगोद में जन्म मरण होता है। इसका दुःख यह प्राणी सम्यग्दर्शनभाव पाये बिना मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत होकर सहता है।

भावार्थ – अंतर्मुहूर्त में छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण कहा, वह अठ्यासी श्वास कम मुहूर्त इसप्रकार अन्तर्मुहूर्त में जानना चाहिए ॥२८॥

इस जीव ने निगोद में अन्तरमुहूर्त काल में।

छयासठ सहस्र अर तीन सौ छत्तीस भव धारण किये ॥२८॥

(विशेषार्थ - गाथामें आये हुए 'निगोद वासम्मि' शब्द की संस्कृत छाया में 'निगोत वासे' है। निगोद शब्द एकेन्द्रिय वनस्पति कायिक जीवों के साधारण भेद में रूढ़ है, जबकि निगोत शब्द पाँचों इन्द्रियों के सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होनेवाले लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के लिए प्रयुक्त होता है। अतः यहाँ जो ६६३३६ बार मरण की संख्या है, वह पाँचों इन्द्रियों को सम्मिलित समझना चाहिए ॥२८॥)

इस ही अन्तर्मुहूर्त के जन्म-मरण में क्षुद्रभव का विशेष कहते हैं -

वियलिनदए असीदी सट्टी चालीसमेव जाणेह ।

पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स ॥२९॥

विकलेंद्रियाणामशीतिं षष्टिं चत्वारिंशतमेव जानीहि ।

पंचेन्द्रियाणां चतुर्विंशतिं क्षुद्रभवान् अन्तर्मुहूर्तस्य ॥२९॥

अर्थ - इस अन्तर्मुहूर्त के भवों में दो इन्द्रिय के क्षुद्रभव अस्सी, तेइन्द्रिय के साथ, चौइन्द्रिय के चालीस और पंचेन्द्रिय के चौबीस, इसप्रकार हे आत्मन् ! तू क्षुद्रभव जान ।

भावार्थ - क्षुद्रभव अन्य शास्त्रों में इसप्रकार गिने हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और साधारण निगोद के सूक्ष्म बादर से दस और सप्रतिष्ठित वनस्पति एक, इसप्रकार ग्यारह स्थानों के भव तो एक-एक के छह हजार बार, उसके छयासठ हजार एक सौ बत्तीस हुए और इस गाथा में कहे वे भव दो इन्द्रिय आदि के दो सौ चार, ऐसे ६६३३६ एक अन्तर्मुहूर्त में क्षुद्रभव कहे हैं ॥२९॥

आगे कहते हैं कि हे आत्मन् ! तूने इस दीर्घसंसार में पूर्वोक्त प्रकार सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्राप्ति बिना भ्रमण किया, इसलिए अब रत्नत्रय धारण कर -

रयणत्तये अलब्धे एवं भमिओ सि दीहसंसारे ।

इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तय समायरह ॥३०॥

रत्नत्रये अलब्धे एवं भ्रमितोऽपि दीर्घसंसारे ।

इति जिनवरैर्भणितं तत् रत्नत्रयं समाचर ॥३०॥

विकलत्रयों के असी एवं साठ अर चालीस भव ।

चौबीस भव पंचेन्द्रियों अन्तरमुहूर्त क्षुद्रभव ॥२९॥

रतन त्रय के बिना होता रहा है यह परिणमन ।

तुम रतन त्रय धारण करो बस यही है जिनवर कथन ॥३०॥

अर्थ – हे जीव ! तूने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को नहीं पाया, इसलिए इस दीर्घकाल से-अनादि संसार में पहिले कहे अनुसार भ्रमण किया इसप्रकार जानकर अब तू उस रत्नत्रय का आचरण कर, इसप्रकार जिनेश्वरदेव ने कहा है ।

भावार्थ – निश्चय रत्नत्रय पाये बिना यह जीव मिथ्यात्व के उदय से संसार में भ्रमण करता है, इसलिए रत्नत्रय के आचरण का उपदेश है ॥३०॥

आगे शिष्य पूछता है कि वह रत्नत्रय कैसा है ? उसका समाधान करते हैं कि रत्नत्रय इसप्रकार है -

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्टी हवेइ फुडु जीवो ।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिहं चारित्त मग्गो त्ति ॥३१॥
आत्मा आत्मनि रतः सम्यग्दृष्टिः भवति स्फुटं जीवः ।
जानाति तत् संज्ञानं चरतीह चारित्रं मार्ग इति ॥३१॥

अर्थ – जो आत्मा आत्मा में रत होकर यथार्थरूप का अनुभव कर तद्रूप होकर श्रद्धान करे वह प्रगत सम्यग्दृष्टि होता है, उस आत्मा को जानना सम्यग्ज्ञान है, उस आत्मा में आचरण करके रागद्वेषरूप न परिणमना सम्यक्चारित्र है । इसप्रकार यह निश्चयरत्नत्रय है, मोक्षमार्ग है ।

भावार्थ – आत्मा का श्रद्धान ज्ञान आचरण निश्चय रत्नत्रय है और बाह्य में इसका व्यवहार जीव-अजीवादि तत्त्वों का श्रद्धान तथा जानना और परद्रव्य-परभाव का त्याग करना इसप्रकार निश्चय-व्यवहारस्वरूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है । वहाँ निश्चय तो प्रधान है, इसके बिना व्यवहार संसारस्वरूप ही है । *व्यवहार है वह निश्चय का साधनस्वरूप है, इसके बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं है और निश्चय की प्राप्ति हो जाने के बाद व्यवहार कुछ नहीं है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥३१॥

आगे इस संसार में इस जीव ने जन्म-मरण किये हैं, वे कुमरण किये, अब सुमरण का उपदेश करते हैं -

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओ सि ।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव! ॥३२॥

१. नोंध - * यहाँ ऐसा नहीं समझना कि प्रथम व्यवहार हो और पश्चात् निश्चय हो, किन्तु भूमिकानुसार प्रारम्भ से ही निश्चय-व्यवहार साथ में होता है । निमित्त के बिना अर्थ शास्त्र में जो कहा है, उससे विरुद्ध निमित्त नहीं होता ऐसा समझना ।

निज आतमा को जानना सद्ज्ञान रमना चरण है ।
निज आतमारत जीव सम्यग्दृष्टि जिनवर कथन है ॥३१॥

अन्यस्मिन् कुमरणमरणं अनेकजन्मान्तरेषु मृतः असि ।

भावय सुमरणमरणं जन्ममरणविनाशनं जीवः ॥३२॥

अर्थ – हे जीव ! इस संसार में अनेक जन्मान्तरो में अन्य कुमरण मरण जैसे होते हैं, वैसे तू मरा । अब तू जिस मरण से जन्म-मरण का नाश हो जाय इसप्रकार सुमरण भा अर्थात् समाधिमरण की भावना कर ।

भावार्थ – मरण संक्षेप से अन्य शास्त्रों में सत्तरह प्रकार के कहे हैं । वे इसप्रकार हैं – १. आवीचिकामरण, २. तद्भवमरण, ३. अवधिमरण, ४. आद्यान्तमरण, ५. बालमरण, ६. पंडितमरण, ७. आसन्नमरण, ८. बालपंडितमरण, ९. सशल्यमरण, १०. पलायमरण, ११. वशार्त्तमरण, १२. विप्राणसमरण, १३. गृध्रपृष्ठमरण, १४. भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५. इंगिनीमरण, १६. प्रायोपगमनमरण और १७. केवलिमरण इसप्रकार सत्तरह हैं ।

इनका स्वरूप इसप्रकार है – आयुर्कर्म का उदय समय-समय में घटता है, वह समय-समय मरण है, वह आवीचिकामरण है ॥१॥

वर्तमान पर्याय का अभाव तद्भवमरण है ॥२॥

जैसा मरण वर्तमान पर्याय का हो, वैसा ही अगली पर्याय का होगा वह अवधिमरण है । इसके दो भेद हैं – जैसा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग वर्तमान का उदय आया, वैसा ही अगली का उदय आवे वह (१) सर्वावधिमरण है और एकदेश बंध-उदय हो तो (२) देशावधि मरण कहलाता है ॥३॥

वर्तमान पर्याय का स्थिति आदि जैसा उदय था, वैसा अगली का सर्वतो वा देशतो बंध-उदय न हो वह आद्यान्तमरण है ॥४॥

पाँचवाँ बालमरण है, यह पाँच प्रकार का है – १. अव्यक्तबाल, २. व्यवहारबाल, ३. ज्ञानबाल, ४. दर्शनबाल, ५. चारित्रबाल । जो धर्म, अर्थ, काम इन कामों को न जाने, जिसका शरीर इनके आचरण के लिए समर्थ न हो वह 'अव्यक्तबाल' है । जो लोक के और शास्त्र के व्यवहार को न जाने तथा बालक अवस्था हो वह 'व्यवहारबाल' है । वस्तु के यथार्थ ज्ञानरहित 'ज्ञानबाल' है । तत्त्वश्रद्धानरहित मिथ्यादृष्टि 'दर्शनबाल' है । चारित्ररहित प्राणी 'चारित्रबाल' है । इनका मरना सो बालमरण है । यहाँ प्रधानरूप से दर्शनबाल का ही ग्रहण है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को

तूने अनन्ते जनम में कुमरण किये हे आत्मन् ।

अब तो समाधिमरण की भा भावना भवनाशनी ॥३२॥

अन्य बालपना होते हुए भी दर्शन पंडितता के सद्भाव से पंडित मरण में ही गिनते हैं। दर्शनज्ञान का मरण संक्षेप से दो प्रकार का कहा है - इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त। अग्नि से, धूम से, शस्त्र से, विष से, जल से, पर्वत के किनारे पर से गिरने से, अति शीत ऊष्ण की बाधा से, बंधन से, क्षुधा तृषा के रोकने से, जीभ उखाड़ने से और विरुद्ध आहार करने से बाल (अज्ञानी) इच्छा-पूर्वक मरे सो 'इच्छाप्रवृत्त' है तथा जीने का इच्छुक हो और मर जावे सो 'अनिच्छाप्रवृत्त' है ॥५॥

पंडितमरण चार प्रकार का है - १. व्यवहारपंडित, २. सम्यक्त्वपंडित, ३. ज्ञानपंडित, ४. चारित्रपंडित। लोकशास्त्र के व्यवहार में प्रवीण हो वह 'व्यवहारपंडित' है। सम्यक्त्व सहित हो 'सम्यक्त्वपंडित' है। सम्यग्ज्ञान सहित हो 'ज्ञानपंडित' है। सम्यक्चारित्रसहित हो 'चारित्रपंडित' है। यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित पंडित का ग्रहण है, क्योंकि व्यवहारपंडित मिथ्यादृष्टि बालमरण में आ गया ॥६॥

मोक्षमार्ग में प्रवर्तनेवाला साधु संघ से छूटा उसको 'आसन्न' कहते हैं। इसमें पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त भी लेने, इसप्रकार के पंचप्रकार भ्रष्ट साधुओं का मरण 'आसन्नमरण' है ॥७॥

सम्यग्दृष्टि श्रावक का मरण 'बालपंडितमरण' है ॥८॥

सशल्यमरण दो प्रकार का है - मिथ्यादर्शन, माया, निदान ये तीन शल्य तो 'भावशल्य' हैं और पंच स्थावर तथा त्रस में असैनी ये 'द्रव्यशल्य' सहित हैं, इसप्रकार 'सशल्यमरण' है ॥९॥

जो प्रशस्तक्रिया में आलसी हो, व्रतादिक में शक्ति को छिपावे, ध्यानादिक से दूर भागे इसप्रकार का मरण 'पलायमरण' है ॥१०॥

वशार्त्तमरण चार प्रकार का है - वह आर्तरीद्र ध्यानसहित मरण है, पाँच इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष सहित मरण 'इन्द्रियवशार्त्तमरण' है। साता असाता की वेदनासहित मरे 'वेदनावशार्त्तमरण' है। क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के वश से मरे 'कषायवशार्त्तमरण' है। हास्य विनोद कषाय के वश से मरे 'नोकषायवशार्त्तमरण' है ॥११॥

जो अपने व्रत क्रिया चारित्र में उपसर्ग आवे वह सहा भी न जावे और भ्रष्ट होने का भय आवे तब अशक्त होकर अन्नपानी का त्यागकर मरे 'विप्राणसमरण' है ॥१२॥

शस्त्र ग्रहण कर मरण हो 'गृध्रपृष्ठमरण' है ॥१३॥

अनुक्रम से अन्नपानी का यथाविधि त्याग कर मरे 'भक्तप्रत्याख्यानमरण' है ॥१४॥

संन्यास करे और अन्य से वैयावृत्य करावे 'इंगिनीमरण' है ॥१५॥

प्रायोपगमन संन्यास करे और किसी से वैयावृत्त्य न करावे तथा अपने आप भी न करे, प्रतिमायोग रहे 'प्रायोपगमनमरण' है ॥१६॥

केवली मुक्तिप्राप्त हो 'केवलीमरण' है ॥१७॥

इसप्रकार सत्तरह प्रकार कहे। इनका संक्षेप इसप्रकार है - मरण पाँच प्रकार के हैं - १. पंडित-पंडित, २. पंडित, ३. बालपंडित, ४. बाल, ५. बालबाल। जो दर्शन ज्ञान चारित्र के अतिशय सहित हो वह पंडितपंडित है और इनकी प्रकर्षता जिसके न हो पंडित है, सम्यग्दृष्टि श्रावक वह बालपंडित और पहिले चार प्रकार के पंडित कहे उनमें से एक भी भाव जिसके नहीं हो वह बाल है तथा जो सबसे न्यून हो वह बालबाल है। इनमें पंडितपंडितमरण, पंडितमरण और बालपंडितमरण - ये तीन प्रशस्त सुमरण कहे हैं, अन्यरीति होवे कुमरण है। इसप्रकार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एकदेश सहित मरे वह 'सुमरण' है, इसप्रकार सुमरण करने का उपदेश है ॥३२॥

आगे यह जीव संसार में भ्रमण करता है, उस भ्रमण के परावर्तन का स्वरूप मन में धारण कर निरूपण करते हैं। प्रथम ही सामान्यरूप से लोक के प्रदेशों की अपेक्षा से कहते हैं -

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ ।

जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणो सव्वो ॥३३॥

सः नास्ति द्रव्यश्रमणः परमाणुप्रमाणमात्रो निलयः ।

यत्र न जातः न मृतः त्रिलोकप्रमाणकः सर्वः ॥३३॥

अर्थ - यह जीव द्रव्यलिंग का धारक मुनिपना होते हुए भी जो तीनलोक प्रमाण सर्वस्थान हैं, उनमें एक परमाणुपरिमाण एक प्रदेशमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहाँ जन्म-मरण न किया हो।

भावार्थ - द्रव्यलिंग धारण करके भी इस जीव ने सर्व लोक में अनन्तबार जन्म और मरण किये, किन्तु ऐसा कोई प्रदेश शेष न रहा कि जिसमें जन्म और मरण न किये हों। इसप्रकार भावलिंग के बिना द्रव्यलिंग से मोक्ष की (निज परमात्मदशा की) प्राप्ति नहीं हुई - ऐसा जानना ॥३३॥

धरकर दिगम्बर वेष बारम्बार इस त्रैलोक में।

स्थान कोई शेष ना जन्मा-मरा ना हो जहाँ ॥३३॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए भावलिंग को प्रधान कर कहते हैं -

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं ।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिण्ण ॥३४॥
कालमणंतं जीवः जन्मजरामरणपीडितः दुःखम् ।
जिनलिंगेण अपि प्राप्तः परम्पराभावरहितेन ॥३४॥

अर्थ - यह जीव इस संसार में जिसमें परम्परा भावलिंग न होने से अनंतकालपर्यन्त जन्म-जरा-मरण से पीड़ित दुःख को ही प्राप्त हुआ ।

भावार्थ - द्रव्यलिंग धारण किया और उसमें परम्परा से भी भावलिंग की प्राप्ति न हुई, इसलिए द्रव्यलिंग निष्फल गया, मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई, संसार में ही भ्रमण किया ।

यहाँ आशय इसप्रकार है कि द्रव्यलिंग है वह भावलिंग का साधन है, परन्तु 'काललब्धि बिना द्रव्यलिंग धारण करने पर भी भावलिंग की प्राप्ति नहीं होती है इसलिए द्रव्यलिंग निष्फल जाता है । इसप्रकार मोक्षमार्ग में प्रधान भावलिंग ही है ।

यहाँ कोई कहे कि इसप्रकार है तो द्रव्यलिंग पहिले क्यों धारण करें ? उसको कहते हैं कि इसप्रकार माने तो व्यवहार का लोप होता है, इसलिए इसप्रकार मानना जो द्रव्यलिंग पहिले धारण करना, इसप्रकार न जानना कि इसी से सिद्धि है । भावलिंग को प्रधान मानकर उसके सन्मुख उपयोग रखना, द्रव्यलिंग को यत्नपूर्वक साधना, इसप्रकार का श्रद्धान भला है ॥३४॥

आगे पुद्गल द्रव्य को प्रधानकर भ्रमण कहते हैं -

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्टं ।

१. (१) काललब्धि =स्व समय-निजस्वरूप परिणाम की प्राप्ति; (आत्मावलोकन गा. ९) । (२) काललब्धि का अर्थ स्वकाल की प्राप्ति है । (३) “यदायं जीवः आगमभाषया कालादि लब्धिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखं परिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते.....अर्थ - जब यह जीव आगमभाषा से कालादि लब्धि को प्राप्त करता है तथा अध्यात्मभाषा से शुद्धात्मा के सन्मुख परिणाम स्वसंवेदन ज्ञान को प्राप्त करता है ।” (पंचास्तिकाय गा. १५०-५१ जयसेनाचार्य टीका) (४) विशेष देखो मोक्षमार्गप्रकाशक, अ. ९ ॥ २. पाठान्तर : - जीवो ।

रे भावलिंग बिना जगत में अरे काल अनंत से ।

हा ! जन्म और जरा-मरण के दुःख भोगे जीव ने ॥३४॥

परिणाम पुद्गल आयु एवं समय काल प्रदेश में ।

तनरूप पुद्गल ग्रहे-त्यागे जीव ने इस लोक में ॥३५॥

गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीव ॥३५॥

प्रतिदेशसमयपुद्गलायुः परिणामनामकास्थम् ।

गृहीतोज्झितानि बहुशः अनन्तभवसागरे जीवः ॥३५॥

अर्थ – इस जीव ने इस अनन्त अपार भवसमुद्र में लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उन प्रति समय समय और पर्याय के आयुप्रमाण काल और अपने जैसा योगकषाय के परिणामनस्वरूप परिणाम और जैसा गतिजाति आदि नामकर्म के उदय से हुआ नाम और काल जैसा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी उनमें पुद्गल के परमाणुरूप स्कन्ध उनको बहुत बार; अनन्त बार ग्रहण किये और छोड़े ।

भावार्थ – भावलिंग बिना लोक में जितने पुद्गल स्कन्ध हैं, उन सबको ही ग्रहण किये और छोड़े तो भी मुक्त न हुआ ॥३५॥

आगे क्षेत्र को प्रधान कर कहते हैं -

तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं ।

मुत्तूणट्ट पएसा जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥३६॥

त्रिचत्वारिंशत् त्रीणि शतानि रज्जूनां लोकक्षेत्रपरिमाणं ।

मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् यत्र न भ्रमितः जीवः ॥३६॥

अर्थ – यह लोक तीन सौ तेतालीस राजू परिमाण क्षेत्र है उनके बीच मेरु के नीचे गो स्तनाकार आठ प्रदेश हैं उनको छोड़कर अन्य प्रदेश ऐसा न रहा जिसमें यह जीव नहीं जन्मा मरा हो ।

भावार्थ – ‘दुरुदुल्लिओ’ इसप्रकार प्राकृत में भ्रमण अर्थ के धातु का आदेश है और क्षेत्र परावर्तन में मेरु के नीचे आठ प्रदेश लोक के मध्य में हैं, उनको जीव अपने शरीर के अष्टमध्य प्रदेशों बनाकर मध्यदेश उपजै हैं वहाँ से क्षेत्रपरावर्तन का प्रारम्भ किया जाता है इसलिए उनको पुनरुक्त भ्रमण में नहीं गिनते हैं ॥३६॥ (देखो गो. जी. काण्ड गाथा ५६०, पृ. २६६ मूलाचार अ. ९ गा. १४, पृ. ४२८)

बिन आठ मध्यप्रदेश राजू तीन सौ चालीस त्रय ।

परिमाण के इस लोक में जन्मा-मरा न हो जहाँ ॥३६॥

एक-एक अंगुलि में जहाँ पर छयानवें हों व्याधियाँ ।

तब पूर्ण तन में तुम बताओ होंगी कितनी व्याधियाँ ॥३७॥

आगे यह जीव शरीरसहित उत्पन्न होता है और मरता है, उस शरीर में रोग होते हैं, उनकी संख्या दिखाते हैं -

एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं ।
 अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥
 एकैकांगुलौव्याधयः पण्णवतिः भवंति जानीहि मनुष्यानां ।
 अवशेषे च शरीरे रोगाः भण कियन्तः भणिताः ॥३७॥

अर्थ - इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में छयानवे-छयानवे रोग होते हैं, तब कही अवशेष समस्त शरीर में कितने रोग कहें ॥३७॥

आगे कहते हैं कि जीव ! उन रोगों का दुःख तूने सहा -

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
 एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥३८॥
 ते रोगा अपि च सकलाः सोढास्त्वया परवशेण पूर्वभवे ।
 एवं सहसे महायशः ! किं वा बहुभिः लपितैः ॥३८॥

अर्थ - हे महायश ! हे मुने ! तूने पूर्वोक्त सब रोगों को पूर्वभवों में तो परवश सहे, इसप्रकार ही फिर सहेगा, बहुत कहने से क्या ?

भावार्थ - यह जीव पराधीन होकर सब दुःख सहता है । यदि ज्ञान भावना करे और दुःख आने पर उससे चलायन न हो, इसतरह स्ववश होकर सहे तो कर्म का नाशकर मुक्त हो जावे, इसप्रकार जानना चाहिए ॥३८॥

आगे कहते हैं कि अपवित्र गर्भवास में भी रहा -

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले ।
 उयरे वसिओ सि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥३९॥
 पित्तांत्रमूत्रफेफसयकूद्रुधिरखरिसकृमिजाले ।

पूर्वभव में सहे परवश रोग विविध प्रकार के ।
 अर सहोगे बहु भाँति अब इससे अधिक हम क्या कहें? ॥३८॥
 कृमिकलित मज्जा-मांस-मज्जित मलिन महिला उदर में ।
 नवमास तक कई बार आतम तू रहा है आजतक ॥३९॥

उदरे उषितोऽसि चिरं नवदशमासैः प्राप्तैः ॥३९॥

अर्थ – हे मुने ! तूने इसप्रकार के मलिन अपवित्र उदर में नव मास तथा दस मास प्राप्त कर रहा । कैसा है उदर ? जिसमें पित्त और आंतों से वेष्टित, मूत्र का स्रवण, फेफस अर्थात् जो रुधिर बिना मेद फूल जावे, कलिज्ज अर्थात् कलेजा, खून, खरिस अर्थात् अपक्व मल से मिला हुआ रुधिर श्लेष्म और कृमिजाल अर्थात् लट आदि जीवों के समूह ये सब पाये जाते हैं, इसप्रकार स्त्री के उदर में बहुत बार रहा ॥३९॥

फिर इसी को कहते हैं -

दियसंगद्वियमसणं आहारिय मायभुक्तमण्णांते ।

छद्दिखरिसाण मज्झे जढरे वसिओ सि जणणीए ॥४०॥

द्विजसंगस्थितमशनं आहत्य मातृभुक्तमन्नान्ते ।

छर्दिखरिसयोर्मध्ये जठरे उषितोऽसि जनन्याः ॥४०॥

अर्थ – हे जीव ! तू जननी (माता) के उदर (गर्भ) में रहा, वहाँ माता के और पिता के भोग के अन्त छर्दि (वमन) का अन्न, खरिस (रुधिर से मिल हुआ अपक्व मल) के बीच में रहा, कैसा रहा ? माता के दाँतों से चबाया हुआ और उन दाँतों के लगा हुआ (रुका हुआ) झूठा भोजन माता के खाने के पीछे जो उदर में गया उसके रसरूपी आहार से रहा ॥४०॥

आगे कहते हैं कि गर्भ से निकलकर इसप्रकार बालकपन भोगा -

सिसुकाले च अयाणे असुईमज्झाम्मि लोलिओ सि तुमं ।

असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥४१॥

शिशुकाले च अज्ञाने अशुचिमध्ये लोलितोऽसि त्वम् ।

अशुचिः अशिता बहुशः मुनिवर ! बालत्वप्राप्तेन ॥४१॥

अर्थ – हे मुनिवर ! तू बचपन के समय में अज्ञान अवस्था में अशुचि (अपवित्र) स्थानों में अशुचि के बीच लेटा और बहुत बार अशुचि वस्तु ही खाई, बचपन को पाकर इसप्रकार चेष्टायें कीं ।

तू रहा जननी उदर में जो जननि ने खाया-पिया ।

उच्छिष्ट उस आहार को ही तू वहाँ खाता रहा ॥४०॥

शिशुकाल में अज्ञान से मल-मूत्र में सोता रहा ।

अब अधिक क्या बोलें अरे मल-मूत्र ही खाता रहा ॥४१॥

भावार्थ – यहाँ ‘मुनिवर’ इसप्रकार सम्बोधन है वह पहिले के समान जानना, बाह्य आचरण सहित मुनि हो उसी को यहाँ प्रधानरूप से उपदेश है कि बाह्य आचरण किया वह तो बड़ा कार्य किया, परन्तु भावों के बिना यह निष्फल है, इसलिए भाव के सन्मुख रहना, भावों के बिना ही ये अपवित्र स्थान मिले हैं ॥४१॥

आगे कहते हैं कि यह देह इसप्रकार है उसका विचार करो –

मंसट्टिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुगंधं ।

खरिसवसापूय^१खिब्भिस भरियं चित्तेहि देहउडं ॥४२॥

मांसास्थिशुक्रश्रोणितपित्तांत्रस्रवत्कुणिमदुर्गन्धम् ।

खरिसवसापूयकिल्बिषभरितं चिन्तय देहकुटम् ॥४२॥

अर्थ – हे मुने ! तू देहरूप घट को इसप्रकार विचार, कैसा है देहघट ? मांस, हाड, शुक्र (वीर्य), श्रोणित (रुधिर), पित्त (उष्ण विकार) और अंत्र (आंतड़िया) आदि द्वारा तत्काल मृतक की तरह दुर्गन्ध है तथा खरिस (रुधिर से मिला अपक्वमल), वसा (मेद), पूय (खराब खून) और राध इन सब मलिन वस्तुओं से पूरा भरा है, इसप्रकार देहरूप घट का विचार करो ।

भावार्थ – यह जीव तो पवित्र है, शुद्धज्ञानमयी है और देह इसप्रकार है, इसमें रहना अयोग्य है, ऐसा बताया है ॥४२॥

आगे कहते हैं कि जो कुटुम्ब से छूटा वह नहीं छूटा, भाव से छूटे हुए को ही छूटा कहते हैं-

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।

इय भाविऊण उज्झसु गंधं अब्भंतरं धीर ॥४३॥

भावविमुक्तः मुक्तः न च मुक्तः बांधवादिमित्तेण ।

इति भावयित्वा उज्झय गन्धमाभ्यन्तरं धीर! ॥४३॥

अर्थ – जो मुनि भावों से मुक्त हुआ उसी को मुक्त कहते हैं और बांधव आदि कुटुम्ब तथा

१. पाठान्तर – “खिब्भिस”

यह देह तो बस हड्डियों श्रोणित बसा अर मांस का ।

है पिण्ड इसमें तो सदा मल-मूत्र का आवास है ॥४२॥

परिवारमुक्ती मुक्ति ना मुक्ती वही जो भाव से ।

यह जानकर हे आत्मन् ! तू छोड़ अन्तरवासना ॥४३॥

मित्र आदि से मुक्त हुआ उसको मुक्त नहीं कहते हैं, इसलिए हे धीर मुनि ! तू इसप्रकार जानकर अभ्यन्तर की वासना को छोड़ ।

भावार्थ – जो बाह्य बांधव, कुटुम्ब तथा मित्र इनको छोड़कर निर्ग्रन्थ हुआ और अभ्यन्तर का ममत्व भावरूप वासना तथा इष्ट अनिष्ट में रागद्वेष वासना न छूटी तो उसको निर्ग्रन्थ नहीं कहते हैं । अभ्यन्तर वासना छूटने पर निर्ग्रन्थ होता है, इसलिए यह उपदेश है कि अभ्यन्तर मिथ्यात्व कषाय छोड़कर भावमुनि बनना चाहिए ॥४३॥

आगे कहते हैं कि जो पहिले मुनि हुए उन्होंने भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं पाई है । उनका उदाहरणमात्र नाम कहते हैं । प्रथम ही बाहुबली का उदाहरण कहते हैं –

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर! ।

अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥४४॥

देहादित्यक्तसंगः मानकषायेन कलुषितः धीर! ।

आतापनेन जातः बाहुबली कियन्तं कालम् ॥४४॥

अर्थ – देखो, बाहुबली श्री ऋषभदेव का पुत्र देहादिक परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बन गया तो भी मानकषाय से कलुष परिणामरूप होकर कुछ समय तक आतापन योग धारणकर स्थित हो गया, फिर भी सिद्धि नहीं पाई ।

भावार्थ – बाहुबली से भरतचक्रवर्ती ने विरोध कर युद्ध आरंभ किया, भरत का अपमान हुआ । उसके बाद बाहुबली विरक्त होकर निर्ग्रन्थ मुनि बन गए, परन्तु कुछ मानकषाय की कलुषता रही कि भरत की भूमि पर मैं कैसे रहूँ? तब कायोत्सर्ग योग से एक वर्ष तक खड़े रहे, परन्तु केवलज्ञान नहीं पाया । पीछे कलुषता मिटी तब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । इसलिए कहते हैं कि ऐसे महान पुरुष बड़ी शक्ति के धारक ने भी भावशुद्धि के बिना सिद्धि नहीं पाई तब अन्य की क्या बात ? इसलिए भावों को शुद्ध करना चाहिए, यह उपदेश है ॥४४॥

आगे मधुपिंगल मुनि का उदाहरण कहते हैं –

१. 'कित्तियं' पाठान्तर 'कित्तियं'

बाहुबली ने मान बस घरवार ही सब छोड़कर ।

तप तपा बारह मास तक ना प्राप्ति केवलज्ञान की ॥४४॥

तज भोजनादि प्रवृत्तियाँ मुनिपिंगला रे भावविन ।

अरे मात्र निदान से पाया नहीं श्रमणत्व को ॥४५॥

मधुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचित्तवावारो ।
 सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥४५॥
 मधुपिंगो नाम मुनिः देहाहारादित्यक्तव्यापारः ।
 श्रमणत्वं न प्राप्तः निदानमात्रेण भव्यनुत! ॥४५॥

अर्थ – मधुपिंगल नाम का मुनि कैसा हुआ ? देह आहारादि में व्यापार छोड़कर भी निदानमात्र से भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ उसको भव्यजीवों से नमने योग्य मुनि तू देख ।

भावार्थ – मधुपिंगल नाम के मुनि की कथा पुराण में है, उसका संक्षेप ऐसे है – इस भरतक्षेत्र के सुरम्यदेश में पौदनापुर का राजा तृणपिंगल का पुत्र मधुपिंगल था। वह चारणयुगलनगर के राजा सुयोधन की पुत्री सुलसा के स्वयंवर में आया था। वहीं साकेतापुरी राजा सगर आया था। सगर के मंत्री ने मधु पिंगल को कपट से नया सामुद्रिक शास्त्र बनाकर दोषी बताया कि इसके नेत्र पिंगल हैं (माँजरा है) जो कन्या इसको वरे सो मरण को प्राप्त हो। तब कन्या ने सगर के गले में वरमाला पहिना दी। मधुपिंगल का वरण नहीं किया, तब मधुपिंगल ने विरक्त होकर दीक्षा ले ली।

फिर कारण पाकर सगर के मंत्री के कपट को जानकर क्रोध से निदान किया कि मेरे तप का फल यह हो “अगले जन्म में सगर के कुल को निर्मूल करूँ” उसके पीछे मधुपिंगल मरकर महाकालासुर नाम का असुर देव हुआ तब सगर को मंत्री सहित मारने का उपाय सोचने लगा। इसको क्षीरकदम्ब ब्राह्मण का पुत्र पापी पर्वत मिला, तब उसको पशुओं की हिंसारूप यज्ञ का सहायक बन ऐसा कहा। सगर राजा को यज्ञ का उपदेश करके यज्ञ करा, तेरे यज्ञ का मैं सहायक बनूँगा। तब पर्वत ने सगर से यज्ञ कराया, पशु होमे। उस पाप से सगर सातवें नरक गया और कालासुर सहायक बना सो यज्ञ करनेवालों को स्वर्ग जाते दिखाये। ऐसे मधुपिंगल नामक मुनि ने निदान से महाकालासुर बनकर महापाप कमाया, इसलिए आचार्य कहते हैं कि मुनि बन जाने पर भी भाव बिगड़ जावे तो सिद्धि को नहीं पाता है। इसकी कथा पुराणों से विस्तार से जानो।

आगे वशिष्ठ मुनि का उदाहरण कहते हैं –

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण ।

इस ही तरह मुनि वशिष्ठ भी इस लोक में थानक नहीं ।
 रे एक मात्र निदान से घूमा नहीं हो वह जहाँ ॥४६॥

सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण दुरुद्धल्लिओ जीवो ॥४६॥

अन्यश्च वसिष्ठमुनिः प्राप्तः दुःखं निदानदोषेण ।

तन्नास्ति वासस्थानं यत्र न भ्रमितः जीव! ॥४६॥

अर्थ – अन्य और एक वशिष्ठ नामक मुनि ने निदान के दोष से दुःख को प्राप्त हुआ इसलिए लोक में ऐसा वासस्थान नहीं है जिसमें यह जीव जन्ममरणसहित भ्रमण को प्राप्त नहीं हुआ ।

भावार्थ – वशिष्ठ मुनि की कथा ऐसे है – गंगा और गंधवती दोनों नदियों का जहाँ संगम हुआ है वहाँ जठरकौशिक नाम की तापसी की पल्ली थी । वहाँ एक वशिष्ठ नाम का तपस्वी पंचाग्नि से तप करता था । वहाँ गुणभद्र वीरभद्र नाम के दो चारणमुनि आये । उस वशिष्ठ तपस्वी को कहा जो तू अज्ञानतप करता है इसमें जीवों की हिंसा होती है, तब तपस्वी ने प्रत्यक्ष हिंसा देख और विरक्त होकर जैनदीक्षा ले ली, मासोपवाससहित आतापनयोग स्थापित किया, उस तप के माहात्म्य से सात व्यन्तरदेवों ने आकर कहा, हमको आज्ञा दो सो ही करें, तब वशिष्ठ ने कहा, ‘अभी तो मेरे कुछ प्रयोजन नहीं है, जन्मांतर में तुम्हें याद करूँगा ।’ फिर वशिष्ठ ने मथुरापुरी में आकर मासोपवाससहित आतापन योग स्थापित किया ।

उसको मथुरापुरी के राजा उग्रसेन ने देखकर भक्तिवश यह विचार किया कि मैं इनको पारणा कराऊँगा । नगर में घोषणा करा दी कि मुनि को और कोई आहार न दे । पीछे पारणा के दिन नगर में आये वहाँ अग्नि का उपद्रव देख अंतराय जानकर वापिस चले गये । फिर मासोपवास किया, फिर पारणा के दिन नगर में आये तब हाथी का क्षोभ देख अंतराय जानकर वापिस चले गये । फिर मासोपवास किया, पीछे पारणा के दिन फिर नगर में आये । तब राजा जरासिंघ का पत्र आया, उसके निमित्त से राजा का चित्त व्यग्र था इसलिए मुनि को पड़गाहा नहीं, तब अंतराय मान वापिस वन में जाते हुए लोगों के वचन सुने – ‘राजा मुनि को आहार दे नहीं और अन्य देनेवालों को मना कर दिया’ ऐसे लोगों के वचन सुन राजा पर क्रोध कर निदान किया कि – इस राजा का पुत्र होकर राजा का निग्रह कर मैं राज करूँ, इस तप का मेरे यह फल हो, इसप्रकार निदान से मरा ।

राजा उग्रसेन की रानी पद्मावती के गर्भ में आया, मास पूरे होने पर जन्म लिया तब इसको क्रूरदृष्टि देखकर कांसी के संदूक में रक्खा और वृत्तान्त के लेख सहित यमुना नदी में बहा दिया । कौशाम्बीपुर में मंदोदरी नाम की कलाली ने उसको लेकर पुत्रबुद्धि से पालन किया, कंस नाम रक्खा । जब वह बड़ा हुआ तो बालकों के साथ खेलते समय सबको दुःख देने लगा, तब मंदोदरी ने उलाहनों के दुःख से इसको निकाल दिया ।

फिर यह कंस शौर्यपुर गया वहाँ वसुदेव राजा के पयादा (सेवक) बनकर रहा। पीछे जरासिंघ प्रतिनारायण का पत्र आया कि जो पोदनापुर के राजा सिंहरथ को बांध लावे उसको आधे राज्यसहित पुत्री विवाहित कर दूँ। तब वसुदेव वहाँ कंससहित जाकर युद्ध करके उस सिंहरथ को बांध लाया, जरासिंघ को सौंप दिया। फिर जरासिंघ ने जीवयंशा पुत्रीसहित आधा राज्य दिया, तब वसुदेव ने कहा - सिंहरथ को कंस बांधकर लाया है, इसको दो। फिर जरासिंघ ने इसका कुल जानने के लिए मंदोदरी को बुलाकर कुल का निश्चय करके इसको जीवयंशा पुत्री ब्याह दी, तब कंस ने मथुरा का राज लेकर पिता उग्रसेन राजा को और पद्मावती माता को बंदीखाने में डाल दिया, पीछे कृष्ण नारायण से मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसकी कथा विस्तारपूर्वक उत्तरपुराण से जानिये। इसप्रकार वशिष्ठमुनि ने निदान से सिद्धि को नहीं पाई, इसलिए भावलिंग ही से सिद्धि है॥४६॥

आगे कहते हैं कि भावरहित चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है -

सो णत्थि तप्पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि ।

भावविरओ वि सवणो जत्थ णं दुरुदुल्लिओ १जीव ॥४७॥

सः नास्ति तं प्रदेशः चतुरशीतिलक्षयोनिवासे ।

भावविरतः अपि श्रमणः यत्र न भ्रमितः जीवः ॥४७॥

अर्थ - इस संसार में चौरासीलाख योनि उनके निवास में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जिसमें इस जीव ने द्रव्यलिंगी मुनि होकर भी भावरहित होता हुआ भ्रमण न किया हो।

भावार्थ - द्रव्यलिंग धारणकर निर्ग्रन्थ मुनि बनकर शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप भाव बिना यह जीव चौरासीलाख योनियों में भ्रमण ही करता रहा, ऐसा स्थान नहीं रहा, जिसमें मरण नहीं हुआ हो।

आगे चौरासी लाख योनि के भेद कहते हैं - पृथ्वी, तप, तेज, आयु, नित्यनिगोद और इतरनिगोद ये तो सात-सात लाख हैं, सब बयालीस लाख हुए, वनस्पति दस लाख हैं, दो

१. पाठान्तरः - जीवो ।

चौरासिलख योनीविषे है नहीं कोई थल जहाँ ।

रे भावबिन द्रवलिंगधर घूमा नहीं हो तू जहाँ॥४७॥

भाव से ही लिंगी हो द्रवलिंग से लिंगी नहीं ।

लिंगभाव ही धारण करो द्रवलिंग से क्या कार्य हो ॥४८॥

इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय दो-दो लाख हैं, पंचेन्द्रिय तिर्यच चार लाख, देव चार लाख, नारकी चार लाख, मनुष्य चौदह लाख। इसप्रकार चौरासी लाख हैं। ये जीवों के उत्पन्न होने के स्थान हैं॥४७॥

आगे कहते हैं कि द्रव्यमात्र से लिंगी नहीं होता है, भाव से होता है -

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।

तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥४८॥

भावेन भवति लिंगी न हि भवति लिंगी द्रव्यमात्रेण ।

तस्मात् कुर्याः भावं किं क्रियते द्रव्यलिंगेन ॥४८॥

अर्थ - लिंगी होता है सो भावलिंग ही से होता है, द्रव्यलिंग से लिंगी नहीं होता है, यह प्रकट है, इसलिए भावलिंग ही धारण करना, द्रव्यलिंग से क्या सिद्ध होता है ?

भावार्थ - आचार्य कहते हैं कि इससे अधिक क्या कहा जावे, भावलिंग बिना 'लिंगी' नाम ही नहीं होता है, क्योंकि यह प्रगट है कि भाव शुद्ध न देखे तब लोग ही कहें कि काहे का मुनि है? कपटी है। द्रव्यलिंग से कुछ सिद्धि नहीं है, इसलिए भावलिंग ही धारण करने योग्य है ॥४८॥

आगे इसी को दृढ़ करने के लिए द्रव्यलिंगधारक को उलटा उपद्रव हुआ, उदाहरण कहते हैं-

दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण ।

जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरए ॥४९॥

दण्डकनगरं सकलं दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण ।

जिनलिंगेनापि बाहुः पतितः सः रौरवे नरके ॥४९॥

अर्थ - देखो, बाहु नामक मुनि बाह्य जिनलिंग सहित था तो भी अभ्यन्तर के दोष से समस्त दंडक नामक नगर को दग्ध किया और सप्तम पृथ्वी के रौरव नामक बिल में गिरा।

भावार्थ - द्रव्यलिंग धारणकर कुछ तप करे, उससे कुछ सामर्थ्य बढ़े, तब कुछ कारण पाकर क्रोध से अपना और दूसरे का उपद्रव करने का कारण बनावे, इसलिए द्रव्यलिंग भावसहित धारण करना ही श्रेष्ठ है और केवल द्रव्यलिंग तो उपद्रव का कारण होता है। इसका उदाहरण बाहु मुनि का बताया। उसकी कथा ऐसे है -

— दक्षिणदिशा में कुम्भकारकटक नगर में दण्डक नाम का राजा था। उसके बालक नाम का जिनलिंग धरकर बाहुमुनि निज अंतरंग कषाय से।

दण्डकनगर को भस्मकर रौरव नरक में जा पड़े ॥४९॥

मंत्री था। वहाँ अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि आये, उनमें एक खंडक नाम के मुनि थे। उन्होंने बालक नाम के मंत्री को वाद में जीत लिया, तब मंत्री ने क्रोध करके एक भाँड को मुनि का रूप कराकर राजा की रानी सुव्रता के साथ क्रीडा करते हुए राजा को दिखा दिया और कहा कि देखो! राजा के ऐसी भक्ति है जो अपनी स्त्री भी दिगम्बर को क्रीडा करने के लिए दे दी है। तब राजा ने दिगम्बरों पर क्रोध करके पाँच सौ मुनियों को घानी में पिलवाया। वे मुनि उपसर्ग सहकर परमसमाधि से सिद्धि को प्राप्त हुए।

फिर उस नगर में बाहु नाम के एक मुनि आये। उनको लोगों ने मना किया कि यहाँ का राजा दुष्ट है, इसलिए आप नगर में प्रवेश मत करो। पहिले पाँच सौ मुनियों को घानी में पेल दिया, वह आपका भी वही हाल करेगा। तब लोगों के वचनों से बाहु मुनी को क्रोध उत्पन्न हुआ, अशुभ तैजस समुद्घात से राजा को मंत्री सहित और सब नगर को भस्म कर दिया। राजा और मंत्री सातवें नरक रौरव नामक बिल में गिरे, वहीं बाहु मुनि भी मरकर रौरव बिल में गिरे। इसप्रकार द्रव्यलिंग में भाव के दोष से उपद्रव होते हैं, इसलिए भावलिंग का प्रधान उपदेश है ॥४९॥

आगे इस ही अर्थ पर दीपायन मुनि का उदाहरण कहते हैं -

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्टो ।

दीवायणो त्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥५०॥

अपरः अपि द्रव्यश्रमणः दर्शनवरज्ञानचरणप्रभ्रष्टः ।

दीपायन इति नाम अनन्तसांसारिकः जातः ॥५०॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि जैसे पहिले बाहु मुनि कहा वैसे ही और भी दीपायन नाम का द्रव्यश्रमण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र से भ्रष्ट होकर अनंतसंसारी हुआ है।

भावार्थ - पहिले की तरह इसकी कथा संक्षेप से इसप्रकार है - नौवे बलभद्र ने श्रीनेमिनाथ-तीर्थकर से पूछा कि हे स्वामिन् ! यह द्वारकापुरी समुद्र में है इसकी स्थिति कितने समय तक है ? तब भगवान ने कहा कि रोहिणी का भाई दीपायन तेरा मामा बारह वर्ष पीछे मद्य के निमित्त से क्रोध करके इस पुरी को दग्ध करेगा। इसप्रकार भगवान के वचन सुन निश्चय कर दीपायन दीक्षा लेकर पूर्वदेश में चला गया। बारह वर्ष व्यतीत करने के लिए तप करना शुरू किया और बलभद्र नारायण ने द्वारिका में मद्यनिषेध की घोषणा करा दी। मद्य के बरतन तथा उसकी सामग्री मद्य

इस ही तरह द्रवलिंगी द्वीपायन मुनी भी भ्रष्ट हो।

दुर्गति गमनकर दुख सहे अर अनंत संसारी हुए ॥५०॥

बनानेवालों ने बाहर पर्वतादि में फेंक दी। तब बरतनों की मदिरा तथा मद्य की सामग्री जल के गर्तों में फैल गई।

फिर बारह वर्ष बीते जानकर दीपायन द्वारिका आकर, नगर के बाहर आतापन योग धारण कर स्थित हुए। भगवान के वचन की प्रतीति न रखी। पीछे शंभवकुमारादि क्रीड़ा करते हुए प्यासे होकर कुंडों में जल जानकर पी गये। उस मद्य के निमित्त से कुमार उन्मत्त हो गये। वहाँ दीपायन मुनि को खड़ा देखकर कहने लगे - 'यह द्वारिका को भस्म करनेवाला दीपायन है' इसप्रकार कहकर उसको पाषाणादिक से मारने लगे। तब दीपायन भूमि पर गिर पड़ा, उसको क्रोध उत्पन्न हो गया, उसके निमित्त से द्वारिका जलकर भस्म हो गई। इसप्रकार दीपायन भावशुद्धि के बिना अनन्त संसारी हुआ ॥५०॥

आगे भावशुद्धिसहित मुनि हुए और उन्होंने सिद्धि पाई, उसका उदाहरण कहते हैं -

भावसमणो य धीरो जुवईजणबेढियो विसुद्धमई ।

णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जादो ॥५१॥

भावश्रमणश्च धीरः युवतिजनवेष्टितः विशुद्धमतिः ।

नाम्ना शिवकुमारः परित्यक्तसांसारिकः जातः ॥५१॥

अर्थ - शिवकुमार नामक भावश्रमण स्त्रीजनों से वेष्टित हुए भी विशुद्ध बुद्धि का धारक धीर संसार को त्यागनेवाला हुआ।

भावार्थ - शिवकुमार ने भाव की शुद्धता से ब्रह्मस्वर्ग में विद्युन्माली देव होकर वहाँ से चय कर जंबूस्वामी केवली होकर मोक्ष प्राप्त किया। उसकी कथा इसप्रकार है -

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश के वीतशोकपुर में महापद्म राजा की वनमाला रानी के शिवकुमार नामक पुत्र हुआ। वह एक दिन मित्र सहित वनक्रीड़ा करके नगर में आ रहा था। उसने मार्ग में लोगों को पूजा की सामग्री ले जाते हुए देखा। तब मित्र को पूछा - ये कहाँ जा रहे हैं? मित्र ने कहा, ये सगरदत्त नामक ऋद्धिधारी मुनि को पूजने के लिए वन में जा रहे हैं। तब शिवकुमार ने मुनि के पास जाकर अपना पूर्वभव सुन संसार से विरक्त हो दीक्षा ले ली और दृढ़धर नामक श्रावक के घर प्रासुक आहार लिया। उसके बाद स्त्रियों के निकट असिधाराव्रत परम

शुद्धबुद्धी भावलिंगी अंगनाओं से घिरे।

होकर भी शिवकुमार मुनि संसारसागर तिर गये ॥५१॥

ब्रह्मचर्य पालते हुए बारह वर्ष तक तप कर अन्त में संन्यास मरण करके ब्रह्मकल्प में विद्युन्माली देव हुआ। वहाँ से चयकर जम्बूकुमार हुआ सो दीक्षा ले केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गया। इसप्रकार शिवकुमार भावमुनि ने मोक्ष प्राप्त किया। इसकी विस्तार सहित कथा जम्बूचरित्र में है, वहाँ से जानिये। इसप्रकार भावलिंग प्रधान है ॥५१॥

आगे शास्त्र भी पढ़े और सम्यग्दर्शनादिरूप भाव विशुद्ध न हो तो सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता, उसका उदाहरण अभव्यसेन का कहते हैं -

केवलिजिणपणत्तं^१ एयादसअंग सयलसुयणाणं ।

पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥

केवलिजिनप्रज्ञप्तं एकादशांगं सकलश्रुतज्ञानम् ।

पठितः अभव्यसेनः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥५२॥

अर्थ - अभव्यसेन नाम के द्रव्यलिंगी मुनि ने केवली भगवान से उपदिष्ट ग्यारह अंग पढ़े और ग्यारह अंग को 'पूर्ण श्रुतज्ञान' भी कहते हैं, क्योंकि इतने पढ़े हुए को अर्थ अपेक्षा 'पूर्ण श्रुतज्ञान' भी हो जाता है। अभव्यसेन इतना पढ़ा तो भी भावश्रमणपने को प्राप्त न हुआ।

भावार्थ - यहाँ ऐसा आशय है कि कोई जानेगा बाह्यक्रिया मात्र से तो सिद्धि नहीं है और शास्त्र के पढ़ने से सिद्धि है तो इसप्रकार जानना भी सत्य नहीं है, क्योंकि शास्त्र पढ़ने मात्र से भी सिद्धि नहीं है, अभव्यसेन द्रव्यमुनि भी हुआ और ग्यारह अंग भी पढ़े तो भी जिनवचन की प्रतीति न हुई, इसलिए भावलिंग नहीं पाया। अभव्यसेन की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है, वहाँ से जानिये ॥५२॥

१. मुद्रित संस्कृत सटीक प्रति में यह गाथा इसप्रकार है -

अंगाइं दस य दुण्णि च चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं ।

पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥

अंगानि दश च द्वे च चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम् ।

पठितश्च अभव्यसेनः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥५२॥

अभविसेन ने केवलि प्ररूपित अंग ग्यारह भी पढ़े ।

पर भावलिंग बिना अरे संसारसागर न तिरे ॥५२॥

कहाँ तक बतावें अरे महिमा तुम्हें भावविशुद्धि की ।

तुषमास पद को घोखते शिवभूति केवलि हो गये ॥५३॥

आगे शास्त्र पढ़े बिना शिवभूति मुनि ने तुषमाष को घोखते ही भाव की विशुद्धि को पाकर मोक्ष प्राप्त किया। उसका उदाहरण कहते हैं -

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महानुभावो य ।

णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥५३॥

तुषमाषं घोषयन् भावविसुद्धः महानुभावश्च ।

नाम्ना च शिवभूतिः केवलज्ञानी स्फुटं जातः ॥५३॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि शिवभूति मुनि ने शास्त्र नहीं पढ़े थे, परन्तु तुषमाष ऐसे शब्द को रटते हुए भावों की विशुद्धता से महानुभाव होकर केवलज्ञान पाया, यह प्रकट है।

भावार्थ - कोई जानेगा कि शास्त्र पढ़ने से ही सिद्धि है तो इसप्रकार भी नहीं है। शिवभूति मुनि ने तुषमाष ऐसा शब्दमात्र रटने से ही भावों की विशुद्धता से केवलज्ञान पाया। इसकी कथा इसप्रकार है - कोई शिवभूति नामक मुनि था। उसने गुरु के पास शास्त्र पढ़े, परन्तु धारणा नहीं हुई। तब गुरु ने यह शब्द पढ़ाया कि 'मा रुष मा तुष' सो इस शब्द को घोखने लगा। इसका अर्थ यह है कि रोष मत करो और तोष मत करे अर्थात् राग-द्वेष मत करो, इससे सर्वसिद्धि है।

फिर यह भी शुद्ध याद न रहा तब 'तुषमास' ऐसा पाठ घोखने लगा, दोनों पदों के 'रूकार और^१ तुकार' भूल गये और 'तुष माष' इसप्रकार याद रह गया। उसको घोखते हुए विचरने लगे। तब कोई एक स्त्री उड़द की दाल धो रही थी उसको किसी ने पूछा, तू क्या कर रही है ? उसने कहा - तुष और माष भिन्न-भिन्न कर रही हूँ। तब यह सुनकर मुनि ने 'तुष माष' शब्द का भावार्थ यह जाना कि यह शरीर तो तुष है और यह आत्मा माष है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसप्रकार भाव जानकर आत्मा का अनुभव करने लगा। चिन्मात्र शुद्ध आत्मा को जानकर उसमें लीन हुआ, तब घाति कर्म का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया। इसप्रकार भावों की विशुद्धता से सिद्धि हुई यह जानकर भाव शुद्ध करना, यह उपदेश है ॥५३॥

आगे इसी अर्थ को सामान्यरूप से कहते हैं -

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण ।

१. माकार, ऐसा पाठ सुसंगत है।

भाव से हो नग्न तन से नग्नता किस काम की।

भाव एवं द्रव्य से हो नाश कर्मकलंक का ॥५४॥

कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥५४॥

भावेन भवति नग्नः बहिलिंगेन किं च नग्नेन ।

कर्मप्रकृतीनां निकरं नाशयति भावेन द्रव्येण ॥५४॥

अर्थ – भाव से नग्न होता है, बाह्य नग्नलिंग से क्या कार्य होता है ? अर्थात् नहीं होता है, क्योंकि भावसहित द्रव्यलिंग से कर्मप्रकृति के समूह का नाश होता है ।

भावार्थ – आत्मा के कर्मप्रकृति के नाश से निर्जरा तथा मोक्ष होना कार्य है । यह कार्य द्रव्यलिंग से नहीं होता । भावसहित द्रव्यलिंग होने पर कर्म की निर्जरा नामक कार्य होता है । केवल द्रव्यलिंग से तो नहीं होता है, इसलिए भावसहित द्रव्यलिंग धारण करने का यह उपदेश है ॥५४॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

णगगत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं ।

इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥५५॥

नग्नत्वं अकार्यं भावरहितं जिनैः प्रज्ञप्तम् ।

इति ज्ञात्वा नित्यं भावयेः आत्मानं धीर! ॥५५॥

अर्थ – भावरहित नग्नत्व अकार्य है, कुछ कार्यकारी नहीं है । ऐसा जिन भगवान् ने कहा है । इसप्रकार जानकर हे धीर ! हे धैर्यवान् मुने ! निरन्तर नित्य आत्मा की ही भावना कर ।

भावार्थ – आत्मा की भावना बिना केवल नग्नत्व कुछ कार्य करने वाला नहीं है, इसलिए चिदानन्दस्वरूप आत्मा की ही भावना निरन्तर करना, आत्मा की भावना सहित नग्नत्व सफल होता है ॥५५॥

आगे शिष्य पूछता है कि भावलिंग को प्रधान कर निरूपण किया, वह भावलिंग कैसा है ? इसका समाधान करने के लिए भावलिंग का निरूपण करते हैं -

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचित्तो ।

अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥५६॥

भाव विरहित नग्नता कुछ कार्यकारी है नहीं ।

यह जानकर भाओ निरन्तर आत्म की भावना ॥५५॥

देहादि के संग से रहित अर रहित मान कषाय से ।

अर आतमारत सदा ही जो भावलिंगी श्रमण वह ॥५६॥

देहादिसंगरहितः मानकषायैः सकलपरित्यक्तः ।

आत्मा आत्मनि रतः स भावलिंगी भवेत् साधु ॥५६॥

अर्थ – भावलिंगी साधु ऐसा होता है – देहादिक परिग्रह से रहित होता है तथा मान कषाय से रहित होता है और आत्मा में लीन होता है, वही आत्मा भावलिंगी है ।

भावार्थ – आत्मा के स्वाभाविक परिणाम को 'भाव' कहते हैं, उस रूप लिंग (चिह्न), लक्षण तथा रूप हो वह भावलिंग है । आत्मा अमूर्तिक चेतनारूप है, उसका परिणाम दर्शनज्ञान है । उसमें कर्म के निमित्त से (पराश्रय करने से) बाह्य तो शरीरादिक मूर्तिक पदार्थ का संबंध है और अंतरंग मिथ्यात्व और रागद्वेष आदि कषायों का भाव है इसलिए कहते हैं –

बाह्य तो देहादिक परिग्रह से रहित और अंतरंग रागादिक परिणाम में अहंकाररूप मानकषाय, परभावों में अपनापन मानना इस भाव से रहित हो और अपने दर्शनज्ञानरूप चेतनाभाव में लीन हो वह 'भावलिंग' है जिसको इसप्रकार के भाव हों वह भावलिंगी साधु है ॥५६॥

आगे इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं –

ममत्तिं परिव्रजामि णिममत्तिमुवट्टिदो ।

आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥५७॥

ममत्वं परिवर्जामि निर्ममत्वमुपस्थितः ।

आलंबनं च मे आत्मा अवशेषानि व्युत्सृजामि ॥५७॥

अर्थ – भावलिंगी मुनि के इसप्रकार के भाव होते हैं – मैं परद्रव्य और परभावों से ममत्व (अपना मानना) को छोड़ता हूँ और मेरा निजभाव ममत्व रहित है उसको अंगीकार कर स्थित हूँ । अब मुझे आत्मा का ही अवलंबन है, अन्य सभी को छोड़ता हूँ ।

भावार्थ – सब परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो ऐसा 'भावलिंग' है ॥५७॥

आगे कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग, संवर और योग ये भाव भावलिंगी मुनि के होते

निज आत्म का अवलम्ब ले मैं और सबको छोड़ दूँ ।

अर छोड़ ममताभाव को निर्ममत्व को धारण करूँ ॥५७॥

निज ज्ञान में है आत्मा दर्शन चरण में आत्मा ।

और संवर योग प्रत्याख्यान में है आत्मा ॥५८॥

हैं, ये अनेक हैं तो भी आत्मा ही है, इसलिए इनसे भी अभेद का अनुभव करता है -

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।

आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥५८॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चारित्रे च ।

आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥५८॥

अर्थ - भावलिंगी मुनि विचारते हैं कि मेरे ज्ञानभाव प्रकट हैं, उसमें आत्मा की ही भावना है, ज्ञान कोई भिन्न वस्तु नहीं है, ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसप्रकार ही दर्शन में भी आत्मा ही है। ज्ञान में स्थिर रहना चारित्र है, इसमें भी आत्मा ही है। प्रत्याख्यान (अर्थात् शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत स्वद्रव्य के आलंबन के बल से) आगामी परद्रव्य का संबंध छोड़ना है, इस भाव में भी 'संवर' ज्ञानरूप रहना और परद्रव्य के भावरूप न परिणमना है, इस भाव में भी मेरा आत्मा ही है और 'योग' का अर्थ एकाग्रचित्तरूप समाधि-ध्यान है, इस भाव में भी मेरा आत्मा ही है।

भावार्थ - ज्ञानादिक कुछ भिन्न पदार्थ तो हैं नहीं, आत्मा के ही भाव हैं, संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन के भेद से भिन्न कहते हैं, वहाँ अभेददृष्टि से देखें तो ये सब भाव आत्मा ही हैं, इसलिए भावलिंगी मुनि के अभेद अनुभव में विकल्प नहीं है, अतः निर्विकल्प अनुभव से सिद्धि है, यह जानकर इसप्रकार करता है ॥५८॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं -

(अनुष्टुप् श्लोक)

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥

एकः मे शाश्वतः आत्मा ज्ञानदर्शन लक्षणः ।

शेषाः मे बाह्याः भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥५९॥

अरे मेरा एक शाश्वत आत्मा दृगज्ञानमय ।

अवशेष जो हैं भाव वे संयोगलक्षण जानने ॥५९॥

चतुर्गति से मुक्त हो यदि शाश्वत सुख चाहते ।

तो सदा निर्मलभाव से ध्याओ श्रमण शुद्धात्मा ॥६०॥

अर्थ – भावलिंगी मुनि विचारता है कि ज्ञान, दर्शन लक्षणरूप और शाश्वत अर्थात् नित्य ऐसा आत्मा है वही एक मेरा है। शेष भाव हैं, वे मुझसे बाह्य हैं, वे सब ही संयोगस्वरूप हैं, परद्रव्य हैं।

भावार्थ – ज्ञानदर्शनस्वरूप नित्य एक आत्मा है, वह तो मेरा रूप है, एक स्वरूप है और अन्य परद्रव्य हैं, वे मुझसे बाह्य हैं, सब संयोगस्वरूप हैं, भिन्न हैं। यह भावना भावलिंगी मुनि के है॥५९॥

आगे कहते हैं कि जो मोक्ष चाहे वह इसप्रकार आत्मा की भावना करे –

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविशुद्धणिम्मलं चेव ।

लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं ॥६०॥

भावय भावशुद्धं आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव ।

लघु चतुर्गति च्युत्वा यदि इच्छसि शाश्वतं सौख्यम् ॥६०॥

अर्थ – हे मुनिजनों ! यदि चारगतिरूप संसार से छूटकर शीघ्र शाश्वत सुखरूप मोक्ष तुम चाहो तो भाव से शुद्ध जैसे हो वैसे अतिशय विशुद्ध निर्मल आत्मा को भावो।

भावार्थ – यदि संसार से निवृत्त होकर मोक्ष चाहो तो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध आत्मा को भावो इसप्रकार उपदेश है ॥६०॥

आगे कहते हैं कि जो आत्मा को भावे वह इसके स्वभाव को जानकर भावे, वही मोक्ष पाता है –

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।

सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥

यः जीवः भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्तः ।

सः जरामरणविनाशं करोति स्फुटं लभते निर्वाणम् ॥६१॥

अर्थ – जो भव्यपुरुष जीव को भाता हुआ भले भाव से संयुक्त होता हुआ जीव के स्वभाव

जो जीव जीवस्वभाव को सुधभाव से संयुक्त हो।

भावे सदा व जीव ही पावे अमर निर्वाण को ॥६१॥

चेतना से सहित ज्ञानस्वभावमय यह आत्मा।

कर्मक्षय का हेतु यह है यह कहें परमात्मा ॥६२॥

को जानकर भावे, वह जरा-मरण का विनाश कर प्रगट निर्वाण को प्राप्त करता है।

भावार्थ – ‘जीव’ ऐसा नाम तो लोक में प्रसिद्ध है, परन्तु इसका स्वभाव कैसा है ? इसप्रकार लोगों को यथार्थ ज्ञान नहीं है और मतान्तर के दोष से इसका स्वरूप विपर्यय हो रहा है। इसलिए इसका यथार्थ स्वरूप जानकर भावना करते हैं। वे संसार से निर्वृत्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥६१॥

आगे जीव का स्वरूप सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह कहते हैं –

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहावो य चेयणासहिओ ।

सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकरणणिम्मित्तो ॥६२॥

जीवः जिनप्रज्ञप्तः ज्ञानस्वभावः च चेतनासहितः ।

सः जीवः ज्ञातव्यः कर्मक्षयकरणनिमित्तः ॥६२॥

अर्थ – जिन सर्वज्ञदेव ने जीव का स्वरूप इसप्रकार कहा है – जीव है वह चेतनासहित है और ज्ञानस्वभाव है, इसप्रकार जीव की भावना करना, जो कर्म के क्षय के निमित्त जानना चाहिए।

भावार्थ – जीव का चेतनासहित विशेषण करने से तो चार्वाक जीव को चेतनासहित नहीं मानता है, उसका निराकरण है। ज्ञानस्वभाव विशेषण से सांख्यमती ज्ञान को प्रधान का धर्म मानता है, जीव को उदासीन नित्य चेतनारूप मानता है, उसका निराकरण है और नैयायिकमती गुण-गुणी का भेद मानकर ज्ञान को सदा भिन्न मानता है, उसका निराकरण है। ऐसे जीव के स्वरूप को भाना कर्म के क्षय के निमित्त होता है, अन्य प्रकार मिथ्याभाव है ॥६२॥

आगे कहते हैं कि जो पुरुष जीव का अस्तित्व मानते हैं, वे *सिद्ध होते हैं –

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ ।

ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥६३॥

येषां जीवस्वभावः नास्ति अभावः च सर्वथा तत्र ।

ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धाः वचोगोचरातीताः ॥६३॥

अर्थ – जिन भव्यजीवों के जीवनामक पदार्थ सद्भावरूप है और सर्वथा अभावरूप नहीं है, वे भव्यजीव देह से भिन्न तथा वचनगोचरातीत सिद्ध होते हैं।

भावार्थ – जीव द्रव्यपर्यायस्वरूप है, कथंचित् अस्तिस्वरूप है, कथंचित् नास्तिस्वरूप है।

* सिद्ध-मुक्त-परमात्मदेशी को प्राप्त।

जो जीव के सद्भाव को स्वीकारते वे जीव ही।

निर्देह निर्वच और निर्मल सिद्धपद को पावते ॥६३॥

पर्याय अनित्य है, इस जीव के कर्म के निमित्त से मनुष्य, तिर्यच, देव और नारक पर्याय होती है, इसका कदाचित् अभाव देखकर जीव का सर्वथा अभाव मानते हैं। उनको सम्बोधन करने के लिए ऐसा कहा है कि जीव का द्रव्यदृष्टि से नित्य स्वभाव है। पर्याय का अभाव होने पर सर्वथा अभाव नहीं मानता है, वह देह से भिन्न होकर सिद्ध परमात्मा होता है, वे सिद्ध वचनगोचर नहीं हैं। जो देह को नष्ट होते देखकर जीव का सर्वथा नाश मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं, वे सिद्ध-परमात्मा कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं होते हैं ॥६३॥

आगे कहते हैं कि जो जीव का स्वरूप वचन के अगोचर है और अनुभवगम्य है, वह इसप्रकार है -

अरसमरूपमगंधं अब्बत्तं चेदणागुणमसदं ।
जाण अलिंगग्रहणं जीवमणिद्धिसंठाणं ॥६४॥
अरसमरूपमगंधं अव्यक्तं चेतनागुणं अशब्दम् ।
जानीहि अलिंगग्रहणं जीवं अनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥६४॥

अर्थ - हे भव्य ! तू जीव का स्वरूप इसप्रकार जान कैसा है ? अरस अर्थात् पाँच प्रकार के खट्टे, मीठे, कडुवे, कषायले और खारे रस से रहित है। काला, पीला, लाल, सफेद और हरा इसप्रकार अरूप अर्थात् पाँच प्रकार के रूप से रहित है। दो प्रकार की गंध से रहित है। अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के गोचर व्यक्त नहीं है। चेतना गुणवाला है, अशब्द अर्थात् शब्दरहित है। अलिंगग्रहण अर्थात् जिसका कोई चिह्न इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में नहीं आता है। अनिर्दिष्ट संस्थान अर्थात् चोकोर-गोल आदि कुछ आकार उसका कहा नहीं जाता है, इसप्रकार जीव जानो।

भावार्थ - रस, रूप, गंध, शब्द ये तो पुद्गल के गुण हैं, इनका निषेधरूप जीव कहा, अव्यक्त अलिंगग्रहण अनिर्दिष्टसंस्थान कहा, इसप्रकार ये भी पुद्गल के स्वभाव की अपेक्षा से निषेधरूप ही जीव कहा और चेतना गुण कहा तो यह जीव का विधिरूप कहा। निषेध अपेक्षा तो वचन के अगोचर जानना और विधि अपेक्षा स्वसंवेदन गोचर जानना। इसप्रकार जीव का स्वरूप जानकर अनुभवगोचर करना। यह गाथा समयसार में ४९, प्रवचनसार में १७२, नियमसार में ४६, १. 'भायेण' पाठान्तर 'भायणो'

चैतन्य गुणमय आत्मा अव्यक्त अरस अरूप है ।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥६४॥
अज्ञान नाशक पंचविध जो ज्ञान उसकी भावना ।
भा भाव से हे आत्मन् ! तो स्वर्ग-शिवसुख प्राप्त हो ॥६५॥

पंचास्तिकाय में १२७, धवला टीका पु. ३ पृ. २, लघु द्रव्य संग्रह गाथा ५ आदि में भी है। इसका व्याख्यान टीकाकारों ने विशेष कहा है वह वहाँ से जानना चाहिए ॥६४॥

आगे जीव का स्वभाव ज्ञानस्वरूप भावना कहा वह ज्ञान कितने प्रकार का भाना यह कहते हैं -

भावहि पंचपयारं गाणं अण्णाणणासणं सिग्घं ।

भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ॥६५॥

भावय पंचप्रकारं ज्ञानं अज्ञाननाशनं शीघ्रम् ।

भावनाभावितसहितः दिवशिवसुखभाजनं भवति ॥६५॥

अर्थ - हे भव्यजन ! तू यह ज्ञान पाँच प्रकार से भा, कैसा है यह ज्ञान ? अज्ञान का नाश करनेवाला है, कैसा होकर भा ? भावना से भावित जो भाव उस सहित भा, शीघ्र भा, इससे तू दिव (स्वर्ग) और शिव (मोक्ष) का पात्र होगा ।

भावार्थ - यद्यपि ज्ञान जानने के स्वभाव से एक प्रकार का है तो भी कर्म के क्षयोपशम और क्षय की अपेक्षा पाँच प्रकार का है। उसमें मिथ्यात्वभाव की अपेक्षा से मति, श्रुत और अवधि ये तीन मिथ्याज्ञान भी कहलाते हैं, इसलिए मिथ्याज्ञान का अभाव करने के लिए मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानस्वरूप पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान जानकर उनको भाना। परमार्थ विचार से ज्ञान एक ही प्रकार का है। यह ज्ञान की भावना स्वर्ग-मोक्ष की दाता है ॥६५॥

आगे कहते हैं कि पढ़ना-सुनना भी भाव बिना कुछ नहीं है -

पढिण वि किं कीरइ किं वा सुणिण भावरहिण ।

भावो कारणभूदो सायारणयारभूदानं ॥६६॥

पठितेनापि किं क्रियते किं वा श्रुतेन भावरहितेन ।

भावः कारणभूतः सागारानगारभूतानाम् ॥६६॥

अर्थ - भावरहित पढ़ने सुनने से क्या होता है ? अर्थात् कुछ भी कार्यकारी नहीं है, इसलिए श्रावकत्व तथा मुनित्व इनका कारणभूत भाव ही है।

श्रमण श्रावकपने का है मूल कारण भाव ही।

क्योंकि पठन अर श्रवण से भी कुछ नहीं हो भावबिन ॥६६॥

द्रव्य से तो नग्न सब नर नारकी तिर्यच हैं।

पर भावशुद्धि के बिना श्रमणत्व को पाते नहीं ॥६७॥

भावार्थ – मोक्षमार्ग में एकदेश, सर्वदेश व्रतों की प्रवृत्तिरूप मुनि-श्रावकपना है, उन दोनों का कारणभूत निश्चय सम्यग्दर्शनादिक भाव हैं। भाव बिना व्रतक्रिया की कथनी कुछ कार्यकारी नहीं है, इसलिए ऐसा उपदेश है कि भाव बिना पढ़ने-सुनने आदि से क्या होता है ? केवल खेदमात्र है, इसलिए भावसहित जो करो वह सफल है। यहाँ ऐसा आशय है कि कोई जाने कि पढ़ना-सुनना ही ज्ञान है तो इसप्रकार नहीं है, पढ़कर सुनकर आपको ज्ञानस्वरूप जानकर अनुभव करे तब भाव जाना जाता है, इसलिए बारबार भावना से भाव लगाने पर ही सिद्धि है ॥६६॥

आगे कहते हैं कि यदि बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो तो नग्न तो सब ही होते हैं -

द्रव्येण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया ।

परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥

द्रव्येण सकला नग्नाः नारकतिर्यच सकलसंघाताः ।

परिणामेन अशुद्धः न भावश्रमणत्वं प्राप्ताः ॥६७॥

अर्थ – द्रव्य से बाह्य में तो सब प्राणी नग्न होते हैं। नारकी जीव और तिर्यच जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं। 'सकलसंघात' कहने से अन्य मनुष्य आदि भी कारण पाकर नग्न होते हैं तो भी परिणामों से अशुद्ध हैं, इसलिए भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए।

भावार्थ – यदि नग्न रहने से ही मुनिलिंग हो तो नारकी तिर्यच आदि सब जीवसमूह नग्न रहते हैं, वे सब ही मुनि ठहरे इसलिए मुनिपना तो भाव शुद्ध होने पर ही होता है। अशुद्ध भाव होने पर द्रव्य से नग्न भी हो तो भावमुनिपना नहीं पाता है ॥६७॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए केवल नग्नपने की निष्फलता दिखाते हैं -

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसागरे भमइ ।

णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥६८॥

नग्नः प्राप्नोति दुःखं नग्नः संसारसागरे भ्रमति ।

नग्नः न लभते बोधिं जिणभावनावर्जितः सुचिरं ॥६८॥

अर्थ – नग्न सदा दुःख पाता है, नग्न सदा संसार समुद्र में भ्रमण करता है और नग्न बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप स्वानुभव को नहीं पाता है, कैसा है वह नग्न जो जिणभावना से

हों नग्न पर दुख सहें अर संसारसागर में रुलें।

जिन भावना बिन नग्नतन भी बोधि को पाते नहीं ॥६८॥

रहित है।

भावार्थ – ‘जिनभावना’ जो सम्यग्दर्शन-भावना उससे रहित जो जीव है, वह नग्न भी रहे तो बोधि जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग को नहीं पाता है। इसीलिए संसारसमुद्र में भ्रमण करता हुआ संसार में ही दुःख को पाता है तथा वर्तमान में भी जो पुरुष नग्न होता है वह दुःख ही को पाता है। सुख तो भाव नग्न हो वे मुनि ही पाते हैं ॥६८॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं जो द्रव्यनग्न होकर मुनि कहलावे उसका अपयश होता है –

अयसाण भायणेय य किं ते णग्गेण पावमलिणेण ।

पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥६९॥

अयशसां भाजनेन न किं ते नग्नेन पापमलितेन ।

पैशून्यहासमत्सरमायाबहुलेन श्रमणेन ॥६९॥

अर्थ – हे मुने ! तेरे ऐसे नग्नपने तथा मुनिपने से क्या साध्य है ? कैसा है – पैशून्य अर्थात् दूसरे का दोष कहने का स्वभाव, हास्य अर्थात् दूसरे की हँसी करना, मत्सर अर्थात् अपने बराबरवाले से ईर्ष्या रखकर दूसरे को नीचा करने की बुद्धि, माया अर्थात् कुटिल परिणाम, ये भाव उसमें प्रचुरता से पाये जाते हैं, इसीलिए पाप से मलिन है और अयश अर्थात् अपकीर्ति का भाजन है।

भावार्थ – पैशून्य आदि पापों से मलिन इसप्रकार नग्नस्वरूप मुनिपने से क्या साध्य है ? उलटा अपकीर्तन का भाजन होकर व्यवहार धर्म की हँसी करानेवाला होता है, इसलिए भावलिंगी होना योग्य है – यह उपदेश है ॥६९॥

आगे इसप्रकार भावलिंगी होने का उपदेश करते हैं –

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भितरभावदोसपरिसुद्धो ।

भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ ॥७०॥

मान मत्सर हास्य ईर्ष्या पापमय परिणाम हों।

तो हे श्रमण तननगन होने से तुझे क्या साध्य है ॥६९॥

हे आत्मन् जिनलिंगधर तू भावशुद्धी पूर्वक।

भावशुद्धि के बिना जिनलिंग भी हो निरर्थक ॥७०॥

प्रकटय जिनवरलिंगं अभ्यन्तरभावदोषपरिशुद्धः ।

भावमलेन च जीवः बाह्यसंगे मलिनयति ॥७०॥

अर्थ – हे आत्मन् ! तू अभ्यन्तर भावदोषों से अत्यन्त शुद्ध ऐसा जिनवरलिंग अर्थात् बाह्य निर्ग्रन्थलिंग प्रकट कर, भावशुद्धि के बिना द्रव्यलिंग बिगड़ जायेगा, क्योंकि भावमलिन जीव बाह्य परिग्रह में मलिन होता है ।

भावार्थ – यदि भाव शुद्ध कर द्रव्यलिंग धारण करे तो भ्रष्ट न हो और भाव मलिन हो तो बाह्य परिग्रह की संगति से द्रव्यलिंग भी बिगाड़े इसलिए प्रधानरूप से भावलिंग ही का उपदेश है, विशुद्ध भावों के बिना बाह्यभेष धारण करना योग्य नहीं है ॥७०॥

आगे कहते हैं कि जो भावरहित नग्न मुनि है, वह हास्य का स्थान है –

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य

१ उ च छु फु ल ल स मा ।

णिप्फलिंगुणयारो णडसवणो णगगुरूवेण ॥७१॥

धर्मे निप्रवासः दोषावासः च इक्षुपुष्पसमः ।

निष्फलनिर्गुणकारः नटश्रमणः नग्नरूपेण ॥७१॥

अर्थ – धर्म अर्थात् अपना स्वभाव तथा दसलक्षणस्वरूप में जिसका वास नहीं है वह जीव दोषों का आवास है अथवा जिसमें दोष रहते हैं, वह इक्षु के फूल के समान है, जिसके न तो कुछ फल ही लगते हैं और न उसमें गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं । इसलिए ऐसा मुनि तो नग्नरूप करके नटश्रमण अर्थात् नाचनेवाले भाँड के स्वांग के समान है ।

भावार्थ – जिसके धर्म की वासना नहीं है, उसमें क्रोधादिक दोष ही रहते हैं । यदि वह दिगम्बर रूप धारण करे तो वह मुनि इक्षु के फूल के समान निर्गुण और निष्फल है, ऐसे मुनि के मोक्षरूप फल नहीं लगते हैं । सम्यग्ज्ञानादिक गुण जिसमें नहीं हैं, वह नग्न होने पर भाँड जैसा

१. 'उच्छु' पाठान्तर 'इच्छु'

सद्धर्म का न वास जह तह दोष का आवास है ।

है निरर्थक निष्फल सभी सद्ज्ञान बिन हे नटश्रमण ॥७१॥

जिनभावना से रहित रागी संग से संयुक्त जो ।

निर्ग्रन्थ हों पर बोधि और समाधि को पाते नहीं ॥७२॥

स्वांग दीखता है। भांड भी नाचे तब शृंगारादिक करके नाचे तो शोभा पावे, नग्न होकर नाचे तब हास्य को पावे, वैसे ही केवल द्रव्यनग्न हास्य का स्थान है ॥७१॥

आगे इसी अर्थ के समर्थनरूप कहते हैं कि द्रव्यलिंगी जैसी बोधि-समाधि जिनमार्ग में कही है वैसी नहीं पाता है -

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिगंगांथा ।

ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥७२॥

ये रागसंयुक्ताः जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रन्थाः ।

न लभंते ते समाधिं बोधिं जिनशासने विमले ॥७२॥

अर्थ - जो मुनि राग अर्थात् अभ्यन्तर परद्रव्य से प्रीति, वही हुआ संग अर्थात् परिग्रह उससे युक्त है और जिनभावना अर्थात् शुद्धस्वरूप की भावना से रहित हैं, वे द्रव्यनिर्ग्रन्थ हैं तो भी निर्मल जिनशासन में जो समाधि अर्थात् धर्मशुक्लध्यान और बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग को नहीं पाते हैं ।

भावार्थ - द्रव्यलिंगी अभ्यन्तर का राग नहीं छोड़ता है, परमात्मा का ध्यान नहीं करता है, तब कैसे मोक्षमार्ग पावे तथा कैसे समाधिमरण पावे? ॥७२॥

आगे कहते हैं कि पहिले मिथ्यात्व आदिक दोष छोड़कर भाव से नग्न हो, पीछे द्रव्यमुनि बने यह मार्ग है -

भावेण होइ णगो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।

पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥७३॥

भावेन भवति नग्नः मिथ्यात्वादीन् च दोषान् त्यक्त्वा ।

पश्चात् द्रव्येण मुनिः प्रकटयति लिंगं जिनाज्ञया ॥७३॥

अर्थ - पहिले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर और भाव से अंतरंग नग्न हो, एकरूप शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान आचरण करे, पीछे मुनि जिन आज्ञा से द्रव्य से बाह्यलिंग प्रकट करे, यह

मिथ्यात्व का परित्याग कर हो नग्न पहले भाव से ।

आज्ञा यही जिनदेव की फिर नग्न होवे द्रव्य से ॥७३॥

हो भाव से अपवर्ग एवं भाव से ही स्वर्ग हो ।

पर मलिनमन अर भाव विरहित श्रमण तो तिर्यच हो ॥७४॥

मार्ग है।

भावार्थ – भाव शुद्ध हुए बिना पहिले ही दिगम्बररूप धारण कर ले तो पीछे भाव बिगड़े तब भ्रष्ट हो जाय और भ्रष्ट होकर भी मुनि कहलाता रहे तो मार्ग की हँसी करावे, इसलिए जिन आज्ञा यही है कि भाव शुद्ध करके बाह्यमुनिपना प्रगट करो ॥७३॥

आगे कहते हैं कि शुद्ध भाव ही स्वर्गमोक्ष का कारण है, मलिनभाव संसार का कारण है –

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो ।

कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥७४॥

भावः अपि दिव्यशिवसौख्यभाजनं भाववर्जितः श्रमणः ।

कर्ममलमलिनचित्तः तिर्यगालयभाजनं पापः ॥७४॥

अर्थ – भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है और भावरहित श्रमण पापस्वरूप है, तिर्यचगति का स्थान है तथा कर्ममल से मलिन चित्तवाला है।

भावार्थ – भाव से शुद्ध है वह तो स्वर्ग-मोक्ष का पात्र है और भाव से मलिन है वह तिर्यचगति में निवास करता है ॥७४॥

आगे फिर भाव के फल का माहात्म्य कहते हैं –

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला ।

चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही सुभावेण ॥७५॥

खचरामरमनुजकरंजलिमालाभिश्च संस्तुता विपुला ।

चक्रधरराजलक्ष्मीः लभ्यते बोधिः सुभावेन ॥७५॥

अर्थ – सुभाव अर्थात् भले भाव से मंदकषायरूप विशुद्धभाव से चक्रवर्ती आदि राजाओं की विपुल अर्थात् बड़ी लक्ष्मी पाता है। कैसी है – खचर (विद्याधर), अमर (देव) और मनुज (मनुष्य) इसकी अंजुलिमाला (हाथों की अंजुलि) की पंक्ति से संस्तुत (नमस्कारपूर्वक स्तुति करने योग्य) है और यह केवल लक्ष्मी ही नहीं पाता है, किन्तु बोधि (रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग) भी

सुभाव से ही प्राप्त करते बोधि अर चक्रेश पद।

नर अमर विद्याधर नमें जिनको सदा कर जोड़कर ॥७५॥

शुभ अशुभ एवं शुद्ध इसविधि भाव तीन प्रकार के।

रौद्रार्त तो हैं अशुभ किन्तु शुभ धरममय ध्यान है ॥७६॥

पाता है।

भावार्थ – विशुद्ध भावों का यह माहात्म्य है ॥७५॥

आगे भावों के भेद कहते हैं –

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।

असुहं च अट्टरउदं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥

भावः त्रिविधप्रकारः शुभोऽशुभः शुद्धः एव ज्ञातव्यः।

अशुभश्च आर्त्तरौद्र शुभः धर्म्यं जिनवरेन्द्रैः ॥७६॥

अर्थ – जिनवरदेव ने भाव तीन प्रकार का कहा है – १. शुभ, २. अशुभ और ३. शुद्ध। आर्त्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्मध्यान शुभ है ॥७६॥

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।

इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥७७॥

शुद्धः शुद्धस्वभावः आत्मा आत्मनि सः च ज्ञातव्यः।

इति जिनवरैः भणितं यः श्रेयान् तं समाचर ॥७७॥

अर्थ – शुद्ध है वह अपना शुद्धस्वभाव अपने ही में है इसप्रकार जिनवरदेव ने कहा है वह जानकर इनमें जो कल्याणरूप हो उसको अंगीकार करो।

भावार्थ – भगवान ने भाव तीन प्रकार के कहे हैं – १. शुभ, २. अशुभ और ३. शुद्ध। अशुभ तो आर्त्त व रौद्र ध्यान हैं वे तो अति मलिन हैं, त्याज्य ही हैं। धर्मध्यान शुभ है इसलिये यह कथंचित् उपादेय है इससे मंदकषायरूप विशुद्ध भाव की प्राप्ति है। शुद्ध भाव है वह सर्वथा उपादेय है, क्योंकि यह आत्मा का स्वरूप ही है। इसप्रकार हेय, उपादेय जानकर त्याग और ग्रहण करना चाहिए, इसीलिए ऐसा कहा है कि जो कल्याणकारी हो वह अंगीकार करना – यह जिनदेव का उपदेश है ॥७७॥

आगे कहते हैं कि जिनशासन का इसप्रकार माहात्म्य है –

निज आत्मा का आत्मा में रमण शुद्धस्वभाव है।

जो श्रेष्ठ है वह आचरो जिनदेव का आदेश यह ॥७७॥

गल गये जिसके मान मिथ्या मोह वह समचित्त ही।

त्रिभुवन में सार ऐसे रत्नत्रय को प्राप्त हो ॥७८॥

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो ।

पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥७८॥

प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तः ।

आप्नोति त्रिभुवनसारं बोधिं जिनशासने जीवः ॥७८॥

अर्थ – यह जीव ‘प्रगलितमानकषायः’ अर्थात् जिसका मान कषाय प्रकर्षता से गल गया है, किसी परद्रव्य से अहंकाररूप गर्व नहीं करता है और जिसके मिथ्यात्व का उदयरूप मोह भी नष्ट हो गया है इसीलिए ‘समचित्त’ है, परद्रव्य में ममकाररूप मिथ्यात्व और इष्ट-अनिष्ट बुद्धिरूप रागद्वेष जिसके नहीं है, वह जिनशासन में तीन भुवन में सार ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को पाता है ।

भावार्थ – मिथ्यात्वभाव और कषायभाव का स्वरूप अन्य मतों में यथार्थ नहीं है । यह कथन इस वीतरागरूप जिनमत में ही है, इसलिए यह जीव मिथ्यात्व कषाय के अभावरूप तीनलोक में सार मोक्षमार्ग जिनमत के सेवन ही से पाता है, अन्यत्र नहीं है ।

आगे कहते हैं कि जिनशासन में ऐसा मुनि ही तीर्थकर प्रकृति बाँधता है –

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण ।

तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥७९॥

विसयविरक्तः श्रमणः षोडशवरकारणानि भावयित्वा ।

तीर्थकरनामकर्म बध्नाति अचिरेण कालेन ॥७९॥

अर्थ – जिसका चित्त इन्द्रियों के विषयों से विरक्त है ऐसा श्रमण अर्थात् मुनि है वह सोलहकारण भावना को भाकर ‘तीर्थकर’ नाम प्रकृति को थोड़े ही समय में बाँध लेता है ।

भावार्थ – यह भाव का माहात्म्य है (सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वज्ञान सहित – स्वसन्मुखता सहित) विषयों से विरक्त भाव होकर सोलहकारण भावना भावे तो, अचिंत्य है महिमा जिसकी ऐसी तीनलोक से पूज्य ‘तीर्थकर’ नाम प्रकृति को बाँधता है और उसको भोगकर मोक्ष को प्राप्त होता है ।

जो श्रमण विषयों से विरत वे सोलहकारणभावना ।

भा तीर्थकर नामक प्रकृति को बाँधते अतिशीघ्र ही ॥७९॥

तेरह क्रिया तप वार विध भा विविध मनवचकाय से ।

हे मुनिप्रवर ! मन मत्त गज वश करो अंकुश ज्ञान से ॥८०॥

ये सोलहकारण भावना के नाम हैं - १. दर्शनविशुद्धि, २. विनयसंपन्नता, ३. शीलव्रतेष्व-
नतिचार, ४. अभीक्षणज्ञानोपयोग, ५. संवेग, ६. शक्तितस्त्याग, ७. शक्तितस्तप, ८. साधुसमाधि,
९. वैयावृत्यकरण, १०. अर्हद्भक्ति, ११. आचार्यभक्ति, १२. बहुश्रुतभक्ति, १३. प्रवचनभक्ति,
१४. आवश्यकपरिहाणि, १५. सन्मार्गप्रभावना, १६. प्रवचनवात्सल्य - इसप्रकार सोलह भावना
हैं। इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानिये। इनमें सम्यग्दर्शन प्रधान है, यह न हो और
पन्द्रह भावना का व्यवहार हो तो कार्यकारी नहीं है और यह हो तो पन्द्रह भावना का कार्य यही
करले, इसप्रकार जानना चाहिए ॥७९॥

आगे भाव की विशुद्धता निमित्त आचरण कहते हैं -

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण ।

धरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर ॥८०॥

द्वादशविधतपश्चरणं त्रयोदश क्रियाः भावय त्रिविधेन ।

धर मनोमत्तदुरितं ज्ञानांकुशेन मुनिप्रवर! ॥८०॥

अर्थ - हे मुनिप्रवर ! मुनियों में श्रेष्ठ ! तू बारह प्रकार के तप का आचरण कर और तेरह
प्रकार की क्रिया मन-वचन-काय से भा और ज्ञानरूप अंकुश से मनरूप मतवाले हाथी को
अपने वश में रख ।

भावार्थ - यह मनरूप हाथी बहुत मदोन्मत्त है, वह तपश्चरण क्रियादिकसहित ज्ञानरूप
अंकुश ही से वश में होता है, इसलिए यह उपदेश है, अन्य प्रकार से वश में नहीं होता है। ये बारह
तपों के नाम हैं - १. अनशन, २. अवमौदर्य, ३. वृत्तिपरिसंख्यान, ४. रसपरित्याग, ५. विविक्त-
शय्यासन और ६. कायक्लेश - ये तो छह प्रकार के बाह्य तप हैं और १. प्रायश्चित्त, २. विनय,
३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग, ६. ध्यान ये छह प्रकार के अभ्यंतर तप हैं, इनका
स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना चाहिए। तेरह क्रिया इसप्रकार है - पंच परमेष्ठी को
नमस्कार ये पाँच क्रिया, छह आवश्यक क्रिया, ^१निषिधिकाक्रिया और ^२असिकाक्रिया। इसप्रकार

१. निषिधिका - जिनमंदिरादि में प्रवेश करते ही गृहस्थ या व्यंतरादि देव कोई उपस्थित है ऐसा मानकर आज्ञार्थ 'निःसही' शब्द
तीन बार बोलने में आता है अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर रहना 'निःसही' है।

२. धर्मस्थान से बाहर निकलते समय विनयसह विदायकी आज्ञा माँगने के अर्थ में 'आसिका' शब्द बोले अथवा पाप क्रिया से
मन-मोड़ना 'आसिका' है।

वस्त्र विरहित क्षिति शयन भिक्षा असन संयम सहित ।

जिन लिंग निर्मल भाव भावित भावना परिशुद्ध है ॥८१॥

भाव शुद्ध होने के कारण कहे ॥८०॥

आगे द्रव्य-भावरूप सामान्यरूप से जिनलिंग का स्वरूप कहते हैं -

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू ।

भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥८१॥

पंचविधचेलत्यागं क्षितिशयनं द्विविधसंयमं भिक्षु ।

भावं भावयित्वा पूर्वं जिनलिंगं निर्मलं शुद्धम् ॥८१॥

अर्थ - निर्मल शुद्ध जिनलिंग इसप्रकार है जहाँ पाँचप्रकार के वस्त्र का त्याग है, भूमि पर शयन है, दो प्रकार का संयम है, भिक्षा भोजन है, भावितपूर्व अर्थात् पहिले शुद्ध आत्मा का स्वरूप परद्रव्य से भिन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी हुआ, उसे बारंबार भावना से अनुभव किया इसप्रकार जिसमें भाव है, ऐसा निर्मल अर्थात् बाह्यमलरहित शुद्ध अर्थात् अन्तर्मलरहित जिनलिंग है ।

भावार्थ - यहाँ लिंग द्रव्य-भाव से दो प्रकार का है । द्रव्य तो बाह्य त्याग अपेक्षा है, जिसमें पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग है, वे पाँच प्रकार ऐसे हैं - १. अंडज अर्थात् रेशम से बना, २. बोंडुज अर्थात् कपास से बना, ३. रोमज अर्थात् ऊन से बना, ४. वल्कलज अर्थात् वृक्ष की छाल से बना, ५. चर्मज अर्थात् मृग आदिक के चर्म से बना, इसप्रकार पाँच प्रकार कहे । इसप्रकार नहीं जानना कि इनके सिवाय और वस्त्र ग्राह्य हैं, ये तो उपलक्षणमात्र कहे हैं, इसलिए सब ही वस्त्रमात्र का त्याग जानना ।

भूमि पर सोना, बैठना इसमें काष्ठ तृण भी गिन लेना । इन्द्रिय और मन को वश में करना, छह काय के जीवों की रक्षा करना इसप्रकार दो प्रकार का संयम है । भिक्षा भोजन करना जिसमें कृत, कारित, अनुमोदना का दोष न लगे - छियालीस दोष टले - बत्तीस अंतराय टले ऐसी विधि के अनुसार आहार करे । इसप्रकार तो बाह्यलिंग है और पहिले कहा वैसे ही वह 'भावलिंग' है,

इसप्रकार तो बाह्यलिंग है और पहिले कहा वैसे हो वह 'भावलिंग' है, इसप्रकार दो प्रकार का शुद्ध जिनलिंग कहा है, अन्य प्रकार श्वेताम्बरादिक कहते हैं, वह जिनलिंग नहीं है ॥८१॥

आगे जिनधर्म की महिमा कहते हैं -

ज्यों श्रेष्ठ चंदन वृक्ष में हीरा रतन में श्रेष्ठ है ।

त्यों धर्म में भवभाविनाशक एक ही जिनधर्म है ॥८२॥

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं ।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं ॥८२॥

यथा रत्नानां प्रवरं वज्जं यथा तरुगणानां गोशीरम् ।
तथा धर्माणां प्रवरं जिनधर्मं भाविभवमथनम् ॥८२॥

अर्थ – जैसे रत्नों में प्रवर (श्रेष्ठ) उत्तम वज्र (हीरा) है और जैसे तरुगण (बड़े वृक्ष) में उत्तम गोसीर (बावन चन्दन) है, वैसे ही धर्मों में उत्तम भाविभवमथन (आगामी संसार का मंथन करनेवाला) जिनधर्म है, इससे मोक्ष होता है ।

भावार्थ – ‘धर्म’ ऐसा सामान्य नाम तो लोक में प्रसिद्ध है और लोक अनेक प्रकार से क्रियाकांडादिक को धर्म जानकर सेवन करता है, परन्तु परीक्षा करने पर मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला जिनधर्म ही है, अन्य सब संसार के कारण हैं । वे क्रियाकांडादिक संसार ही में रखते हैं, कदाचित् संसार के भोगों की प्राप्ति कराते हैं, तो भी फिर भोगों में लीन होता है तब एकेन्द्रियादि पर्याय पाता है तथा नरक को पाता है । ऐसे अन्य धर्म नाममात्र हैं, इसलिए उत्तम जिनधर्म ही जानना ॥८२॥

आगे शिष्य पूछता है कि जिनधर्म को उत्तम कहा तो धर्म का क्या स्वरूप है ? उसका स्वरूप कहते हैं कि ‘धर्म’ इसप्रकार है -

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे
भ ि ण य ं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥
पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम् ।
मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः ॥८३॥

अर्थ – जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इसप्रकार कहा है कि पूजा आदिक में और व्रतसहित होना है वह तो ‘पुण्य’ ही है तथा मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम वह ‘धर्म’ है ।

भावार्थ – लौकिक जन तथा अन्यमती कई कहते हैं कि पूजा आदिक शुभक्रियाओं में और व्रतक्रियासहित है वह जिनधर्म है, परन्तु ऐसा नहीं है । जिनमत में जिन भगवान ने इसप्रकार कहा

व्रत सहित पूजा आदि सब जिनधर्म में सत्कर्म हैं ।
दृगमोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम आत्मधर्म है ॥८३॥

है कि पूजादिक में और व्रतसहित होना है वह तो 'पुण्य' है, इसमें पूजा और आदि शब्द से भक्ति, वंदना, वैयावृत्य आदिक समझना, यह तो देव-गुरु-शास्त्र के लिए होता है और उपवास आदिक व्रत है वह शुभक्रिया है, इनमें आत्मा का रागसहित शुभपरिणाम है उससे पुण्यकर्म होता है इसलिए इनको पुण्य कहते हैं। इसका फल स्वर्गादिक भोगों की प्राप्ति है।

मोह के क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म समझिये। मिथ्यात्व तो अतत्त्वार्थश्रद्धान है, क्रोध-मान-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा ये छह द्वेषप्रकृति हैं और माया, लोभ, हास्य, रति ये चार तथा पुरुष, स्त्री, नपुंसक ये तीन विकार, ऐसे सात प्रकृति रागरूप हैं। इनके निमित्त से आत्मा का ज्ञान-दर्शनस्वभाव विकारसहित, क्षोभरूप, चलाचल, व्याकुल होता है इसलिए इन विकारों से रहित हो तब शुद्धदर्शनज्ञानरूप निश्चय हो वह आत्मा का 'धर्म' है। इस धर्म से आत्मा के आगामी कर्म का आस्रव रुककर संवर होता है और पहिले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। संपूर्ण निर्जरा हो जाय तब मोक्ष होता है तथा एकदेश मोह के क्षोभ की हानि होती है, इसलिए शुभपरिणाम को भी उपचार से धर्म कहते हैं और जो केवल शुभपरिणाम ही को धर्म मानकर संतुष्ट है उनको धर्म की प्राप्ति नहीं है, यह जिनमत का उपदेश है ॥८३॥

आगे कहते हैं कि जो 'पुण्य' ही को 'धर्म' जानकर श्रद्धान करता है उसके केवल भोग का निमित्त है, कर्मक्षय का निमित्त नहीं है -

सदहृदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि ।

पुण्यं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥८४॥

श्रद्धाति च प्रत्येति न रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति ।

पुण्यं भोगनिमित्तं न हि तत् कर्मक्षयनिमित्तम् ॥८४॥

अर्थ - जो पुरुष पुण्य को धर्म जानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीति करते हैं, रुचि करते हैं और स्पर्श करते हैं उनके 'पुण्य' भोग का निमित्त है। इससे स्वर्गादिक भोग पाता है और वह पुण्य कर्म के क्षय का निमित्त नहीं होता है, यह प्रगट जानना चाहिए।

भावार्थ - शुभक्रियारूप पुण्य को धर्म जानकर इसका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करता है,

अर पुण्य भी है धर्म - ऐसा जान जो श्रद्धा करें।

वे भोग की प्राप्ति करें पर कर्म क्षय न कर सकें ॥८४॥

रागादि विरहित आतमा रत आतमा ही धर्म है।

भव तरण-तारण धर्म यह जिनवर कथन का मर्म है ॥८५॥

उसके पुण्यकर्म का बंध होता है, उससे स्वर्गादिक के भोगों की प्राप्ति होती है और उससे कर्म का क्षयरूप संवर-निर्जरा-मोक्ष नहीं होता है ॥८४॥

आगे कहते हैं कि जो आत्मा का स्वभावरूप धर्म है, वह ही मोक्ष का कारण है - ऐसा नियम है -

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो ।

संसारतरणहेदू धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्धिट्ठं ॥८५॥

आत्मा आत्मनि रतः रागादिषु सकलदोषपरित्यक्तः ।

संसारतरणहेतुः धर्म इति जिनैः निर्दिष्टम् ॥८५॥

अर्थ - यदि आत्मा रागादिक समस्त दोष से रहित होकर आत्मा ही में रत हो जाय तो ऐसे धर्म को जिनेश्वरदेव ने संसारसमुद्र से तिरने का कारण कहा है ।

भावार्थ - जो पहिले कहा था कि मोह के क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम है सो धर्म है, सो ऐसा धर्म ही संसार से पारकर मोक्ष का कारण भगवान् ने कहा है, यह नियम है ॥८५॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं कि जो आत्मा के लिए इष्ट नहीं करता है और समस्त पुण्य का आचरण करता है तो भी सिद्धि को नहीं पाता है -

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि

णि र व स े स ा इ ं ।

तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणितो ॥८६॥

अथपुनः आत्मानं नेच्छति पुण्यानि करोति निरवशेषानि ।

तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥८६॥

अर्थ - अथवा जो पुरुष आत्मा का इष्ट नहीं करता है, उसका स्वरूप नहीं जानता है, अंगीकार नहीं करता है और सब प्रकार के समस्त पुण्य को करता है, तो भी सिद्धि (मोक्ष) को

जो नहीं चाहे आत्मा अर पुण्य ही करता रहे ।

वह मुक्ति को पाता नहीं संसार में रुलता रहे ॥८६॥

इसलिए पूरी शक्ति से निज आत्मा को जानकर ।

श्रद्धा करो उसमें रमो नित मुक्तिपद पा जाओगे ॥८७॥

नहीं पाता है, किन्तु वह पुरुष संसार ही में भ्रमण करता है।

भावार्थ – आत्मिक धर्म धारण किये बिना सब प्रकार के पुण्य का आचरण करे तो भी मोक्ष नहीं होता है, संसार ही में रहता है। कदाचित् स्वर्गादिक भोग पावे तो वहाँ भोगों में आसक्त होकर रहे, वहाँ से चय एकेन्द्रियादिक होकर संसार ही में भ्रमण करता है।

आगे इस कारण से आत्मा ही का श्रद्धान करो, प्रयत्नपूर्वक जानो, मोक्ष प्राप्त करो ऐसा उपदेश करते हैं –

एण कारणेण य तं अप्पा सद्वहेह तिविहेण ।

जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥८७॥

एतेन कारणेण च तं आत्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन ।

येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥८७॥

अर्थ – पहिले कहा था कि आत्मा का धर्म तो मोक्ष है, उसी कारण से कहते हैं कि हे भव्यजीवों ! तुम उस आत्मा को प्रयत्नपूर्वक सबप्रकार के उद्यम करके यथार्थ जानो, उस आत्मा का श्रद्धान करो, प्रतीति करो, आचरण करो, मन-वचन-काय से ऐसे करो जिससे मोक्ष पावो।

भावार्थ – जिसको जानने और श्रद्धान करने से मोक्ष हो उसी को जानना और श्रद्धान करना मोक्षप्राप्ति कराता है, इसलिए आत्मा को जानने का कार्य सब प्रकार के उद्यमपूर्वक करना चाहिए इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए भव्यजीवों को यही उपदेश है ॥८७॥

आगे कहते हैं कि बाह्य हिंसादिक क्रिया के बिना ही अशुद्ध भाव से तंदुलमत्स्यतुल्य जीव भी सातवें नरक को गया, तब अन्य बड़े जीवों की क्या कथा ?

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं ।

इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥८८॥

मत्स्यः अपि शालिसिक्थः अशुद्धभावः गतः महानरकम् ।

इति ज्ञात्वा आत्मानं भावय जिनभावनां नित्यम् ॥८८॥

अर्थ – हे भव्यजीव ! तू देख शालिसिक्थ (तन्दुल नाम का मत्स्य) वह भी अशुद्धभावस्वरूप होता हुआ महानरक (सातवें नरक) में गया, इसलिए तुझे उपदेश देते हैं कि अपनी आत्मा को

सप्तम नरक में गया तन्दुल मत्स्य हिंसक भाव से।

यह जानकर हे आत्मन् ! नित करो आत्मभावना ॥८८॥

जानने के लिए निरंतर जिनभावना कर ।

भावार्थ – अशुद्धभाव के माहात्म्य से तन्दुल मत्स्य जैसा अल्पजीव भी सातवें नरक को गया तो अन्य बड़े जीव क्यों न नरक जावें, इसलिए भाव शुद्ध करने का उपदेश है । भाव शुद्ध होने पर अपने और दूसरे के स्वरूप का जानना होता है । अपने और दूसरे के स्वरूप का ज्ञान जिनदेव की आज्ञा की भावना निरन्तर भाने से होता है, इसलिए जिनदेव की आज्ञा की भावना निरन्तर करना योग्य है ।

तन्दुल मत्स्य की कथा ऐसे है – काकन्दीपुरी का राजा सूरसेन था । वह मांसभक्षी हो गया । अत्यन्त लोलुपी, निरन्तर मांस भक्षण का अभिप्राय रखता था । उसके ‘पितृप्रिय’ नाम का रसोईदार था । वह अनेक जीवों का मांस निरन्तर भक्षण कराता था । उसको सर्प डस गया सो मरकर स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य हो गया । राजा सूरसेन भी मरकर वहाँ ही उसी महामत्स्य के कान में तंदुल मत्स्य हो गया ।

वहाँ महामत्स्य के मुख में अनेक जीव आवें और बाहर निकल जावें, तब तंदुल मत्स्य उनको देखकर विचार करे कि यह महामत्स्य अभागा है जो मुँह में आये हुए जीवों को खाता नहीं है । यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता तो इस समुद्र के सब जीवों को खा जाता । ऐसे भावों के पाप से जीवों को खाये बिना ही सातवें नरक में गया और महामत्स्य तो खानेवाला था सो वह तो नरक में जाय ही जाय ।

इसलिए अशुद्धभावसहित बाह्य पाप करना तो नरक का कारण है ही, परन्तु बाह्य हिंसादिक पाप के किये बिना केवल अशुद्धभाव भी उसी के समान है, इसलिए भावों में अशुभ ध्यान छोड़कर शुभ ध्यान करना योग्य है । यहाँ ऐसा भी जानना जो पहिले राज पाया था सो पहिले पुण्य किया था उसका फल था, पीछे कुभाव हुए तब नरक गया इसलिए आत्मज्ञान के बिना केवल पुण्य ही मोक्ष का साधन नहीं है ॥८८॥

आगे कहते हैं कि भावरहित के बाह्य परिग्रह का त्यागादिक सब निष्प्रयोजन है –

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।

आतमा की भावना बिन गिरि-गुफा आवास सब ।

अर ज्ञान अध्ययन आदि सब करनी निरर्थक जानिये ॥८९॥

इन लोकरंजक बाह्यव्रत से अरे कुछ होगा नहीं ।

इसलिए पूर्ण प्रयत्न से मन इन्द्रियों को वश करो ॥९०॥

सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥८९॥

बाह्यसंगत्यागः गिरिसरिद्वरीकंदरादौ आवासः ।

सकलं ज्ञानाध्ययनं निरर्थकं भावरहितानाम् ॥८९॥

अर्थ – जो पुरुष भाव रहित हैं, शुद्ध आत्मा की भावना से रहित हैं और बाह्य आचरण से संतुष्ट हैं, उनके बाह्य परिग्रह का त्याग है, वह निरर्थक है। गिरि (पर्वत) दरी (पर्वत की गुफा) सरित् (नदी के पास) कंदर (पर्वत के जल से चीरा हुआ स्थान) इत्यादि स्थानों में आवास (रहना) निरर्थक है। ध्यान करना, आसन द्वारा मन को रोकना, अध्ययन (पढ़ना) ये सब निरर्थक हैं।

भावार्थ – बाह्य क्रिया का फल आत्मज्ञान सहित हो तो सफल हो, अन्यथा सब निरर्थक है। पुण्य का फल हो तो भी संसार का ही कारण है, मोक्षफल नहीं है ॥८९॥

आगे उपदेश करते हैं कि भावशुद्धि के लिए इन्द्रियादिक को वश करो, भावशुद्धि के बिना बाह्यभेष का आडम्बर मत करो -

भंजसु इन्द्रियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण ।

मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥९०॥

भंग्धि इन्द्रियसेनां भंग्धि मनोमर्कटं प्रयत्नेन ।

मा जनरंजनकरणं बहिरव्रतवेष ! त्वं कार्षीः ॥९०॥

अर्थ – हे मुने ! तू इन्द्रियों की सेना का भंजन कर, विषयों में मत रम, मनरूप बंदर को प्रयत्नपूर्वक बड़ा उद्यम करके भंजन कर, वशीभूत कर और बाह्यव्रत का भेष लोक को रंजन करनेवाला मत धारण करे।

भावार्थ – बाह्य मुनि का भेष लोक का रंजन करनेवाला है, इसलिए यह उपदेश है, लोकरंजन से कुछ परमार्थ सिद्धि नहीं है, इसलिए इन्द्रिय और मन को वश में करने के लिए बाह्य यत्न करे तो श्रेष्ठ है। इन्द्रिय और मन को वश में किये बिना केवल लोकरंजन मात्र भेष धारण करने से कुछ परमार्थ सिद्धि नहीं है ॥९०॥

मिथ्यात्व अर नोकषायों को तजो शुद्ध स्वभाव से ।

देव प्रवचन गुरु की भक्ति करो आदेश यह ॥९१॥

तीर्थकरों ने कहा गणधरदेव ने गूँथा जिसे ।

शुद्धभाव से भावो निरन्तर उस अतुल श्रुतज्ञान को ॥९२॥

आगे फिर उपदेश कहते हैं -

णवणोकसायवगं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए ।
चेइयपवयणगुरुणं करेहि भक्तिं जिणाणाए ॥११॥
नवनोकषायवर्गं मिथ्यात्वं त्यज भावशुद्धया ।
चैत्यप्रवचनगुरूणां कुरु भक्तिं जिनाज्ञया ॥११॥

अर्थ - हे मुने ! तू नव जो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये नो कषायवर्ग तथा मिथ्यात्व इनको भावशुद्धि द्वारा छोड़ और जिन-आज्ञा से चैत्य, प्रवचन, गुरु इनकी भक्ति कर ॥११॥

आगे फिर कहते हैं -

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥१२॥
तीर्थकरभाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितं सम्यक् ।
भावय अनुदिनं अतुलं विशुद्धभावेन श्रुतज्ञानम् ॥१२॥

अर्थ - हे मुने ! तू जिस श्रुतज्ञान को तीर्थकर भगवान् ने कहा और गणधर देवों ने गूँथा अर्थात् शास्त्ररूप रचना की, उसको सम्यक् प्रकार भाव शुद्ध कर निरन्तर भावना कर । कैसा है वह श्रुतज्ञान? अतुल है; इसके बराबर अन्य मत का कहा हुआ श्रुतज्ञान नहीं है ॥१२॥

ऐसा करने से क्या होता है ? सो कहते हैं -

१पीऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का ।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥१३॥
१पीत्वा ज्ञानसलिलं निर्मथ्यतृषादाहशोषोन्मुक्ता ।
भवंति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥१३॥

१. पाठान्तरः - पाउण, २. पाठान्तरः - प्राप्य

श्रुतज्ञानजल के पान से ही शान्त हो भवदुखतृषा ।
त्रैलोक्यचूडामणी शिवपद प्राप्त हो आनन्दमय ॥१३॥
जिनवरकथित बाईस परीषह सहो नित समचित्त हो ।
बचो संयमघात से हे मुनि ! नित अप्रमत्त हो ॥१४॥

अर्थ – पूर्वोक्त प्रकार भाव शुद्ध करने पर ज्ञानरूप जल को पीकर सिद्ध होते हैं। कैसे हैं सिद्ध। निर्मथ्य अर्थात् मथा न जावे ऐसे तृषा दाह शोष से रहित हैं, इसप्रकार सिद्ध होते हैं, ज्ञानरूप जल पीने का यह फल है। सिद्धशिवालय अर्थात् मुक्तिरूप महल में रहनेवाले हैं, लोक के शिखर पर जिनका वास है। इसीलिए कैसे हैं ? तीन भुवन के चूड़ामणि हैं, मुकुटमणि हैं तथा तीन भुवन में ऐसा सुख नहीं है, ऐसे परमानन्द अविनाशी सुख को वे भोगते हैं। इसप्रकार वे तीन भुवन के मुकुटमणि हैं।

भावार्थ – शुद्ध भाव करके ज्ञानरूप जल पीने पर तृष्णा दाह शोष मिट जाता है, इसलिए ऐसे कहा है कि परमानन्दरूप सिद्ध होते हैं ॥९३॥

आगे भावशुद्धि के लिए फिर उपदेश करते हैं -

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल
 क १ ए ण ।
 सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमोत्तूण ॥९४॥
 दश दश द्वौ सुपरीषहान् सहस्व मुने ! सकलकालं कायेन ।
 सूत्रेण अप्रमत्तः संयमघातं प्रमुच्य ॥९४॥

अर्थ – हे मुने ! तू दस-दस-दो अर्थात् बाईस जो सुपरीषह अर्थात् अतिशय कर सहने योग्य को सूत्रेण अर्थात् जैसे जिनवचन में कहे हैं, उसी रीति से निःप्रमादी होकर संयम का घात दूर कर और तेरे काय से सदा काल निरंतर सहन कर।

भावार्थ – जैसे संयम न बिगड़े और प्रमाद का निवारण हो वैसे निरन्तर मुनि क्षुधा, तृषा आदिक बाईस परीषह सहन करे। इनको सहन करने का प्रयोजन सूत्र में ऐसा कहा है कि इनके सहन करने से कर्म की निर्जरा होती है और संयम के मार्ग से छूटना नहीं होता है, परिणाम वृद्ध होते हैं ॥९४॥

१. 'मुदण्ण' पाठान्तर 'मुदकेण'।

जल में रहे चिरकाल पर पत्थर कभी भिदता नहीं।
 त्यों परीषह उपसर्ग से साधु कभी भिदता नहीं ॥९५॥
 भावना द्वादश तथा पच्चीस व्रत की भावना।
 भावना बिन मात्र कोरे वेष से क्या लाभ है ॥९६॥

आगे कहते हैं कि जो परीषह सहने में दृढ़ होता है तो उपसर्ग आने पर भी दृढ़ रहता है, च्युत नहीं होता, उसका दृष्टान्त कहते हैं -

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्टिओ दीहकालमुदणं ।

तह साहू वि ण भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥१५॥

यथा प्रस्तरः न भिद्यते परिस्थितः दीर्घकालमुदकेन ।

तथा साधुरपि न भिद्यते उपसर्गपरीषहेभ्यः ॥१५॥

अर्थ - जैसे पाषाण जल में बहुत काल तक रहने पर भी भेद को प्राप्त नहीं होता है वैसे ही साधु उपसर्ग परीषहों से नहीं भिदता है ।

भावार्थ - पाषाण ऐसा कठोर होता है कि यदि वह जल में बहुत समय तक रहे तो भी उसमें जल प्रवेश नहीं करता है, वैसे ही साधु के परिणाम भी ऐसे दृढ़ होते हैं कि उपसर्ग परीषह आने पर भी संयम के परिणाम से च्युत नहीं होता है और पहिले कहा जो संयम का घात जैसे न हो, वैसे परीषह सहे । यदि कदाचित् संयम का घात होता जाने तो जैसे घात न हो वैसे करे ॥१५॥

आगे परीषह आने पर भाव शुद्ध रहे ऐसा उपाय कहते हैं -

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि ।

भावरहिण्ण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥१६॥

भावय अनुप्रेक्षाः अपराः पंचविंशतिभावनाः भावय ।

भावरहितेन किं पुनः बाह्यलिंगेन कर्तव्यम् ॥१६॥

अर्थ - हे मुने ! तू अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा हैं उनकी भावना कर और अपर अर्थात् पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावना कही है उनकी भावना कर, भावरहित जो बाह्यलिंग है उससे क्या कर्तव्य है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

भावार्थ - कष्ट आने पर बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना योग्य है । इनके नाम ये हैं - १. अनित्य, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचित्व, ७. आस्रव,

है सर्वविरती तथापि तत्त्वार्थ की भा भावना ।

गुणथान जीवसमास की भी तू सदा भा भावना ॥१७॥

भयंकर भव-वन विषैँ भ्रमता रहा आशक्त हो ।

बस इसलिए नवकोटि से ब्रह्मचर्य को धारण करो ॥१८॥

८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. बोधिदुर्लभ, १२. धर्म, इनका और पच्चीस भावनाओं का भाना बड़ा उपाय है। इनका बारम्बार चिन्तन करने से कष्ट में परिणाम बिगड़ते नहीं हैं, इसलिए यह उपदेश है ॥१६॥

आगे फिर भाव शुद्ध रखने को ज्ञान का अभ्यास करते हैं -

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं ।

जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥१७॥

सर्वं विरतः अपि भावय नव पदार्थान् सप्त तत्त्वानि ।

जीवसमासान् मुने ! चतुर्दशगुणस्थाननामानि ॥१७॥

अर्थ - हे मुने ! तू सब परिग्रहादिक से विरक्त हो गया है, महाव्रत सहित है तो भी भाव विशुद्धि के लिए नव पदार्थ, सप्त तत्त्व, चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान, इनके नाम लक्षण भेद इत्यादिकों की भावना कर ।

भावार्थ - पदार्थों के स्वरूप का चिन्तन करना भावशुद्धि का बड़ा उपाय है इसलिए यह उपदेश है। इनका नाम स्वरूप अन्य ग्रंथों से जानना ॥१७॥

आगे भावशुद्धि के लिए अन्य उपाय कहते हैं -

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण ।

मेहुणसण्णासत्तो भमिओ सि भवण्णवे भीमे ॥१८॥

नवविधब्रह्मचर्यं प्रकटय अब्रह्म दशविधं प्रमुच्य ।

मैथुनसंज्ञासक्तः भ्रमितोऽसि भवार्णवे भीमे ॥१८॥

अर्थ - हे जीव ! तू पहिले दस प्रकार के अब्रह्म हैं उसको छोड़कर नव प्रकार के ब्रह्मचर्य हैं उसको प्रगट कर, भावों में प्रत्यक्ष कर। यह उपदेश इसलिए दिया है कि तू मैथुनसंज्ञा जो कामसेवन की अभिलाषा उसमें आसक्त होकर अशुद्ध भावों से इस भीम (भयानक) संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करता रहा ।

भावार्थ - यह प्राणी मैथुन संज्ञा में आसक्त होकर गृहस्थपना आदिक अनेक उपायों से स्त्रीसेवनादिक अशुद्धभावों से अशुभ कार्यों में प्रवर्तता है, उससे इस भयानक संसारसमुद्र में

भाववाले साधु साधे चतुर्विध आराधना ।

पर भाव विरहित भटकते चिरकाल तक संसार में ॥१९॥

भ्रमण करता है; इसलिए यह उपदेश है कि दस प्रकार के अब्रह्म को छोड़कर नव प्रकार के ब्रह्मचर्य को अंगीकार करो।

दस प्रकार के अब्रह्म ये हैं। १. पहिले तो स्त्री का चिन्तन होना, २. पीछे देखने की चिंता होना, ३. पीछे निश्वास डालना, ४. पीछे ज्वर होना, ५. पीछे दाह होना, ६. पीछे काम की रुचि होना, ७. पीछे मूर्च्छा होना, ८. पीछे उन्माद होना, ९. पीछे जीने का संदेह होना, १०. पीछे मरण होना, ऐसे दस प्रकार का अब्रह्म है।

नव प्रकार का ब्रह्मचर्य इसप्रकार है - नव कारणों से ब्रह्मचर्य बिगड़ता है, उनके नाम ये हैं - १. स्त्री को सेवन करने की अभिलाषा, २. स्त्री के अंग का स्पर्शन, ३. पुष्ट रस का सेवन, ४. स्त्री से संसक्त वस्तु शय्या आदिक का सेवन, ५. स्त्री के मुख, नेत्र आदि को देखना, ६. स्त्री का सत्कार पुरस्कार करना, ७. पहिले किये हुए स्त्रीसेवन को याद करना, ८. आगामी स्त्रीसेवन की अभिलाषा करना, ९. मनोवांछित इष्ट विषयों का सेवन करना - ऐसे नव प्रकार हैं। इनका त्याग करना सो नवभेदरूप ब्रह्मचर्य है अथवा मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से ब्रह्मचर्य का पालन करना ऐसे भी नव प्रकार हैं। ऐसे करना सो भी भाव शुद्ध होने का उपाय है ॥१८॥

आगे कहते हैं कि जो भाव सहित मुनि है सो आराधना के चतुष्क को पाता है, भाव बिना वह भी संसार में भ्रमण करता है -

भावसहितो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च ।

भावरहितो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥१९॥

भावसहितश्च मुनिनः प्राप्नोति आराधनाचतुष्कं च ।

भावरहितश्च मुनिवर! भ्रमति चिरं दीर्घसंसारे ॥१९॥

अर्थ - हे मुनिवर ! जो भावसहित है सो दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप ऐसी आराधना के चतुष्क को पाता है, वह मुनियों में प्रधान है और जो भावरहित मुनि है सो बहुत काल तक दीर्घ संसार में भ्रमण करता है।

भावार्थ - निश्चय सम्यक्त्व का शुद्ध आत्मा का अनुभूतिरूप श्रद्धान है सो भाव है, ऐसे

तिर्यच मनुज कुदेव होकर द्रव्यलिंगी दुःख लहें।

पर भावलिंगी सुखी हों आनन्दमय अपवर्ग में ॥१००॥

अशुद्धभावों से छियालिस दोष दूषित असन कर।

तिर्यचगति में दुख अनेकों बार भोगे विवश हो ॥१०१॥

भावसहित हो उसके चार आराधना होती है उसका फल अरहन्त सिद्ध पद है और ऐसे भाव से रहित हो उसके आराधना नहीं होती है उसका फल संसार का भ्रमण है। ऐसा जानकर भाव शुद्ध करना - यह उपदेश है ॥१९॥

आगे भाव ही के फल को विशेषरूप से कहते हैं -

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं ।

दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥१००॥

प्राप्नुवंति भावश्रमणाः कल्याणपरंपराः सौख्यानि ।

दुःखानि द्रव्यश्रमणाः नरतिर्यक्कुदेवयोनौ ॥१००॥

अर्थ - जो भावश्रमण हैं, भावमुनि हैं, वे जिसमें कल्याण की परम्परा है - ऐसे सुखों को पाते हैं और जो द्रव्यश्रमण हैं वे तिर्यच मनुष्य कुदेव योनि में दुःखों को पाते हैं।

भावार्थ - भावमुनि सम्यग्दर्शन सहित हैं वे तो सोलहकारण भावना भाकर गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण, पंच कल्याणक सहित तीर्थकर पद पाकर मोक्ष पाते हैं और जो सम्यग्दर्शन रहित द्रव्यमुनि हैं वे तिर्यच, मनुष्य, कुदेव योनि पाते हैं। यह भाव के विशेष से फल का विशेष है ॥१००॥

आगे कहते हैं कि अशुद्ध भाव से अशुद्ध ही आहार किया, इसलिए दुर्गति ही पाई -

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण ।

पत्तो सि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥१०१॥

षट्चत्वारिंशदोषदूषितमशनं ग्रसितं अशुद्धभावेन ।

प्राप्तः असि महाव्यसनं तिर्यग्गतौ अनात्मवशः ॥१०१॥

अर्थ - हे मुने ! तूने अशुद्धभाव से छियालीस दोषों से दूषित अशुद्ध अशन (आहार) ग्रस्या (खाया) इसकारण से तिर्यचगति में पराधीन होकर महान (बड़े) व्यसन (कष्ट) को प्राप्त किया।

भावार्थ - मुनि छियालीस दोषरहित शुद्ध आहार करता है, बत्तीस अंतराय टालता है, चौदह मलदोषरहित करता है सो जो मुनि होकर सदोष आहार करे तो ज्ञात होता है कि इसके भाव भी शुद्ध नहीं हैं। उसको यह उपदेश है कि हे मुने ! तूने दोषसहित अशुद्ध आहार किया,

अतिगृह्यता अर दर्प से रे सचित्त भोजन पान कर ।

अति दुःख पाये अनादि से इसका भी जरा विचार कर ॥१०२॥

इसलिए तिर्यचगति में पहिले भ्रमण किया और कष्ट सहा, इसलिए भाव शुद्ध करके शुद्ध आहार कर जिससे फिर भ्रमण न करे। छियालीस दोषों में सोलह तो उद्गम दोष हैं, वे आहार के बनने के हैं, ये श्रावक के आश्रित हैं। सोलह उत्पादन दोष हैं, ये मुनि के आश्रित हैं। दस दोष एषणा के हैं, ये आहार के आश्रित हैं। चार प्रमाणादि के हैं। इनके नाम तथा स्वरूप 'मूलाचार', 'आचारसार' ग्रंथ से जानिये ॥१०१॥

आगे फिर कहते हैं -

सच्चित्तभक्तपाणं गिद्धीं दप्पेणऽधी पभुत्तूण ।

पत्तो सि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत ॥१०२॥

सच्चित्तभक्तपाणं गृद्धया दर्पेण अधीः प्रभुज्य ।

प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं अनादिकालेन त्वं चिन्तय ॥१०२॥

अर्थ - हे जीव ! तू दुर्बुद्धि (अज्ञानी) होकर अतिचार सहित तथा अतिगर्व (उद्धतपने) से सच्चित्त भोजन तथा पान, जीवसहित आहार पानी लेकर अनादिकाल से तीव्र दुःख को पाया, उसका चिन्तवन कर-विचार कर।

भावार्थ - मुनि को उपदेश करते हैं कि अनादिकाल से जबतक अज्ञानी रहा जीव का स्वरूप नहीं जाना तबतक सच्चित्त (जीव सहित) आहार पानी करते हुए संसार में तीव्र नरकादिक के दुःख को पाया। अब मुनि होकर भाव शुद्ध करके सच्चित्त आहार पानी मत करे, नहीं तो फिर पूर्ववत् दुःख भोगेगा ॥१०२॥

आगे फिर कहते हैं -

कंदं मूलं बीयं पुष्पं पत्तादि किंचि सच्चित्तं ।

असिरुण माणगव्वं भमिओ सि अणतसंसारे ॥१०३॥

कंदं मूलं बीजं पुष्पं पत्रादि किंचित् सच्चित्तम् ।

अशित्वा मानगर्वे भ्रमितः असि अनंतसंसारे ॥१०३॥

अर कंद मूल बीज फूल पत्र आदि सच्चित्त सब।

सेवन किये मदमत्त होकर भ्रमे भव में आजतक ॥१०३॥

विनय पंच प्रकार पालो मन वचन अर काय से।

अविनयी को मुक्ति की प्राप्ति कभी होती नहीं ॥१०४॥

अर्थ – कंद जमीकंद आदिक, बीज चना आदि अन्नादिक, मूल अदरक मूली गाजर आदिक, पुष्प फूल, पत्र नागरबेल आदिक इनको आदि लेकर जो भी कोई सचित्त वस्तु थी उसे मान (गर्व) करके भक्षण की। उससे हे जीव ! तूने अनंत संसार में भ्रमण किया।

भावार्थ – कन्दमूलादिक सचित्त अनन्तजीवों की काय है तथा अन्य वनस्पति बीजादिक सचित्त हैं इनको भक्षण किया। प्रथम तो मान करके कि हम तपस्वी हैं, हमारे घरबार नहीं है, वन के पुष्प फलादिक खाकर तपस्या करते हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टि तपस्वी होकर मान करके खाये तथा गर्व से उद्धत होकर दोष समझा नहीं, स्वच्छंद होकर सर्वभक्षी हुआ। ऐसे इन कंदादिक को खाकर इस जीव ने संसार में भ्रमण किया। अब मुनि होकर इनका भक्षण मत कर, ऐसा उपदेश है। अन्यमत के तपस्वी कंदमूलादिक फल-फूल खाकर अपने को महंत मानते हैं, उनका निषेध है॥१०३॥

आगे विनय आदि का उपदेश करते हैं, पहिले विनय का वर्णन है -

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयकायजोएण ।

अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति ॥१०४॥

विनयः पंचप्रकारं पालय मनोवचनकाययोगेन ।

अविनतनराः सुविहितां ततो मुक्तिं न प्राप्नुवंति ॥१०४॥

अर्थ – हे मुने ! जिस कारण से अविनयी मनुष्य भले प्रकार विहित जो मुक्ति उसको नहीं पाते हैं अर्थात् अभ्युदय तीर्थकरादि सहित मुक्ति नहीं पाते हैं, इसलिए हम उपदेश करते हैं कि हाथ जोड़ना, चरणों में गिरना, आने पर उठना, सामने जाना और अनुकूल वचन कहना यह पाँच प्रकार का विनय है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और इनके धारक पुरुष इनका विनय करना ऐसे पाँचप्रकार के विनय को तू मन वचन काय तीनों योगों से पालन कर।

भावार्थ – विनय बिना मुक्ति नहीं है, इसलिए विनय का उपदेश है। विनय में बड़े गुण हैं, ज्ञान की प्राप्ति होती है, मानकषाय का नाश होता है, शिष्टाचार का पालना है और कलह का निवारण है इत्यादि विनय के गुण जानने। इसलिए जो सम्यग्दर्शनादि से महान् हैं, उनका विनय

निजशक्ति के अनुसार प्रतिदिन भक्तिपूर्वक चाव से ।

हे महायश ! तुम करो वैयावृत्ति दशविध भाव से ॥१०५॥

अरे मन वचन काय से यदि हो गया कुछ दोष तो ।

मान माया त्याग कर गुरु के समक्ष प्रगट करो ॥१०६॥

करो यह उपदेश है और जो विनय बिना जिनमार्ग से भ्रष्ट भये, वस्त्रादिकसहित जो मोक्षमार्ग मानने लगे उनका निषेध है ॥१०४॥

आगे भक्तिरूप वैयावृत्य का उपदेश करते हैं -

णियसत्तीए महाजस भक्तीराएण णिच्चकालम्मि ।

तं कुण जिणभक्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥१०५॥

निजशक्त्या महायशः ! भक्तिरागेण नित्यकाले ।

त्वं कुरु जिनभक्तिपरं वैयावृत्यं दशविकल्पम् ॥१०५॥

अर्थ - हे महायश ! हे मुने ! जिनभक्ति में तत्पर होकर भक्ति के रागपूर्वक उस दस भेदरूप वैयावृत्य को सदाकाल तू अपनी शक्ति के अनुसार कर । 'वैयावृत्य' के दूसरे दुःख (कष्ट) आने पर उसकी सेवा चाकरी करने को कहते हैं । इसके दस भेद हैं - १. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. तपस्वी, ४. शैक्ष्य, ५. ग्लान, ६. गण, ७. कुल, ८. संघ, ९. साधु, १०. मनोज्ञ, ये दस भेद मुनि के हैं । इनका वैयावृत्य करते हैं, इसलिए दस भेद कहे हैं ॥१०५॥

आगे अपने दोष को गुरु के पास कहना, ऐसी गर्हा का उपदेश करते हैं -

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेण ।

तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥१०६॥

यः कश्चित् कृतः दोषः मनोवचः कायैः अशुभभावेन ।

तं गर्हं गुरुसकाशे गारवं मायां च मुक्त्वा ॥१०६॥

अर्थ - हे मुने ! जो कुछ मन वचन काय के द्वारा अशुभ भावों से प्रतिज्ञा में दोष लगा हो उसको गुरु के पास अपना गौरव (महंतपने का गर्व) छोड़कर और माया (कपट) छोड़कर मन वचन काय को सरल करके, गर्हा कर अर्थात् वचन द्वारा प्रकाशित कर ।

भावार्थ - अपने को कोई दोष लगा हो और निष्कपट होकर गुरु को कहे तो वह दोष निवृत्त हो जावे । यदि आप शल्यवान् रहे तो मुनिपद में यह बड़ा दोष है, इसलिए अपना दोष छिपाना नहीं, जैसा हो वैसा सरलबुद्धि से गुरुओं के पास कहे तब दोष मिटे, यह उपदेश है । काल के निमित्त से मुनिपद से भ्रष्ट हुए, पीछे गुरुओं के पास प्रायश्चित्त नहीं लिया, तब विपरीत होकर

निष्ठुर कटुक दुर्जन वचन सत्पुरुष सहें स्वभाव से ।

सब कर्मनाशन हेतु तुम भी सहो निर्ममभाव से ॥१०७॥

अलग सम्प्रदाय बना लिये, ऐसे विपर्यय हुआ ॥१०६॥

आगे क्षमा का उपदेश करते हैं -

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा ।

कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥१०७॥

दुर्जनवचनचपेटां निष्ठुरकटुकं सहन्ते सत्पुरुषाः ।

कर्ममलनाशनार्थं भावेन च निर्ममाः श्रमणाः ॥१०७॥

अर्थ - सत्पुरुष मुनि हैं, वे दुर्जन के वचनरूप चपेट जो निष्ठुर (कठोर) दया रहित और कटुक (सुनते ही कानों को कड़े शूल समान लगे) ऐसी चपेट है, उसको सहते हैं। वे किसलिए सहते हैं? कर्मों का नाश होने के लिए सहते हैं। पहिले अशुभ कर्म बांधे थे उसके निमित्त से दुर्जन ने कटुक वचन कहे, आपने सुने, उसको उपशम परिणाम से आप सहे तब अशुभकर्म उदय होय खिर गये। ऐसे कटुकवचन सहने से कर्म का नाश होता है।

वे मुनि सत्पुरुष कैसे हैं ? अपने भाव से वचनादिक से निर्ममत्व हैं, वचन से तथा मानकषाय से और देहादिक से ममत्व नहीं है। ममत्व हो तो दुर्वचन सहे न जावें, यह न जानें कि इसने मुझे दुर्वचन कहे, इसलिए ममत्व के अभाव से दुर्वचन सहते हैं। अतः मुनि होकर किसी पर क्रोध नहीं करना यह उपदेश है। लौकिक में भी जो बड़े पुरुष हैं, वे दुर्वचन सुनकर क्रोध नहीं करते हैं, तब मुनि को सहना उचित ही है। जो क्रोध करते हैं, वे कहने के तपस्वी हैं, सच्चे तपस्वी नहीं हैं ॥१०७॥

आगे क्षमा का फल कहते हैं -

पावं खवइ असेसं खमाए पडिमंडिओ य मुणिपवरो ।

खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ ॥१०८॥

पापं क्षिपति अशेषं क्षमया परिमंडितः च मुनिप्रवरः ।

खेचरामरनराणां प्रशंसनीयः ध्रुवं भवति ॥१०८॥

अर क्षमा मंडित मुनि प्रकट ही पाप सब खण्डित करें।

सुरपति उरग-नरनाथ उनके चरण में वंदन करें ॥१०८॥

यह जानकर हे क्षमागुणमुनि ! मन-वचन अर काय से।

सबको क्षमा कर बुझा दो क्रोधादि क्षमास्वभाव से ॥१०९॥

अर्थ – जो मुनिप्रवर (मुनियों में श्रेष्ठ प्रधान) क्रोध के अभावरूप क्षमा से मंडित है, वह मुनि समस्त पापों का क्षय करता है और विद्याधर देव मनुष्यों द्वारा प्रशंसा करने योग्य निश्चय से होता है।

भावार्थ – क्षमा गुण बड़ा प्रधान है, इससे सबके स्तुति करने योग्य पुरुष होता है। जो मुनि हैं, उनके उत्तम क्षमा होती है, वे तो सब मनुष्य देव विद्याधरों के स्तुतियोग्य होते ही हैं, और उनके सब पापों का क्षय होता ही है, इसलिए क्षमा करना योग्य है – ऐसा उपदेश है। क्रोधी सबके निंदा करने योग्य होता है, इसलिए क्रोध का छोड़ना श्रेष्ठ है ॥१०८॥

आगे ऐसे क्षमागुण को जानकर क्षमा करना और क्रोध छोड़ना ऐसा कहते हैं –

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयल जीवाणं ।

चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह ॥१०९॥

इति ज्ञात्वा क्षमागुण! क्षमस्व त्रिविधेन सकलजीवान् ।

चिरसंचितक्रोधशिखिनं वरक्षमासलिलेन सिंच ॥१०९॥

अर्थ – हे क्षमागुण मुने ! (जिसके क्षमागुण है ऐसे मुनि का संबोधन है) इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार क्षमागुण को जान और सब जीवों को पर मन वचन काय से क्षमा कर तथा बहुत काल से संचित क्रोधरूपी अग्नि को क्षमारूप जल से सींच अर्थात् शमन कर।

भावार्थ – क्रोधरूपी अग्नि पुरुष के भले, गुणों को दग्ध करनेवाली है और परजीवों का घात करनेवाली है इसलिए इसको क्षमारूप जल से बुझाना, अन्य प्रकार यह बुझती नहीं है और क्षमा गुण सब गुणों में प्रधान है। इसलिए यह उपदेश है कि क्रोध को छोड़कर क्षमा ग्रहण करना ॥१०९॥

आगे दीक्षाकालादिक की भावना का उपदेश करते हैं –

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो ।

उत्तमबोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिऊण ॥११०॥

दीक्षाकालादिकं भावय अविकारदर्शनविशुद्धः ।

असार है संसार सब यह जान उत्तम बोधि की।

अविकार मन से भावना भा अरे दीक्षाकाल सम ॥११०॥

अंतरंग शुद्धिपूर्वक तू चतुर्विध द्रवलिङ्ग धर।

क्योंकि भाव बिना द्रवलिङ्ग कार्यकारी है नहीं ॥१११॥

उत्तमबोधिनिमित्तं असारसाराणि ज्ञात्वा ॥११०॥

अर्थ – हे मुने ! तू संसार को असार जानकर उत्तमबोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के निमित्त अविकार अर्थात् अतिचाररहित निर्मल सम्यग्दर्शन सहित होकर दीक्षाकाल आदिक की भावना कर ।

भावार्थ – दीक्षा लेते हैं तब संसार (शरीर) भोग को (विशेषतया) असार जानकर अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न होता है वैसे ही उसके आदिशब्द से रोगोत्पत्ति, मरणकालादिक जानना । उस समय में जैसे भाव हों वैसे ही संसार को असार जानकर विशुद्ध सम्यग्दर्शन सहित होकर उत्तम बोधि जिससे केवलज्ञान उत्पन्न होता है उसके लिए दीक्षाकालादिक की निरन्तर भावना करना योग्य है, ऐसा उपदेश है ॥११०॥

[निरन्तर स्मरण में रखना – क्या ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि हेतु हे मुनि ! दीक्षा के समय की अपूर्व उत्साहमय तीव्र विरक्त दशा को; किसी रोगोत्पत्ति के समय की उग्र ज्ञान-वैराग्य, संपत्ति को, किसी दुःख के अवसर पर प्रगट हुई उदासीनता की भावना को किसी उपदेश तथा तत्त्वनिर्णय के धन्य अवसर पर जगी पवित्र अंतःभावना को स्मरण में रखना, निरन्तर स्वसन्मुख ज्ञातापन का धीरज अर्थ स्मरण रखना, भूलना नहीं । (इस गाथा का विशेष भावार्थ)]

आगे भावलिंग शुद्ध करके द्रव्यलिंग सेवन का उपदेश करते हैं –

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगशुद्धिमावण्णो ।

बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥१११॥

सेवस्व चतुर्विधलिंगं अभ्यंतरलिंगशुद्धिमापन्नः ।

बाह्यलिंगमकार्यं भवति स्फुटं भावरहितानाम् ॥१११॥

अर्थ – हे मुनिवर ! तू अभ्यन्तरलिंग की शुद्धि अर्थात् शुद्धता को प्राप्त होकर चार प्रकार के बाह्यलिंग का सेवन कर, क्योंकि जो भावरहित होते हैं उनके प्रगटपने बाह्यलिंग अकार्य है अर्थात् कार्यकारी नहीं है ।

भावार्थ – जो भाव की शुद्धता से रहित हैं, जिनके अपनी आत्मा का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान,

आहार भय मैथुन परीग्रह चार संज्ञा धारकर ।

भ्रमा भववन में अनादिकाल से हो अन्य वश ॥११२॥

आचरण नहीं है, उनके बाह्यलिंग कुछ कार्यकारी नहीं है, कारण पाकर तत्काल बिगड़ जाते हैं, इसलिए यह उपदेश है, पहले भाव की शुद्धता करके द्रव्यलिंग धारण करो।

यह द्रव्यलिंग चार प्रकार का कहा है, उसकी सूचना इसप्रकार है - १. मस्तक के, २. डाढी के, ३. मूछों के केशों का लोंच करना तीन चिह्न तो ये और ४. नीचे के केश रखना अथवा १. वस्त्र का त्याग, २. केशों का लोंच करना, ३. शरीर का स्नानादि से संस्कार न करना, ४. प्रतिलेखन मयूरपिच्छिका रखना, ऐसे भी चार प्रकार का बाह्य लिंग कहा है। ऐसे सब बाह्य वस्त्रादिक से रहित नग्न रहना, ऐसा नग्नरूप भावविशुद्धि बिना हँसी का स्थान है और कुछ उत्तम फल भी नहीं है ॥१११॥

आगे कहते हैं कि भाव बिगड़ने के कारण चार संज्ञा हैं, उनसे संसार भ्रमण होता है, यह दिखाते हैं -

आहारभयपरिग्रहमेहुणसण्णाहि मोहिओ सि तुमं ।

भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥११२॥

आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिः मोहितः असि त्वम् ।

भ्रमितः संसारवने अनादिकालं अनात्मवशः ॥११२॥

अर्थ - हे मुने ! तूने आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओं से मोहित होकर अनादिकाल से पराधीन होकर संसाररूप वन में भ्रमण किया।

भावार्थ - 'संज्ञा' नाम वांछा के जागते रहने (अर्थात् बने रहने) का है सो आहार की वांछा होना, भय होना, मैथुन की वांछा होना और परिग्रह की वांछा प्राणी के निरन्तर बनी रहती है, यह जन्मान्तर में चली जाती है, जन्म लेते ही तत्काल प्रगट होती है। इसी के निमित्त से कर्मों का बंध कर संसारवन में भ्रमण करता है, इसलिए मुनियों का यह उपदेश है कि अब इन संज्ञाओं का अभाव करो ॥११२॥

आगे कहते हैं कि बाह्य उत्तरगुण की प्रवृत्ति भी भाव शुद्ध करके करना -

भावशुद्धिपूर्वक पूजादि लाभ न चाहकर।

निज शक्ति से धारण करो आतपन आदि योग को ॥११३॥

प्रथम द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ पंचम तत्त्व की।

आद्यन्तरहित त्रिवर्ग हर निज आत्मा की भावना ॥११४॥

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि ।

पालहि भावविशुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥११३॥

बहिःशयनातापनतरुमूलादीन् उत्तरगुणान् ।

पालय भावविशुद्धः पूजालाभं न ईहमानः ॥११३॥

अर्थ – हे मुनिवर ! तू भाव से विशुद्ध होकर पूजालाभादिक को नहीं चाहते हुए बाह्यशयन, आतापन, वृक्षमूलयोग धारण करना इत्यादि उत्तरगुणों का पालन कर ।

भावार्थ – शीतकाल में बाहर खुले मैदान में सोना-बैठना, ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर पर सूर्यसन्मुख आतापनयोग धरना, वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे योग धरना जहाँ बूँदे वृक्ष पर गिरने के बाद एकत्र होकर शरीर पर गिरें। इसमें कुछ प्रासुक का भी संकल्प है और बाधा बहुत है इनको आदि लेकर यह उत्तरगुण हैं, इनका पालन भी भाव शुद्ध करके करना। भावशुद्धि बिना करे तो तत्काल बिगड़े और फल कुछ नहीं है, इसलिए भाव शुद्ध करके करने का उपदेश है। ऐसा न जानना कि इसको बाह्य में करने का निषेध करते हैं। इनको भी करना और भाव भी शुद्ध करना यह आशय है। केवल पूजालाभादि के लिए अपना बड़प्पन दिखाने के लिए करे तो कुछ फल (लाभ) की प्राप्ति नहीं है ॥११३॥

आगे तत्त्व की भावना करने का उपदेश करते हैं –

भावहि पढमं तच्चं बिदियं तदियं चउत्थ पंचमयं ।

तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥११४॥

भावय प्रथमं तत्त्वं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पंचमकम् ।

त्रिकरणशुद्धः आत्मानं अनादिनिधनं त्रिवर्गहरम् ॥११४॥

अर्थ – हे मुने ! तू प्रथम तो जीवतत्त्व का चिन्तन कर, द्वितीय अजीवतत्त्व का चिन्तन कर, तृतीय आस्रव तत्त्व का चिन्तन कर, चतुर्थ बन्धतत्त्व का चिन्तन कर, पंचम संवरतत्त्व का चिन्तन कर और त्रिकरण अर्थात् मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदना से शुद्ध होकर आत्मस्वरूप का चिन्तन कर जो आत्मा अनादिनिधन है और त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम इनको हरनेवाला है ।

भावार्थ – प्रथम 'जीवतत्त्व' की भावना तो 'सामान्य जीव' दर्शन-ज्ञानमयी चेतना स्वरूप है, उसकी भावना करना। पीछे ऐसा मैं हूँ – इसप्रकार आत्मतत्त्व की भावना करना। दूसरा

‘अजीव-तत्त्व’ सो सामान्य अचेतन जड़ है, यह पाँच भेदरूप पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनका विचार करना। पीछे भावना करना कि ये हैं; वह मैं नहीं हूँ।

तीसरा ‘आस्रवतत्त्व’ है वह जीव-पुद्गल के संयोग जनित भाव हैं, इनमें अनादि कर्मसम्बन्ध से जीव के भाव (भाव आस्रव) तो राग-द्वेष-मोह हैं और अजीव पुद्गल के भावकर्म के उदयरूप मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग द्रव्यास्रव हैं। इनकी भावना करना कि ये (असद्भूत व्यवहारनय अपेक्षा) मुझे होते हैं (अशुद्ध निश्चयनय से) राग-द्वेष-मोह भाव मेरे हैं, इनसे कर्मों का बंध होता है, उससे संसार होता है, इसलिए इनका कर्ता न होना (स्व में अपने ज्ञाता रहना।)

चौथा ‘बंधतत्त्व’ है वह मैं रागद्वेषमोहरूप परिणमन करता हूँ, वह तो मेरी चेतना का विभाव है, इससे जो कर्म बंधते हैं, वे कर्म पुद्गल हैं, कर्म पुद्गल ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार होकर बंधता है, वे स्वभाव-प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चार प्रकार होकर बंधते हैं, वे मेरे विभाव तथा पुद्गल कर्म सब हेय हैं, संसार के कारण हैं, मुझे राग-द्वेष-मोहरूप नहीं होना है, इसप्रकार भावना करना।

पाँचवाँ ‘संवरतत्त्व’ है वह राग-द्वेष-मोहरूप जीव के विभाव हैं, उनका न होना और दर्शन-ज्ञानरूप चेतनाभाव स्थिर होना, यह ‘संवर’ है, वह अपना भाव है और इसी से पुद्गलकर्मजनित भ्रमण मिटता है।

इसप्रकार इन पाँच तत्त्वों की भावना करने में आत्मतत्त्व की भावना प्रधान है, उससे कर्म की निर्जरा होकर मोक्ष होता है। आत्मा का भाव अनुक्रम से शुद्ध होना यह तो ‘निर्जरा तत्त्व’ हुआ और कर्मों का अभाव होना यह ‘मोक्षतत्त्व’ हुआ। इसप्रकार सात तत्त्वों की भावना करना। इसलिए आत्मतत्त्व का विशेषण किया कि आत्मतत्त्व कैसा है - धर्म, अर्थ, काम - इस त्रिवर्ग का अभाव करता है। इसकी भावना से त्रिवर्ग से भिन्न चौथा पुरुषार्थ ‘मोक्ष’ है, वह होता है।

यह आत्मा ज्ञान-दर्शनमयी चेतनास्वरूप अनादिनिधन है, इसका आदि भी नहीं और निधन (नाश) भी नहीं है। ‘भावना’ नाम बारबार अभ्यास करना; चिन्तन करने का है वह मन-वचन-काय से आप करना तथा दूसरे को कराना और करनेवाले को भला जानना - ऐसे त्रिकरण शुद्ध करके भावना करना। माया-मिथ्या-निदान शल्य नहीं रखना, ख्याति, लाभ, पूजा का आशय

भावों निरन्तर बिना इसके चिन्तवन अर ध्यान के।

जरा-मरण से रहित सुखमय मुक्ति की प्राप्ति नहीं।।११५।।

न रखना । इसप्रकार से तत्त्व की भावना करने से भाव शुद्ध होते हैं ।

स्त्री आदि पदार्थों के विषय में भेदज्ञानी का विचार

इसका उदाहरण इसप्रकार है कि जब स्त्री आदि इन्द्रियगोचर हों (दिखाई दें), तब उनके विषय में तत्त्व विचार करना कि यह स्त्री है वह क्या है ? जीवनामक तत्त्व की एक पर्याय है, इसका शरीर है वह तो पुद्गलतत्त्व की पर्याय है, यह हावभाव चेष्टा करती है, वह इस जीव के विकार हुआ है यह आस्रवतत्त्व है और बाह्य-चेष्टा पुद्गल की है, इस विकार से इस स्त्री की आत्मा के कर्म का बन्ध होता है। यह विकार इसके न हो तो 'आस्रव' 'बन्ध' इसके न हो। कदाचित् मैं भी इसको देखकर विकाररूप परिणमन करूँ तो मेरे भी 'आस्रव', 'बन्ध' हो। इसलिए मुझे विकाररूप न होना यह 'संवरतत्त्व' है। बन सके तो कुछ उपदेश देकर इसका विकार दूर करूँ (ऐसा विकल्प राग है) वह राग भी करने योग्य नहीं है-स्व सन्मुख ज्ञातापने में धैर्य रखना योग्य है, इसप्रकार तत्त्व की भावना से अपना भाव अशुद्ध नहीं होता है, इसलिए जो दृष्टिगोचर पदार्थ हों उनमें इसप्रकार तत्त्व की भावना रखना, यह तत्त्व की भावना का उपदेश है ॥११४॥

आगे कहते हैं कि ऐसे तत्त्व की भावना जबतक नहीं है तब तक मोक्ष नहीं है -

जाव ण भावइ तत्त्वं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं ।

ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥११५॥

यावन्न भावयति तत्त्वं यावन्न चिंतयति चिंतनीयानि ।

तावन्न प्राप्नोति जीवः जरामरणविवर्जितं स्थानम् ॥११५॥

अर्थ - हे मुने ! जबतक यह जीवादि तत्त्वों को नहीं भाता है और चिन्तन करने योग्य का चिन्तन नहीं करता है तबतक जरा और मरण से रहित मोक्ष स्थान को नहीं पाता है ।

भावार्थ - तत्त्व की भावना तो पहिले कही वह चिन्तन करने योग्य धर्मशुक्लध्यान विषयभूत जो ध्येय वस्तु अपने शुद्ध दर्शनज्ञानमयी चेतनाभाव और ऐसा ही अरहंत सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप उसका चिन्तन जबतक इस आत्मा के न हो तबतक संसार से निवृत्त होना नहीं है, इसलिए तत्त्व की भावना और शुद्धस्वरूप के ध्यान का उपाय निरन्तर रखना - यह उपदेश है ॥११५॥

परिणाम से ही पाप सब अर पुण्य सब परिणाम से ।

यह जैनशासन में कहा बंधमोक्ष भी परिणाम से ॥११६॥

जिनवच परान्मुख जीव यह मिथ्यात्व और कषाय से ।

ही बांधते हैं करम अशुभ असंयम से योग से ॥११७॥

आगे कहते हैं कि पाप-पुण्य और बन्ध-मोक्ष का कारण परिणाम ही है -

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा ।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥११६॥
पापं भवति अशेषं पुण्यमशेषं च भवति परिणामात् ।
परिणामाद् बंधः मोक्षः जिनशासने दृष्टः ॥११६॥

अर्थ - पाप-पुण्य, बंध-मोक्ष का कारण परिणाम ही को कहा है। जीव के मिथ्यात्व, विषय-कषाय, अशुभलेश्यारूप तीव्र परिणाम होते हैं, उनसे तो पापास्रव का बंध होता है। परमेष्ठी की भक्ति, जीवों पर दया इत्यादिक मंदकषाय शुभलेश्यारूप परिणाम होते हैं, इससे पुण्यास्रव का बंध होता है। शुद्धपरिणामरहित विभावरूप परिणाम से बंध होता है। शुद्धभाव के सन्मुख रहना, उसके अनुकूल शुभ परिणाम रखना, अशुभ परिणाम सर्वथा दूर करना, यह उपदेश है ॥११६॥

आगे पुण्य-पाप का बंध जैसे भावों से होता है, उनको कहते हैं। पहिले पापबंध के परिणाम कहते हैं -

मिच्छत्त तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं ।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्महो जीवो ॥११७॥
मिथ्यात्वं तथा कषायासंयमयोगैः अशुभलेश्यैः ।
बध्नाति अशुभं कर्म जिनवचनपराङ्मुखः जीवः ॥११७॥

अर्थ - मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योग जिनमें अशुभ लेश्या पाई जाती है इसप्रकार के भावों से यह जीव जिनवचन से पराङ्मुख होता है-अशुभकर्म को बांधता है वह पाप ही बांधता है।

भावार्थ - 'मिथ्यात्वभाव' तत्त्वार्थ का श्रद्धानरहित परिणाम है। 'कषाय' क्रोधादिक हैं। 'असंयम' परद्रव्य के ग्रहणरूप है, त्यागरूप भाव नहीं, इसप्रकार इन्द्रियों के विषयों से प्रीति और जीवों की विराधनासहित भाव हैं। 'योग' मन-वचन-काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों का चलना भावशुद्धीवन्त अरु जिन-वचन अराधक जीव ही।
हैं बाँधते शुभकर्म यह संक्षेप में बंधन-कथा ॥११८॥
अष्टकर्मों से बंधा हूँ अब इन्हें मैं दग्धकर।
ज्ञानादिगुण की चेतना निज में अनंत प्रकट करूँ ॥११९॥

है। ये भाव जब तीव्र कषाय सहित कृष्ण, नील, कापोत अशुभ लेश्यारूप हों तब इस जीव के पापकर्म का बंध होता है। पापबंध करनेवाला जीव कैसा है ? उसके जिनवचन की श्रद्धा नहीं है। इस विशेषण का आशय यह है कि अन्यमत के श्रद्धानी के जो कदाचित् शुभलेश्या के निमित्त से पुण्य का भी बंध हो तो उसको पाप ही में गिनते हैं। जो जिन-आज्ञा में प्रवर्तता है उसके कदाचित् पाप भी बंधे तो वह पुण्यजीवों की ही पंक्ति में गिना जाता है, मिथ्यादृष्टि को पापी जीवों में माना है और सम्यग्दृष्टि को पुण्यवान् जीवों में माना है। इसप्रकार पापबंध के कारण कहे ॥११७॥

आगे इससे उलटा जीव है वह पुण्य बांधता है ऐसा कहते हैं -

तद्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो ।

दुविहपयारं बंधइ संखेपेणेव वज्जरियं ॥११८॥

तद्विपरीतः बध्नाति शुभकर्म भावशुद्धिमापन्नः ।

द्विविधप्रकारं बध्नाति संक्षेपेणैव कथितम् ॥११८॥

अर्थ - उस पूर्वोक्त जिनवचन का श्रद्धानी मिथ्यात्वरहित सम्यग्दृष्टि जीव शुभकर्म को बांधता है जिसने कि भावों में विशुद्धि प्राप्त की है। ऐसे दोनों प्रकार के जीव शुभाशुभ कर्म को बाँधते हैं, यह संक्षेप में जिनभगवान् ने कहा है।

भावार्थ - पहिले कहा था कि जिनवचन से पराङ्मुख मिथ्यात्व सहित जीव है, उससे विपरीत जिन आज्ञा का श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि जीव विशुद्ध भाव को प्राप्त होकर शुभकर्म को बाँधता है, क्योंकि इसके सम्यक्त्व के माहात्म्य से ऐसे उज्ज्वल भाव हैं, जिनसे मिथ्यात्व के साथ बंधनेवाली पापप्रकृतियों का अभाव है। कदाचित् किंचित् कोई पाप प्रकृति बंधती है तो उनका अनुभाग मंद होता है, कुछ तीव्र पापफल का दाता नहीं होता। इसलिए सम्यग्दृष्टि शुभकर्म ही को बाँधनेवाला है, इसप्रकार शुभ-अशुभ कर्म के बंध का संक्षेप से विधान सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह जानना चाहिए ॥११८॥

आगे कहते हैं कि हे मुने ! तू ऐसी भावना कर -

णाणावरणादीहिं य अट्टहिं कम्मेहिं वेढिओ य अहं ।

डहिऊण इण्हिं पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां ॥११९॥

शील अठदशसहस उत्तर गुण कहे चौरासी लख ।

भा भावना इन सभी की इससे अधिक क्या कहें हम ॥१२०॥

ज्ञानावरणादिभिः च अष्टभिः कर्मभिः वेष्टितश्च अहं ।

दग्ध्वा इदानीं प्रकटयामि अनन्तज्ञानादिगुणचेतनां ॥११९॥

अर्थ – हे मुनिवर ! तू ऐसी भावना कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से वेष्टित हूँ, इसलिए इनको भस्म करके अनन्तज्ञानादि गुण निजस्वरूप चेतना को प्रगट करूँ ।

भावार्थ – अपने को कर्मों से वेष्टित माने और उनसे अनन्तज्ञानादि गुण आच्छादित माने तब उन कर्मों के नाश करने का विचार करे, इसलिए कर्मों के बंध की और उनके अभाव की भावना करने का उपदेश है । कर्मों का अभाव शुद्धस्वरूप के ध्यान से होता है, उसी के करने का उपदेश है ।

कर्म आठ हैं – १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. मोहनीय, ४. अंतराय – ये चार घातिया कर्म हैं, इनकी प्रकृति सैंतालीस हैं, केवलज्ञानावरण से अनन्तज्ञान आच्छादित है, केवलदर्शनावरण से अनन्तदर्शन आच्छादित है, मोहनीय से अनन्तसुख प्रगट नहीं होता है और अंतराय से अनन्तवीर्य प्रगट नहीं होता है, इसलिए इनका नाश करो । चार अघातिकर्म हैं, इनसे अव्याबाध, अगुरुलघु, सूक्ष्मता और अवगाहना ये गुण (इन गुणों की निर्मल पर्याय) प्रगट नहीं होते हैं, इन अघातिकर्मों की प्रकृति एक सौ एक है । घातिकर्मों का नाश होने पर अघातिकर्मों का स्वयमेव अभाव हो जाता है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥११९॥

आगे इन कर्मों का नाश होने के लिए अनेक प्रकार का उपदेश है, उसको संक्षेप से कहते हैं –

शीलसहस्रद्वारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं ।

भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥१२०॥

शीलसहस्राष्टादश चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि ।

भावय अनुदिनं निखिलं असत्प्रलापेन किं बहुना ॥१२०॥

अर्थ – शील अठारह हजार भेदरूप है और उत्तरगुण चौरासी लाख हैं । आचार्य कहते हैं कि हे मुने ! बहुत झूठे प्रलापरूप निरर्थक वचनों से क्या ? इन शीलों को और उत्तरगुणों को सबको तू निरन्तर भा, इनकी भावना-चिन्तन-अभ्यास निरन्तर रख, जैसे इनकी प्राप्ति हो वैसे ही कर ।

भावार्थ – ‘आत्मा-जीव’ नामक वस्तु अनन्तधर्मस्वरूप है । संक्षेप से इसकी दो परिणति है, एक स्वाभाविक और एक विभावरूप । इनमें स्वाभाविक तो शुद्धदर्शनज्ञानमयी चेतनापरिणाम है और विभावपरिणाम कर्म के निमित्त से है । ये प्रधानरूप से तो मोहकर्म के निमित्त से हुए हैं । संक्षेप से मिथ्यात्व रागद्वेष हैं, इनके विस्तार से अनेक भेद हैं । अन्य कर्मों के उदय से विभाव होते

इनको कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर सत्ताईस होते हैं। इनको पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर एक सौ पैंतीस होते हैं। इनको द्रव्य और भाव - इन दो से गुणा करने पर दो सौ सत्तर होते हैं। इनको चार संज्ञा से गुणा करने पर एक हजार अस्सी होते हैं। इनको अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इन सोलह कषायों से गुणा करने पर सत्रह हजार दो सौ अस्सी होते हैं। ऐसे अचेतन स्त्री के सात सौ बीस मिलाने पर *अठारह हजार होते हैं। ऐसे स्त्री के संसर्ग से विकार परिणाम होते हैं सो कुशील है, इनके अभावरूप परिणाम शील है इसकी 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा है।

चौरासी लाख उत्तरगुण ऐसे हैं जो आत्मा के विभावपरिणामों के बाह्यकारणों की अपेक्षा भेद होते हैं। उनके अभावरूप ये गुणों के भेद हैं। उन विभावों के भेदों की गणना संक्षेप से ऐसे है - १. हिंसा, २. अनृत, ३. स्तेय, ४. मैथुन, ५. परिग्रह, ६. क्रोध, ७. मान, ८. माया, ९. लोभ, १०. भय, ११. जुगुप्सा, १२. अरति, १३. शोक, १४. मनोदृष्टत्व, १५. वचनदृष्टत्व, १६. कायदृष्टत्व, १७. मिथ्यात्व, १८. प्रमाद, १९. पैशून्य, २०. अज्ञान, २१. इन्द्रिय का अनुग्रह ऐसे इक्कीस दोष हैं। इनको अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार इन चारों से गुणा करने पर चौरासी होते हैं। पृथ्वी-अप-तेज-वायु-प्रत्येक-साधारण ये स्थावर एकेन्द्रिय जीव छह और विकल तीन, पंचेन्द्रिय एक - ऐसे जीवों के दस भेद, इनका परस्पर आरंभ से घात होता है इनको परस्पर गुणा करने पर सौ (१००) होते हैं। इनसे चौरासी को गुणा करने पर चौरासी सौ होते हैं, इनको दस 'शील-विराधने' से गुणा करने पर चौरासी हजार होते हैं। इन दस के नाम ये हैं - १. स्त्री संसर्ग, २. पुष्टसभोजन, ३. गंधमाल्य का ग्रहण, ४. सुन्दर शयनासन का ग्रहण, ५. भूषण का मंडन, ६. गीतवादित्र का प्रसंग, ७. धन का संप्रयोजन, ८. कुशील का संसर्ग, ९. राजसेवा, १०. रात्रिसंचरण ये दस 'शील-विराधना' हैं। इनके आलोचना के दस दोष हैं, गुरुओं के पास लगे हुए दोषों की आलोचना करे सो सरल होकर न करे कुछ शल्य रखे, उसके दस भेद किये हैं, इनसे गुणा करने पर आठ लाख चालीस हजार होते हैं। आलोचना को आदि देकर प्रायश्चित्त के दस भेद हैं, इनसे गुणा करने पर चौरासी लाख होते हैं। सो सब दोषों के भेद हैं, इनके अभाव से गुण होते हैं। इनकी भावना रखे, चिन्तन और अभ्यास रखे, इनकी संपूर्ण प्राप्ति होने का उपाय रखे, इसप्रकार इनकी भावना का उपदेश है।

आचार्य कहते हैं कि बारबार बहुत वचन के प्रलाप से तो कुछ साध्य नहीं है, जो कुछ आत्मा

रौद्रार्त वश चिरकाल से दुःख सहे अगणित आजतक ।

अब तज इन्हें ध्या धरमसुखमय शुक्ल भव के अन्ततक ॥१२१॥

के भाव की प्रवृत्ति के व्यवहार के भेद हैं, उनकी 'गुण' संज्ञा है, उनकी भावना रखना। यहाँ इतना और जानना कि गुणस्थान चौदह कहे हैं, उस परिपाटी से गुणदोषों का विचार है। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र - इन तीनों में तो विभावपरिणति ही है, इनमें तो गुण का विचार ही नहीं है। अविरत, देशविरत आदि में शीलगुण का एकदेश आता है। अविरत में मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी कषाय के अभावरूप गुण का एकदेश सम्यक्त्व और तीव्र रागद्वेष का अभावरूप गुण आता है और देशविरत में कुछ व्रत का एकदेश आता है। प्रमत्त में महाव्रतरूप सामायिक चारित्र का एकदेश आता है, क्योंकि पापसंबंधी रागद्वेष तो वहाँ नहीं है, परन्तु धर्मसंबंधी राग है और 'सामायिक' रागद्वेष के अभाव का नाम है, इसीलिए सामायिक का एकदेश ही कहा है।

यहाँ स्वरूप के सन्मुख होने में क्रियाकांड के संबंध से प्रमाद है, इसलिए 'प्रमत्त' नाम दिया है। अप्रमत्त में स्वरूप साधने में तो प्रमाद नहीं है, परन्तु कुछ स्वरूप के साधने का राग व्यक्त है, इसलिए यहाँ भी सामायिक का एकदेश ही कहा है। अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण में राग व्यक्त नहीं है, अव्यक्तकषाय का सद्भाव है, इसलिए सामायिक चारित्र की पूर्णता कही। सूक्ष्मसांपराय में अव्यक्त कषाय भी सूक्ष्म रह गई, इसलिए इसका नाम 'सूक्ष्मसाम्पराय' रखा। उपशान्तमोह क्षीणमोह में कषाय का अभाव ही है, इसलिए जैसा आत्मा का मोहविकाररहित शुद्ध स्वरूप था उसका अनुभव हुआ, इसलिए 'यथाख्यात चारित्र' नाम रखा।

ऐसे मोहकर्म के अभाव की अपेक्षा तो यहाँ उत्तरगुणों की पूर्णता कही जाती है, परन्तु आत्मा का स्वरूप अनन्तज्ञानादि स्वरूप है सो घाकिर्म के नाश होने पर अनन्तज्ञानादि प्रगट होते हैं, तब 'सयोगकेवली' कहते हैं। इसमें भी कुछ योगों की प्रवृत्ति है, इसलिए 'अयोगकेवली' चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें योगों की प्रवृत्ति मिट कर आत्मा अवस्थित हो जाती है, तब चौरासी लाख उत्तरगुणों की पूर्णता कही जाती है। ऐसे गुणस्थानों की अपेक्षा उत्तरगुणों की प्रवृत्ति विचारने योग्य है। ये बाह्य अपेक्षा भेद हैं, अंतरंग अपेक्षा विचार करें तो संख्यात, असंख्यात, अनन्त भेद होते हैं, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१२०॥

आगे भेदों के विकल्प से रहित होकर ध्यान करने का उपदेश करते हैं -

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउदं च झाण मुत्तूण ।

इन्द्रिय-सुखाकुल द्रव्यलिंगी कर्मतरु नहिं काटते ।

पर भावलिंगी भवतरु को ध्यान करवत काटते ॥१२२॥

रुद्रं झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥१२१॥

ध्याय धर्म्यं शुक्लं आर्त्तं रौद्रं च ध्यानं मुक्त्वा ।

रौद्रार्त्ते ध्याते अनेन जीवेन चिरकालम् ॥१२१॥

अर्थ – हे मुने ! तू आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़ और धर्म-शुक्लध्यान हैं, उन्हें ही कर, क्योंकि रौद्र और आर्त्तध्यान तो इस जीव ने अनादिकाल से बहुत समय तक किये हैं ।

भावार्थ – आर्त्त-रौद्र ध्यान अशुभ है, संसार के कारण हैं । ये दोनों ध्यान तो जीव के बिना उपदेश ही अनादि से पाये जाते हैं, इसलिए इनको छोड़ने का उपदेश है । धर्म-शुक्ल ध्यान स्वर्ग-मोक्ष के कारण हैं । इनको कभी नहीं ध्याये, इसलिए इनके ध्यान करने का उपदेश है । ध्यान का स्वरूप 'एकाग्रचित्तानिरोध' कहा है । धर्मध्यान में तो धर्मानुराग का सद्भाव है सो धर्म के मोक्षमार्ग के कारण में रागसहित एकाग्रचित्तानिरोध होता है, इसलिए शुभराग के निमित्त से पुण्यबंध भी होता है और विशुद्ध भाव के निमित्त से पापकर्म की निर्जरा भी होती है । शुक्लध्यान में आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ गुणस्थान में तो अव्यक्त राग है । वहाँ अनुभव-अपेक्षा उपयोग उज्वल है, इसलिए 'शुक्ल' नाम रखा है और इससे ऊपर के गुणस्थानों में राग-कषाय का अभाव ही है, इसलिए सर्वथा ही उपयोग उज्वल है, वहाँ शुक्लध्यान युक्त ही है । इतनी और विशेषता है कि उपयोग के एकाग्रपनारूप ध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की कही है । उस अपेक्षा से तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में ध्यान का उपचार है और योगक्रिया के स्थंभन की अपेक्षा ध्यान कहा है । यह शुक्लध्यान कर्म की निर्जरा करके जीव को मोक्ष प्राप्त कराता है, ऐसे ध्यान का उपदेश जानना ॥१२१॥

आगे कहते हैं कि यह ध्यान भावलिङ्गी मुनियों को मोक्ष करता है -

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति ।

छिंदंति भावसवणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं ॥१२२॥

ये केऽपि द्रव्यश्रमणा इन्द्रियसुखाकुलाः न छिंदन्ति ।

ज्यों गर्भगृह में दीप जलता पवन से निर्बाध हो ।

त्यों जले निज में ध्यान दीपक राग से निर्बाध हो ॥१२३॥

शुद्धात्म एवं पंचगुरु का ध्यान धर इस लोक में ।

वे परम मंगल परम उत्तम और वे ही हैं शरण ॥१२४॥

छिन्दन्ति भावश्रमणाः ध्यानकुठारैः भववृक्षम् ॥१२२॥

अर्थ – कई द्रव्यलिंगी श्रमण हैं, वे तो इन्द्रियसुख में व्याकुल हैं, उनके यह धर्म-शुक्लध्यान नहीं होता है। वे तो संसाररूपी वृक्ष को काटने में समर्थ नहीं हैं और जो भावलिंगी श्रमण हैं, वे ध्यानरूपी कुल्हाड़े से संसाररूपी वृक्ष को काटते हैं।

भावार्थ – जो मुनि द्रव्यलिंग तो धारण करते हैं, परन्तु उनको परमार्थ सुख का अनुभव नहीं हुआ है, इसलिए इसलोक में व परलोक में इन्द्रियों के सुख ही को चाहते हैं, तपश्चरणादिक भी इसी अभिलाषा से करते हैं, उनके धर्म-शुक्ल ध्यान कैसे हो ? अर्थात् नहीं होता है। जिनने परमार्थ सुख का आस्वाद लिया, उनको इन्द्रिय सुख, दुःख ही है ऐसा स्पष्ट भासित हुआ है, अतः परमार्थ सुख का उपाय धर्म-शुक्ल ध्यान है, उसको करके वे संसार का अभाव करते हैं, इसलिए भावलिंगी होकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए ॥१२२॥

आगे इस ही अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं –

जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहाविवज्जिओ जलइ ।

तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥१२३॥

यथा दीपः गर्भगृहे मारुतबाधाविवर्जितः ज्वलति ।

तथा रागानिलरहितः ध्यानप्रदीपः अपि प्रज्वलति ॥१२३॥

अर्थ – जैसे दीपक गर्भगृह अर्थात् जहाँ पवन का संचार नहीं है, ऐसे घर के मध्य में पवन की बाधा रहित निश्चल होकर जलता है (प्रकाश करता है), वैसे ही अंतरंग मन में रागरूपी पवन से रहित ध्यानरूपी दीपक भी जलता है, एकाग्र होकर ठहरता है, आत्मरूप को प्रकाशित करता है।

भावार्थ – पहिले कहा था कि जो इन्द्रियसुख से व्याकुल हैं, उनके शुभध्यान नहीं होता है, उसका यह दीपक का दृष्टान्त है, जहाँ इन्द्रियों के सुख में जो राग, वह ही हुआ पवन, वह विद्यमान है, उनके ध्यानरूपी दीपक कैसे निर्बाध उद्योत करे ? अर्थात् न करे और जिनके यह रागरूपी पवन बाधा न करे उनके ध्यानरूपी दीपक निश्चल ठहरता है ॥१२३॥

आगे कहते हैं कि ध्यान में जो परमार्थ ध्येय शुद्ध आत्मा का स्वरूप है उस स्वरूप के आराधने में नायक (प्रधान) पंच परमेष्ठी हैं, उनका ध्यान करने का उपदेश करते हैं –

आनन्दमय मृतु जरा व्याधि वेदना से मुक्त जो ।

वह ज्ञानमय शीतल विमल जल पियो भविजन भाव से ॥१२५॥

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।
 णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२४॥
 ध्याय पंच अपि गुरून् मंगलचतुः शरणलोकपरिकरितान् ।
 नरसुरखेचरमहितान् आराधनानायकान् वीरान् ॥१२४॥

अर्थ – हे मुने ! तू पंच गुरु अर्थात् पंचपरमेष्ठी का ध्यान कर । यहाँ ‘अपि’ शब्द शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान को सूचित करता है । पंच परमेष्ठी कैसे हैं ? मंगल अर्थात् पाप के नाशक अथवा सुखदायक और चउशरण अर्थात् चार शरण तथा ‘लोक’ अर्थात् लोक के प्राणियों से अरहंत, सिद्ध, साधु, केवलीप्रणीत धर्म, ये परिकरित अर्थात् परिवारित हैं-युक्त (सहित) हैं । नर-सुर-विद्याधर सहित, पूज्य हैं, इसलिए वे ‘लोकोत्तम’ कहे जाते हैं, आराधना के नायक हैं, वीर हैं, कर्मों के जीतने को सुभट हैं और विशिष्ट लक्ष्मी को प्राप्त हैं तथा देते हैं । इसप्रकार पंच परम गुरु का ध्यान कर ।

भावार्थ – यहाँ पंच परमेष्ठी का ध्यान करने के लिए कहा । उस ध्यान में विघ्न को दूर करनेवाले ‘चार मंगलस्वरूप’ कहे, वे यही हैं, ‘चार शरण’ और ‘लोकोत्तम’ कहे हैं, वे भी इन्हीं को कहे हैं । इनके सिवाय प्राणी को अन्य शरण या रक्षा करनेवाला कोई भी नहीं है और लोक में उत्तम भी ये ही हैं । आराधना दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप ये चार हैं, इनके नायक (स्वामी) भी ये ही हैं, कर्मों को जीतनेवाले भी ये ही हैं । इसलिए ध्यान करनेवाले के लिए इनका ध्यान श्रेष्ठ है । शुद्धस्वरूप की प्राप्ति इन ही के ध्यान से होती है, इसलिए यह उपदेश है ॥१२४॥

आगे ध्यान है वह, ‘ज्ञान का एकाग्र होना’ है, इसलिए ज्ञान के अनुभव करने का उपदेश करते हैं -

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।
 वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२५॥
 ज्ञानमयविमलशीतलसलिलं प्राप्य भव्याः भावेन ।

ज्यों बीज के जल जाने पर अंकुर नहीं उत्पन्न हो ।
 कर्मबीज के जल जाने पर न भवांकुर उत्पन्न हो ॥१२६॥
 भावलिंगी सुखी होते द्रव्यलिंगी दुःख लहें ।
 गुण-दोष को पहिचानकर सब भाव से मुनिपद गहें ॥१२७॥

व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवाः भवन्ति ॥१२५॥

अर्थ – भव्यजीव ज्ञानमयी निर्मल शीतल जल को सम्यक्त्वभाव सहित पीकर और व्याधिरूप जरा-मरण की वेदना (पीड़ा) को भस्म करके मुक्त अर्थात् संसार से रहित 'शिव' अर्थात् परमानन्द सुखरूप होते हैं।

भावार्थ – जैसे निर्मल और शीतल जल के पीने से पित्त की दाहरूप व्याधि मिटकर साता होती है वैसे ही यह ज्ञान है वह जब रागादिक मल से रहित निर्मल और आकुलता रहित शांतभावरूप होता है, उसकी भावना करके रुचि, श्रद्धा, प्रतीति से पीवे, इससे तन्मय हो तो जरा-मरणरूप दाह-वेदना मिट जाती है और संसार से निर्वृत्त होकर सुखरूप होता है, इसलिए भव्यजीवों को यह उपदेश है कि ज्ञान में लीन होओ ॥१२५॥

आगे कहते हैं कि इस ध्यानरूप अग्नि से संसार के बीज आठों कर्म एकबार दग्ध हो जाने पर पीछे फिर संसार नहीं होता है, यह बीज भावमुनि के दग्ध हो जाता है -

जह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे ।

तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ॥१२६॥

यथा बीजे च दग्धे नापि रोहति अंकुरश्च महीपीढे ।

तथा कर्मबीजदग्धे भवांकुरः भावश्रमणानाम् ॥१२६॥

अर्थ – जैसे पृथ्वी तल पर बीज के जल जाने पर उसका अंकुर फिर नहीं उगता है, वैसे ही भावलिंगी श्रमण के संसार का कर्मरूपी बीज दग्ध होता है, इसलिए संसाररूप अंकुर फिर नहीं होता है।

भावार्थ – संसार के बीज 'ज्ञानावरणादि' कर्म हैं। ये कर्म भावश्रमण के ध्यानरूप अग्नि से भस्म हो जाते हैं, इसलिए फिर संसाररूप अंकुर किससे हो ? इसलिए भावश्रमण होकर धर्मशुक्ल-ध्यान से कर्मों का नाश करना योग्य है, यह उपदेश है। कोई सर्वथा एकांती अन्यथा कहे कि कर्म अनादि है, उसका अंत भी नहीं है, उसका भी यह निषेध है। बीज अनादि है, वह एक बार दग्ध हो जाने पर पीछे फिर नहीं उगता है, उसी तरह इसे जानना ॥१२६॥

भाव से जो हैं श्रमण जिनवर कहें संक्षेप में ।

सब अभ्युदय के साथ ही वे तीर्थकर गणधर बनें ॥१२८॥

जो ज्ञान-दर्शन-चरण से हैं शुद्ध माया रहित हैं ।

रे धन्य हैं वे भावलिंगी संत उनको नमन है ॥१२९॥

आगे संक्षेप से उपदेश करते हैं -

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥१२७॥
भावश्रमणः अपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रव्यश्रमणश्च ।
इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुतः भव ॥१२७॥

अर्थ - भावश्रमण तो सुखों को पाता है और द्रव्यश्रमण दुःखों को पाता है इसप्रकार गुण दोषों को जानकर हे जीव ! तू भाव सहित संयमी बन ।

भावार्थ - सम्यग्दर्शनसहित भावश्रमण होता है, वह संसार का अभाव करके सुखों को पाता है और मिथ्यात्वसहित द्रव्यश्रमण भेषमात्र होता है, यह संसार का अभाव नहीं कर सकता है, इसलिए दुःखों को पाता है। अतः उपदेश करते हैं कि दोनों के गुण-दोष जानकर भावसंयमी होना योग्य है, यह सब उपदेश का सार है ॥१२७॥

आगे फिर भी इसी का उपदेश अर्थरूप संक्षेप से कहते हैं -

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं ।
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥१२८॥
तीर्थकरगणधरादीनि अभ्युदयपरंपराणि सौख्यानि ।
प्राप्नुवंति भावश्रमणाः संक्षेपेण जिनैः भणितम् ॥१२८॥

अर्थ - जो भावसहित मुनि हैं, वे अभ्युदयसहित तीर्थकर-गणधर आदि पदवी के सुखों को पाते हैं, यह संक्षेप से कहा है ।

भावार्थ - तीर्थकर गणधर चक्रवर्ती आदि पदों के सुख बड़े अभ्युदयसहित हैं, उनको भावसहित सम्यग्दृष्टि मुनि पाते हैं। यह सब उपदेश का संक्षेप से उपदेश कहा है, इसलिए भाव-सहित मुनि होना योग्य है ॥१२८॥

१. संस्कृत मुद्रित प्रति में 'विकृतां' पाठ है।

जो धीर हैं गम्भीर हैं जिन भावना से सहित हैं ।
वे ऋद्धियों में मुग्ध न हों अमर विद्याधरों की ॥१३०॥
इन ऋद्धियों से इसतरह निरपेक्ष हों जो मुनि धवल ।
क्यों अरे चाहें वे मुनी निस्सार नरसुर सुखों को ॥१३१॥

आगे आचार्य कहते हैं कि जो भावश्रमण हैं, उनको धन्य है, उनको हमारा नमस्कार हो -

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं ।

भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्टमायाणं ॥१२९॥

ते धन्याः तेभ्यः नमः दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धेभ्यः ।

भावसहितेभ्यः नित्यं त्रिविधेन प्रणष्टमायेभ्यः ॥१२९॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि जो मुनि सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ (विशिष्ट) ज्ञान और निर्दोष चारित्र्य इनसे शुद्ध है इसीलिए भाव सहित हैं और प्रणष्ट हो गई है माया अर्थात् कपट परिणाम जिनके, ऐसे वे धन्य हैं। उनके लिए हमारा मन-वचन-काय से सदा नमस्कार हो।

भावार्थ - भावलिंगियों में जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से शुद्ध है, उनके प्रति आचार्य की भक्ति उत्पन्न हुई है इसलिए उनको धन्य कह कर नमस्कार किया है वह युक्त है, जिनके मोक्षमार्ग में अनुराग है, उनमें मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति में प्रधानता दीखती है, उनको नमस्कार करें ही करें ॥१२९॥

आगे कहते हैं कि जो भावश्रमण हैं, वे देवादिक की ऋद्धि देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते हैं-

इड्ढमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं ।

तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥१३०॥

ऋद्धिमतुलां विकुर्वद्धिः^१ किंनरकिंपुरुषामरखचरैः ।

तैरपि न याति मोहं जिनभावनाभावितः धीरः ॥१३०॥

अर्थ - जिनभावना (सम्यक्त्व भावना) से वासित जीव किंनर, किंपुरुष, देव, कल्पवासी देव और विद्याधर इनसे विक्रियारूप विस्तार की गई अतुल ऋद्धियों से मोह को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव कैसा है ? धीर है, दृढबुद्धि है अर्थात् निःशंकित अंग का धारक है।

भावार्थ - जिसके जिनसम्यक्त्व दृढ़ है उसके संसार की ऋद्धि तृणवत् है, उनके तो परमार्थसुख की भावना है, विनाशीक ऋद्धि की वांछा क्यों हो ? ॥१३०॥

—आगे इस ही कर्म समर्थन है कि ऐसी ऋद्धि भी नहीं चाहता है तो अन्य सांसारिक सुख की

१. मुद्रित संस्कृत प्रति में 'महासत्त' ऐसा संबोधन पद किया है, जिसको सं. छाया 'महासत्त्व' है।

२. मु. सं. प्रति में 'षट्जीवषडायतनानां' एक पद किया है।

करले भला तबतलक जबतक वृद्धपन आवे नहीं ।

अरे देह में न रोग हो बल इन्द्रियों का ना घटे ॥१३२॥

छह काय की रक्षा करो षट् अनायतन को त्यागकर ।

और मन-वच-काय से तू ध्या सदा निज आतमा ॥१३३॥

क्या कथा ?

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुखाण अप्पसाराणं ।
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो ॥१३१॥

किं पुनः गच्छति मोहं नरसुरसुखानां अल्पसाराणाम् ।
जानन् पश्यन् चिंतयन् मोक्षं मुनिधवलः ॥१३१॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त प्रकार की ऋद्धि को भी नहीं चाहता है तो मुनिधवल अर्थात् मुनिप्रधान है वह अन्य जो मनुष्य देवों के सुख भोगादिक जिनमें अल्प सार है उनमें क्या मोह को प्राप्त हो ? कैसा है मुनिधवल ? मोक्ष को जानता है, उस ही की तरफ दृष्टि है, उस ही का चिन्तन करता है ।

भावार्थ – जो मुनिप्रधान हैं, उनकी भावना मोक्ष के सुखों में है । वे बड़ी-बड़ी देवविद्याधरों की फैलाई हुई विक्रिया ऋद्धि में भी लालसा नहीं करते हैं तो किंचित्मात्र विनाशीक जो मनुष्य, देवों के भोगादिक के सुख हैं, उनमें वांछा कैसे करे ? अर्थात् नहीं करे ॥१३१॥

आगे उपदेश करते हैं कि जबतक जरा आदिक न आवें तबतक अपना हित कर लो -

उत्थरह जा ण जरओ रोयणी जा ण डहइ देहउडिं ।
इन्द्रियबलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहिंय ॥१३२॥

आक्रमते यावन्न जरा रोगाग्निर्यावन्न दहति देहकुटीम् ।
इन्द्रियबलं न विगलति तावत् त्वं कुरु आत्महितम् ॥१३२॥

अर्थ – हे मुने ! जबतक तेरे जरा (बुढ़ापा) न आवे तथा जबतक रोगरूपी अग्नि तेरी देहरूपी कुटी को भस्म न करे और जबतक इन्द्रियों का बल न घटे तबतक अपना हित कर लो ।

भावार्थ – वृद्ध अवस्था में देह रोगों से जर्जरित हो जाता है, इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं तब असमर्थ होकर इस लोक के कार्य उठना-बैठना भी नहीं कर सकता है तब परलोकसंबंधी तपश्चरणादिक तथा ज्ञानाभ्यास और स्वरूप का अनुभवादि कार्य कैसे करे ? इसलिए यह उपदेश है कि जबतक सामर्थ्य है तबतक अपना हितरूप कार्य कर लो ॥१३२॥

भवभ्रमण करते आजतक मन-वचन एवं काय से ।
दश प्राणों का भोजन किया निज पेट भरने के लिये ॥१३४॥
इन प्राणियों के घात से योनी चौरासी लाख में ।
बस जन्मते मरते हुये, दुख सहे तूने आजतक ॥१३५॥

आगे अहिंसाधर्म के उपदेश का वर्णन करते हैं -

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं ।
 कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं ॥१३३॥
 षट्जीवान् षडायतनानां नित्यं मनोवचनकाययोगैः ।
 कुरु दयां परिहर मुनिवर भावय अपूर्वं महासत्त्वम् ॥१३३॥

अर्थ - हे मुनिवर ! तू छहकाय के जीवों पर दया कर और छह अनायतनों को मन, वचन, काय के योगों से छोड़ तथा अपूर्व जो पहिले न हुआ ऐसा महासत्त्व अर्थात् सब जीवों में व्यापक (ज्ञायक) महासत्त्व चेतना भाव को भा ।

भावार्थ - अनादिकाल से जीव का स्वरूप चेतनास्वरूप न जाना इसलिए जीवों की हिंसा की, अतः यह उपदेश है कि अब जीवात्मा का स्वरूप जानकर, छहकाय के जीवों पर दया कर । अनादि ही से आप्त, आगम, पदार्थ का और इनकी सेवा करनेवालों का स्वरूप जाना नहीं, इसलिए अनाप्त आदि छह अनायतन जो मोक्षमार्ग के स्थान नहीं हैं, उनको अच्छे समझकर सेवन किया, अतः यह उपदेश है कि अनायतन का परिहार कर । जीव के स्वरूप के उपदेशक - ये दोनों ही तूने पहिले जाने नहीं, न भावना की, इसलिए अब भावना कर, इसप्रकार उपदेश है ॥१३३॥

आगे कहते हैं कि जीव का तथा उपदेश करनेवालों का स्वरूप जाने बिना सब जीवों के प्राणों का आहार किया इसप्रकार दिखाते हैं -

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण ।
 भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥१३४॥
 दशविधप्राणाहारः अनन्तभवसायरे भ्रमता ।
 भोगसुखकारणार्थं कृतश्च त्रिविधेन सकलजीवानां ॥१३४॥

अर्थ - हे मुने ! तूने अनंतभवसागर में भ्रमण करते हुए, सकल त्रस, स्थावर जीवों के दश प्रकार के प्राणों का आहार, भोग सुख के कारण के लिए मन, वचन, काय से किया ।

भावार्थ - अनादिकाल से जिनमत के उपदेश के बिना अज्ञानी होकर तूने त्रस-स्थायर जीवों

यदि भवभ्रमण से ऊबकर तू चाहता कल्याण है ।
 तो मन वचन अर काय से सब प्राणियों को अभय दे ॥१३६॥
 अक्रियावादी चुरासी बत्तीस विनयावादि हैं ।
 सौ और अस्सी क्रियावादी सरसठ अरे अज्ञानि हैं ॥१३७॥

के प्राणों का आहार किया, इसलिए अब जीवों का स्वरूप जानकर जीवों की दया पाल, भोगाभिलाष छोड़, यह उपदेश है ॥१३४॥

फिर कहते हैं कि ऐसे प्राणियों की हिंसा से संसार में भ्रमण कर दुःख पाया -

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि ।

उप्पजंत मरंतो पत्तो सि णिरंतरं दुक्खं ॥१३५॥

प्राणिवधैः महायशः ! चतुरशीतिलक्षयोनिमध्ये ।

उत्पद्यमानः प्रियमाणः प्राप्नोऽसि निरंतरं दुःखम् ॥१३५॥

अर्थ - हे मुने ! हे महायश ! तूने प्राणियों के घात से चौरासी लाख योनियों के मध्य में उत्पन्न होते हुए और मरते हुए निरंतर दुःख पाया ।

भावार्थ - जिनमत के उपदेश के बिना, जीवों की हिंसा से यह जीव चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होता है और मरता है । हिंसा से कर्मबंध होता है, कर्मबंध के उदय से उत्पत्तिमरणरूप संसार होता है । इसप्रकार जन्ममरण के दुःख सहता है, इसलिए जीवों की दया का उपदेश है ॥१३५॥

आगे उस दया ही का उपदेश करते हैं -

जीवाणमभयदानं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं ।

कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ॥१३६॥

जीवानामभयदानं देहि मुने प्राणिभूतसत्त्वानाम् ।

कल्याणसुखनिमित्तं परंपरया त्रिविधशुद्धया ॥१३६॥

अर्थ - हे मुने ! जीवों को और प्राणीभूत सत्त्वों को परम्परा से अपना कल्याण और सुख होने के लिए मन, वचन, काय की शुद्धता से अभयदान दे ।

भावार्थ - 'जीव' पंचेन्द्रियों को कहते हैं, 'प्राणी' विकलत्रय को कहते हैं, 'भूत' वनस्पति को कहते हैं और 'सत्त्व' पृथ्वी, अप, तेज, वायु को कहते हैं । इन सब जीवों को अपने समान जानकर अभयदान देने का उपदेश है । इससे शुभ प्रकृतियों का बंध होने से अभ्युदय का सुख होता है, परम्परा से तीर्थकरपद पाकर मोक्ष पाता है, यह उपदेश है ॥१३६॥

आगे यह जीव षट् अनायतन के प्रसंग से मिथ्यात्व से संसार में भ्रमण करता है उसका स्वरूप कहते हैं । पहिले मिथ्यात्व के भेदों को कहते हैं -

असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी ।

सत्तट्टी अण्णाणी वेणईया होंति बत्तीसा ॥१३७॥

अशीतिशतं क्रियावादिनामक्रियमाणं च भवति चतुरशीतिः ।

सप्तषष्टिरज्ञानिनां वैनयिकानां भवति द्वात्रिंशत् ॥१३७॥

अर्थ – एक सौ अस्सी क्रियावादी हैं, चौरासी अक्रियावादियों के भेद हैं, अज्ञानी सड़सठ भेदरूप हैं और विनयवादी बत्तीस हैं ।

भावार्थ – वस्तु का स्वरूप अनन्तधर्मस्वरूप सर्वज्ञ ने कहा है, वह प्रमाण और नय से सत्यार्थ सिद्ध होता है । जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं है तथा सर्वज्ञ के स्वरूप का यथार्थरूप से निश्चय करके उसका श्रद्धान नहीं किया है ऐसे अन्यवादियों ने वस्तु का एकधर्म ग्रहण करके उसका पक्षपात किया कि हमने इसप्रकार माना है वह 'ऐसे ही है, अन्य प्रकार नहीं है ।' इसप्रकार विधि-निषेध करके एक-एक धर्म के पक्षपाती हो गये उनके ये संक्षेप से तीन सौ तरेसठ भेद हो गये ।

क्रियावादी – कई तो गमन करना, बैठना, खड़े रहना, खाना, पीना, सोना, उत्पन्न होना, नष्ट होना, देखना, जानना, करना, भोगना, भूलना, याद करना, प्रीति करना, हर्ष करना, विषाद करना, द्वेष करना, जीना, मरना इत्यादि क्रियायें हैं । इनको जीवादिक पदार्थों के देखकर किसी ने किसी क्रिया का पक्ष किया है और किसी ने किसी क्रिया का पक्ष किया है । ऐसे परस्पर क्रियाविवाद से भेद हुए हैं, इनके संक्षेप में एक सौ अस्सी भेद निरूपण किये हैं, विस्तार करने पर बहुत हो जाते हैं ।

कई अक्रियावादी हैं, ये जीवादिक पदार्थों में क्रिया का अभाव मानकर आपस में विवाद करते हैं । कई कहते हैं कि जीव जानता नहीं है, कई कहते हैं कि कुछ करता नहीं है, कई कहते हैं कि भोगता नहीं है, कई कहते हैं उत्पन्न नहीं होता है, कई कहते हैं नष्ट नहीं होता है, कई कहते हैं कि गमन नहीं करता है और कई कहते हैं कि ठहरता नहीं है इत्यादि क्रिया के अभाव के पक्षपात से सर्वथा एकान्ती होते हैं । इनके संक्षेप से चौरासी भेद हैं ।

कई अज्ञानवादी हैं, इनमें से सर्वज्ञ का अभाव मानते हैं, कई कहते हैं जीव अस्ति है – यह कौन जाने ? कई कहते हैं जीव नास्ति है – यह कौन जाने ? कई कहते हैं, जीव नित्य है – यह

गुड़-दूध पीकर सर्प ज्यों विषरहित होता है नहीं ।

अभव्य त्यों जिनधर्म सुन अपना स्वभाव तजे नहीं ॥१३८॥

मिथ्यात्व से आछन्नबुद्धि अभव्य दुर्मति दोष से ।

जिनवरकथित जिनधर्म की श्रद्धा कभी करता नहीं ॥१३९॥

कौन जाने? कई कहते हैं जीव अनित्य है – यह कौन जाने ? इत्यादि संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रूप होकर विवाद करते हैं। इनके संक्षेप से सड़सठ भेद हैं। कई विनयवादी हैं, उनमें से कई कहते हैं देवादिक के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं गुरु के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि माता के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि पिता के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि राजा के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि सबके विनय से सिद्धि है, इत्यादि विवाद करते हैं। इनके संक्षेप से बत्तीस भेद हैं।

इसप्रकार सर्वथा एकान्तवादियों के तीन सौ तरेसठ भेद संक्षेप से हैं, विस्तार करने पर बहुत हो जाते हैं, इनमें कई ईश्वरवादी हैं, कई कालवादी हैं, कई स्वभाववादी हैं, कई विनयवादी हैं, कई आत्मवादी हैं। इनका स्वरूप गोम्मटसारादि ग्रन्थों से जानना, ऐसे मिथ्यात्व के भेद हैं ॥१३७॥

आगे कहते हैं कि अभव्यजीव अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता है, उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता है -

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं ।

गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥१३८॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्टु अपि आकर्ण्य जिनधर्मम् ।

गुडदुग्धमपि पिबंतः न पन्नगाः निर्विषाः भवंति ॥१३८॥

अर्थ – अभव्य जीव भलेप्रकार जिनधर्म को सुनकर भी अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता है। यहाँ दृष्टान्त है कि सर्प गुड़सहित दूध को पीते रहने पर भी विषरहित नहीं होता है।

भावार्थ – जो कारण पाकर भी नहीं छूटता है उसे 'प्रकृति' या 'स्वभाव' कहते हैं। अभव्य का यह स्वभाव है कि जिसमें अनेकान्त तत्त्वस्वरूप है – ऐसा वीतरागविज्ञानस्वरूप जिनधर्म मिथ्यात्व को मिटानेवाला है, उसका भलेप्रकार स्वरूप सुनकर भी जिसका मिथ्यात्वस्वरूप भाव नहीं बदलता है, यह वस्तु का स्वरूप है, किसी का नहीं किया हुआ है। यहाँ उपदेश-अपेक्षा इसप्रकार जानना कि जो अभव्यरूप प्रकृति तो सर्वज्ञगम्य है, तो भी अभव्य की प्रकृति के समान अपनी प्रकृति न रखना, मिथ्यात्व को छोड़ना यह उपदेश है ॥१३८॥

तप तपें कुत्सित और कुत्सित साधु की भक्ति करें ।

कुत्सित गति को प्राप्त हों रे मूढ़ कुत्सितधर्मरत ॥१४०॥

कुनय अर कुशास्त्र मोहित जीव मिथ्यावास में ।

घूमा अनादिकाल से हे धीर ! सोच विचार कर ॥१४१॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

मिच्छत्तच्छणदिद्री दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं ।
 धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥१३९॥
 मिथ्यात्वच्छन्नदृष्टिः दुर्धिया दुर्मतैः दोषैः ।
 धर्मं जिनप्रज्ञप्तं अभव्यजीवः न रोचयति ॥१३९॥

अर्थ - दुर्मत जो सर्वथा एकान्ती मत, उनसे प्ररूपित अन्यमत, वे ही हुए दोष, उनके द्वारा अपनी दुर्बुद्धि से (मिथ्यात्व से) आच्छादित है बुद्धि जिसकी, ऐसा अभव्यजीव है उसे जिनप्रणीत धर्म नहीं रुचता है, वह उसकी श्रद्धा नहीं करता है, उसमें रुचि नहीं करता है ।

भावार्थ - मिथ्यात्व के उपदेश से अपनी दुर्बुद्धि द्वारा जो मिथ्यादृष्टि है उसको जिनधर्म नहीं रुचता है, तब ज्ञात होता है कि ये अभव्यजीव के भाव हैं । यथार्थ अभव्यजीव को तो सर्वज्ञ जानते हैं, परन्तु ये अभव्यजीव के चिह्न हैं, इनसे परीक्षा द्वारा जाना जाता है ॥१३९॥

आगे कहते हैं कि ऐसे मिथ्यात्व के निमित्त से दुर्गति का पात्र होता है -

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासंडिभक्तिसंजुत्तो ।
 कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होइ ॥१४०॥
 कुत्सितधर्मे रतः कुत्सितपाषंडिभक्तिसंयुक्तः ।
 कुत्सिततपः कुर्वन् कुत्सितगतिभाजनं भवति ॥१४०॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि जो कुत्सित (निंद्य) मिथ्याधर्म में रत (लीन) है, जो पाखण्डी निंद्यभेषियों की भक्तिसंयुक्त है, जो निंद्य मिथ्याधर्म पालता है, मिथ्यादृष्टियों की भक्ति करता है और मिथ्या अज्ञानतप करता है, वह दुर्गति ही पाता है, इसलिए मिथ्यात्व छोड़ना, यह उपदेश है ॥१४०॥

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए ऐसे कहते हैं कि ऐसे मिथ्यात्व से मोहित जीव संसार में भ्रमण करता है -

तीन शत त्रिषष्टि पाखण्डी मतों को छोड़कर ।
 जिनमार्ग में मन लगा इससे अधिक मुनिवर क्या कहें ॥१४२॥
 अरे समकित रहित साधु सचल मुरदा जानियें ।
 अपूज्य है ज्यों लोक में शव त्योंहि चलशव मानिये ॥१४३॥

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो ।

भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ॥१४१॥

इति मिथ्यात्वावासे कुनयकुशास्त्रैः मोहितः जीवः ।

भ्रमितः अनादिकालं संसारे धीर! चिन्तय ॥१४१॥

अर्थ – इति अर्थात् पूर्वोक्तप्रकार मिथ्यात्व का आवास (स्थान) यह मिथ्यादृष्टियों का संसार उसमें कुनय अर्थात् सर्वथा एकान्त, उस सहित कुशास्त्र उनसे मोहित (बेहोश) हुआ यह जीव अनादिकाल से लगाकर संसार में भ्रमण कर रहा है, ऐसे हे धीर मुने ! तू विचार कर ।

भावार्थ – आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त तीन सौ तरेसठ कुवादियों से सर्वथा एकांतपक्षरूप कुनय द्वारा रचे हुए शास्त्रों से मोहित होकर यह जीव संसार में अनादिकाल से भ्रमण करता है सो हे धीर मुनि ! अब ऐसे कुवादियों की संगति भी मत कर, यह उपदेश है ॥१४१॥

आगे कहते हैं कि पूर्वोक्त तीन सौ तरेसठ पाखण्डियों का मार्ग छोड़कर जिनमार्ग में मन लगाओ –

पासंडी तिण्णि सया तिसट्ठि भेया उमग्ग मुत्तूण ।

रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥१४२॥

पाखण्डिनः त्रीणि शतानि त्रिषष्टिभेदाः उन्मार्गं मुक्त्वा ।

रुन्द्धि मनः जिनमार्गं असत्प्रलापेन किं बहुना ॥१४२॥

अर्थ – हे जीव ! तीन सौ तरेसठ पाखण्डियों के मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में अपने मन को रोक (लगा) यह संक्षेप है और निरर्थक प्रलापरूप कहने से क्या ?

भावार्थ – इसप्रकार मिथ्यात्व का वर्णन किया । आचार्य कहते हैं कि बहुत निरर्थक वचनालाप से क्या ? इतना ही संक्षेप से कहते हैं कि तीन सौ तरेसठ कुवादी पाखण्डी कहे उनका मार्ग छोड़कर जिनमार्ग में मन को रोको, अन्यत्र न जाने दो । यहाँ इतना और विशेष जानना कि

१. मुद्रित संस्कृत प्रति में 'रेहइ' पाठ है जिसका संस्कृत छाया में 'राजते' पाठान्तर है ।

२. मुद्रित सं. प्रति में 'जिणभत्तीणपवयणो' ऐसा एक पद रूप पद है, जिसकी संस्कृत "जिनभक्तिप्रवचनः" है यह पाठ यतिभंग सा मालुम होता है ।

तारागणों में चन्द्र ज्यों अर मृगों में मृगराज ज्यों ।

श्रमण-श्रावक धर्म में त्यों एक समकित जानिये ॥१४४॥

नागेन्द्र के शुभ सहस्रफण में शोभता माणिक्य ज्यों ।

अरे समकित शोभता त्यों मोक्ष के मारग विषैं ॥१४५॥

कालदोष से इस पंचमकाल में अनेक पक्षपात से मत-मतान्तर हो गये हैं, उनको भी मिथ्या जानकर उनका प्रसंग न करो। सर्वथा एकान्त का पक्षपात छोड़कर अनेकान्तरूप जिनवचन का शरण लो ॥१४२॥

आगे सम्यग्दर्शन का निरूपण करते हैं, पहिले कहते हैं कि “सम्यग्दर्शनरहित प्राणी चलता हुआ मृतक” है -

जीवविमुक्तो सबओ दंसणमुक्तो य होइ चलसबओ ।

सबओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसबओ ॥१४३॥

जीवविमुक्तः शवः दर्शनमुक्तश्च भवति चलशवः ।

शवः लोके अपूज्यः लोकोत्तरे चलशवः ॥१४३॥

अर्थ - लोक में जीवरहित शरीर को ‘शव’ कहते हैं, ‘मृतक’ या ‘मुरदा’ कहते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शनरहित पुरुष ‘चलता हुआ मृतक’ है। मृतक तो लोक में अपूज्य है, अग्नि से जलाया जाता है या पृथ्वी में गाड़ दिया जाता है और दर्शनरहित चलता हुआ ‘मुरदा’ लोकोत्तर जो मुनि-सम्यग्दृष्टि उनमें अपूज्य है, वे उसको वंदनादि नहीं करते हैं। मुनिभेष धारण करता है तो भी उसे संघ के बाहर रखते हैं अथवा परलोक में निंद्य गति पाकर अपूज्य होता है।

भावार्थ - सम्यग्दर्शन बिना पुरुष मृतकतुल्य है ॥१४३॥

आगे सम्यक्त्व का महानूपना (माहात्म्य) कहते हैं -

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।

अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्मणं ॥१४४॥

यथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजः मृगकुलानां सर्वेषाम् ।

अधिकः तथा सम्यक्त्वं ऋषिश्रावकद्विविधधर्माणाम् ॥१४४॥

१. मुद्रित सं. प्रति में ‘तह वयवमिलं’ ऐसा पाठ है जिसकी संस्कृत ‘तथा व्रतवमिलं’ है।

२. इस गाथा का चतुर्थ पाद यतिभंग है। इसकी जगह ‘जिणलिंग दंसणय सुविसुद्धं’ होना ठीक जँचता है।

चन्द्र तारागण सहित ही लसे नभ में जिसतरह ।

व्रत तप तथा दर्शन सहित जिनलिंग शोभे उसतरह ॥१४६॥

इमि जानकर गुण-दोष मुक्ति महल की सीढ़ी प्रथम ।

गुण रतन में सार समकित रतन को धारण करो ॥१४७॥

अर्थ – जैसे तारकाओं के समूह में चन्द्रमा अधिक है और मृगकुल अर्थात् पशुओं के समूह में मृगराज (सिंह) अधिक है, वैसे ही ऋषि (मुनि) और श्रावक – इन दो प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व है, वह अधिक है।

भावार्थ – व्यवहार धर्म की जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें सम्यक्त्व अधिक है, इसके बिना सब संसारमार्ग बंध का कारण है ॥१४४॥

फिर कहते हैं –

जह फणिराओ सोहड़ १फणमणिमाणिक्यकिरणविष्फुरिओ ।

तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणे २जीवो ॥१४५॥

यथा फणिराजः शोभते फणमणिमाणिक्यकिरणविस्फुरितः ।

तथा विमलदर्शनधरः जिनभक्तिः प्रवचने जीवः ॥१४५॥

अर्थ – जैसे फणिराज (धरणेन्द्र) सो फण जो सहस्र फण उसमें लगे हुए मणियों के बीच के लाल माणिक्य उसकी किरणों से विस्फुरित (दैदीप्यमान) शोभा पाता है, वैसे ही जिनभक्तिसहित निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक जीव इससे प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग के प्ररूपण में शोभा पाता है।

भावार्थ – सम्यक्त्वसहित जीव की जिनवचन में बड़ी अधिकता है। जहाँ-तहाँ (सब जगह) शास्त्रों में सम्यक्त्व की ही प्रधानता कही है ॥१४५॥

आगे सम्यग्दर्शनसहित लिंग है उसकी महिमा कहते हैं –

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले ।

भाविय १तववयविमलं २जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥१४६॥

यथा तारागणसहितं शशधरबिंबं खमंडले विमले ।

भावतं तपोव्रतविमलं जिनलिंगं दर्शनविशुद्धम् ॥१४६॥

अर्थ – जैसे निर्मल आकाशमंडल में ताराओं के समूहसहित चन्द्रमा का बिंब शोभा पाता है, वैसे ही जिनशासन में दर्शन से विशुद्ध और भावित किये हुए तप तथा व्रतों से निर्मल जिनलिंग है सो शोभा पाता है।

१. पाठान्तरः – जीवो णिद्धित्तो । २. पाठान्तरः – जीवः निर्दिष्टः ।

देहमित अर कर्त्ता-भोक्ता जीव दर्शन-ज्ञानमय ।

अनादि अनिधन अमूर्तिक कहा जिनवर देव ने ॥१४८॥

भावार्थ – जिनलिंग अर्थात् 'निर्ग्रन्थ मुनिभेष' यद्यपि तपव्रतसहित निर्मल है, तो भी सम्यग्दर्शन के बिना शोभा नहीं पाता है। इसके होने पर ही अत्यन्त शोभायमान होता है ॥१४६॥

आगे कहते हैं कि ऐसा जानकर दर्शनरत्न को धारण करो, ऐसा उपदेश करते हैं –

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण ।

सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥१४७॥

इति ज्ञात्वा गुणदोषं दर्शनरत्नं धरतभावेन ।

सारं गुणरत्नानां सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥१४७॥

अर्थ – हे मुने ! तू 'इति' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के गुण और मिथ्यात्व के दोषों को जानकर सम्यक्त्वरूपी रत्न को भावपूर्वक धारण कर। यह गुणरूपी रत्नों में सार है और मोक्षरूपी मंदिर का प्रथम सोपान है अर्थात् चढ़ने के लिए पहिली सीढ़ी है।

भावार्थ – जितने भी व्यवहार मोक्षमार्ग के अंग हैं (गृहस्थ के दानपूजादिक और मुनि के महाव्रत शीलसंयमादिक) उन सबमें सार सम्यग्दर्शन है, इससे सब सफल हैं, इसलिए मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग्दर्शन अंगीकार करो, यह प्रधान उपदेश है ॥१४७॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन किसको होता है ? जो जीव, जीव पदार्थ के स्वरूप को जानकर इसकी भावना करे, इसका श्रद्धान करके अपने को जीव पदार्थ जानकर अनुभव द्वारा प्रतीति करे उसके होता है। इसलिए अब यह जीवपदार्थ कैसा है, उसका स्वरूप कहते हैं –

कर्त्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य ।

दंसणणाणुवओगो ँणिद्धिट्ठो जिणवरिंदेहिं ॥१४८॥

कर्त्ता भोक्ता अमूर्त्तः शरीरमात्रः अनादिनिधनः च ।

दर्शनज्ञानोपयोगः ँनिर्दिष्टः जिनवरेन्द्रैः ॥१४८॥

अर्थ – 'जीव' नामक पदार्थ है सो कैसा है – कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीरप्रमाण है, अनादिनिधन है, दर्शन-ज्ञान उपयोगवाला है इसप्रकार जिनवरेन्द्र सर्वज्ञदेव वीतराग ने कहा है।

भावार्थ – यहाँ 'जीव' नामक पदार्थ के छह विशेषण कहे। इनका आशय ऐसा है कि –

१. 'कर्ता' कहा, वह निश्चयनय से तो अपने अशुद्ध भावों का अज्ञान अवस्था में आप ही कर्ता है तथा व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का कर्ता है और शुद्धनय से अपने शुद्धभावों का कर्ता है।

२. 'भोक्ता' कहा, वह निश्चयनय से तो अपने ज्ञान-दर्शनमयी चेतनभाव का भोक्ता है और व्यवहार नय से पुद्गलकर्म के फल में होनेवाले सुख-दुःख आदि का भोक्ता है।

३. 'अमूर्तिक' कहा, वह निश्चय से तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द ये पुद्गल के गुण पर्याय हैं, इनसे रहित अमूर्तिक है और व्यवहार से जबतक पुद्गलकर्म से बंधा है तबतक 'मूर्तिक' भी कहते हैं।

४. 'शरीरपरिमाण' कहा, वह निश्चय से तो असंख्यातप्रदेशी लोकपरिमाण है, परन्तु संकोच-विस्तारशक्ति से शरीर से कुछ कम प्रदेशप्रमाण आकार में रहता है।

५. 'अनादिनिधन' कहा, वह पर्यायदृष्टि से देखने पर तो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, तो भी द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो अनादिनिधन सदा नित्य अविनाशी है।

६. 'दर्शन-ज्ञान उपयोगसहित' कहा, वह देखने जाननेरूप उपयोगस्वरूप चेतनारूप है।

इन विशेषणों में अन्यमती अन्यप्रकार सर्वथा एकान्तरूप मानते हैं उनका निषेध भी जानना चाहिए। 'कर्ता' विशेषण से तो सांख्यमती सर्वथा अकर्ता मानता है उसका निषेध है। 'भोक्ता' विशेषण से बौद्धमती क्षणिक मानकर कहता है कि कर्म को करनेवाला तो और है तथा भोगनेवाला और है, इसका निषेध है। जो जीव कर्म करता है, उसका फल वही जीव भोगता है, इस कथन से बौद्धमती के कहने का निषेध है। 'अमूर्तिक' कहने से मीमांसक आदि इस शरीरसहित मूर्तिक ही मानते हैं, उनका निषेध है।

'शरीरप्रमाण' कहने से नैयायिक, वैशेषिक, वेदान्ती आदि सर्वथा, सर्वव्यापक मानते हैं उनका निषेध है। 'अनादिनिधन' कहने से बौद्धमती सर्वथा क्षणस्थायी मानता है, उसका निषेध है। 'दर्शनज्ञानोपयोगमयी' कहने से सांख्यमती तो ज्ञानरहित चेतनामात्र मानता है, नैयायिक, वैशेषिक, गुणगुणी के सर्वथा भेद मानकर ज्ञान और जीव के सर्वथा भेद मानते हैं, बौद्धमत का विशेष 'विज्ञानाद्वैतवादी' ज्ञानमात्र ही मानता है और वेदांती ज्ञान का कुछ निरूपण ही नहीं करता है, इन सबका निषेध है।

इसप्रकार सर्वज्ञ का कहा हुआ जीव का स्वरूप जानकर अपने को ऐसा मानकर श्रद्धा, रुचि, प्रतीति करना चाहिए। जीव कहने से अजीव पदार्थ भी जाना जाता है, अजीव न हो तो जीव नाम

जिन भावना से सहित भवि दर्शनावरण-ज्ञानावरण ।

अर मोहनी अन्तराय का जड़ मूल से मर्दन करें ॥१४९॥

हो घातियों का नाश दर्शन-ज्ञान-सुख-बल अनंते ।

हो प्रगट आतम माहिं लोकालोक आलोकित करें ॥१५०॥

कैसे होता, इसलिए अजीव का स्वरूप कहा है, वैसा ही उसका श्रद्धान आगम अनुसार करना। इसप्रकार अजीव पदार्थ का स्वरूप जानकर और इन दोनों के संयोग से अन्य आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - इन भावों की प्रवृत्ति होती है। इनका आगम के अनुसार स्वरूप जानकर श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१४८॥

आगे कहते हैं कि यह जीव 'ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी है' किन्तु अनादि पौद्गलिक कर्म के संयोग से इसके ज्ञान-दर्शन की पूर्णता नहीं होती है, इसलिए अल्प ज्ञान-दर्शन अनुभव में आता है और उमसें भी अज्ञान के निमित्त से इष्ट-अनिष्ट बुद्धिरूप राग-द्वेष-मोह-भाव के द्वारा ज्ञान-दर्शन में क्लुषतारूप सुख-दुःखादिक भाव अनुभव में आते हैं। यह जीव निजभावनारूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है तब ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य के घातक कर्मों का नाश करता है, ऐसा दिखाते हैं-

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं ।

णिट्टवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥१४९॥

दर्शनज्ञानावरणं मोहनीयं अन्तरायकं कर्म ।

निष्ठापयति भव्यजीवाः सम्यक् जिनभावनायुक्तः ॥१४९॥

अर्थ - सम्यक् प्रकार जिनभावना से युक्त भव्यजीव है वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, इन चार घातिया कर्मों का निष्ठापन करता है अर्थात् सम्पूर्ण अभाव करता है।

भावार्थ - दर्शन का घातक दर्शनावरण कर्म है, ज्ञान का घातक ज्ञानावरण कर्म है, सुख का घातक मोहनीय कर्म है, वीर्य का घातक अन्तराय कर्म है। इनका नाश कौन करता है ? सम्यक् प्रकार जिनभावना भाकर अर्थात् जिन आज्ञा मानकर जीव-अजीव आदि तत्त्व का यथार्थ निश्चय कर श्रद्धावान हुआ हो वह जीव करता है। इसलिए जिन आज्ञा मान कर यथार्थ श्रद्धान करने का यह उपदेश है ॥१४८॥

आगे कहते हैं कि इन घातिया कर्मों का नाश होने पर 'अनन्तचतुष्टय' प्रकट होते हैं -

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पयडा गुणा होंति ।

णट्टे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥१५०॥

यह आत्मा परमात्मा शिव विष्णु ब्रह्मा बुद्ध है।

ज्ञानि है परमेष्ठि है सर्वज्ञ कर्म विमुक्त है ॥१५१॥

बलसौख्यज्ञानदर्शनानि चत्वारोऽपि प्रकटागुणाभवन्ति ।

नष्टे घातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति ॥१५०॥

अर्थ – पूर्वोक्त चार घातिया कर्मों का नाश होने पर अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और बल (वीर्य) ये चार गुण प्रगट होते हैं। जब जीव के ये गुण की पूर्ण निर्मल दशा प्रकट होती है, तब लोकालोक को प्रकाशित करता है।

भावार्थ – घातिया कर्मों का नाश होने पर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये 'अनन्तचतुष्टय' प्रकट होते हैं। अनन्त दर्शनज्ञान से छह द्रव्यों से भरे हुए इस लोक में अनन्तानन्त जीवों को, इनसे भी अनन्तानन्तगुणे पुद्गलों को तथा धर्म-अधर्म-आकाश ये तीन द्रव्य और असंख्यात कालाणु इन सब द्रव्यों की अतीत अनागत और वर्तमानकालसंबंधी अनन्तपर्यायों को भिन्न-भिन्न एकसमय में स्पष्ट देखता है और जानता है। अनन्तसुख से अत्यंत तृप्तिरूप है और अनन्तशक्ति द्वारा अब किसी भी निमित्त से अवस्था पलटती (बदलती) नहीं है। ऐसे अनन्त चतुष्टयरूप जीव का निजस्वभाव प्रकट होता है, इसलिए जीव के स्वरूप का ऐसा परमार्थ से श्रद्धान करना वह ही सम्यग्दर्शन है ॥१५०॥

आगे जिसके अनन्तचतुष्टय प्रकट होते हैं, उसको परमात्मा कहते हैं। उसके अनेक नाम हैं, उनमें से कुछ प्रकट कर कहते हैं -

णाणी सिव परमेष्ठी सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो ।

अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥१५१॥

ज्ञानी शिवः परमेष्ठी सर्वज्ञः विष्णुः चतुर्मुखः बुद्धः ।

आत्मा अपि च परमात्मा कर्मविमुक्तः च भवति स्फुटम् ॥१५१॥

अर्थ – परमात्मा ज्ञानी है, शिव है, परमेष्ठी है, सर्वज्ञ है, विष्णु है, चतुर्मुखब्रह्मा है, बुद्ध है, आत्मा है, परमात्मा है और कर्मरहित है, यह स्पष्ट जानो।

भावार्थ – 'ज्ञानी' कहने से सांख्यमती ज्ञानरहित उदासीन चैतन्यमात्र मानता है उसका निषेध है। 'शिव' है अर्थात् सब कल्याणों से परिपूर्ण है, जैसा सांख्यमती नैयायिक वैशेषिक मानते हैं, वैसा नहीं है। 'परमेष्ठी' है सो परम (उत्कृष्ट) पद में स्थित है अथवा उत्कृष्ट इष्टत्व स्वभाव है।

घन-घाति कर्म विमुक्त अर त्रिभुवनसदन संदीप जो ।

अर दोष अष्टादश रहित वे देव उत्तम बोधि दें ॥१५२॥

जैसे अन्मयती कई अपना इष्ट कुछ मान करके उसको परमेष्ठी कहते हैं; वैसे नहीं है। 'सर्वज्ञ' है अर्थात् सब लोकालोक को जानता है, अन्य कितने ही किसी एक प्रकरण संबंधी सब बात जानता है उसको भी सर्वज्ञ कहते हैं वैसे नहीं है। 'विष्णु' है अर्थात् जिसका ज्ञान सब ज्ञेयों में व्यापक है-अन्यमती वेदांती आदि कहते हैं कि सब पदार्थों में आप है तो ऐसा नहीं है।

'चतुर्मुख' कहने से केवली अरहंत के समवसरण में चार मुख चारों दिशाओं में दीखते हैं, ऐसा अतिशय है, इसलिए चतुर्मुख कहते हैं - अन्यमती ब्रह्मा को चतुर्मुख कहते हैं - ऐसा ब्रह्मा कोई नहीं है। 'बुद्ध' है अर्थात् सबका ज्ञाता है-बौद्धमती क्षणिक को बुद्ध कहते हैं वैसे नहीं है। 'आत्मा' है अपने स्वभाव में ही निरन्तर प्रवर्तता है-अन्यमती वेदान्ती सबमें प्रवर्तते हुए आत्मा को मानते हैं वैसे नहीं है। 'परमात्मा' है अर्थात् आत्मा का पूर्णरूप 'अनन्तचतुष्टय' उसके प्रगट हो गये हैं, इसलिए परमात्मा है। कर्म जो आत्मा के स्वभाव के घातक घातियाकर्मों से रहित हो गये हैं, इसलिए 'कर्म विमुक्त' है अथवा कुछ करने योग्य काम न रहा इसलिए भी कर्मविमुक्त है। सांख्यमती, नैयायिक सदा ही कर्मरहित मानते हैं, वैसे नहीं है। ऐसे परमात्मा के सार्थक नाम हैं। अन्यमती अपने इष्ट का नाम एक ही कहते हैं, उनका सर्वथा एकान्त के अभिप्राय के द्वारा अर्थ बिगड़ता है, इसलिए यथार्थ नहीं है। अरहन्त के ये नाम नयविवक्षा से सत्यार्थ है, ऐसा जानो ॥१५१॥

आगे आचार्य कहते हैं कि ऐसा देव मुझे उत्तम बोधि देवे -

इय घाडकम्ममुक्को अट्टारहदोसवज्जिओ सयलो ।

तिहुवणभवणपदीवो देउ ममं उत्तमं बोहिं ॥१५२॥

इति घातिकर्ममुक्तः अष्टादशदोषवर्जितः सकलः ।

त्रिभुवनभवनप्रदीपः ददातु मह्यं उत्तमां बोधिम् ॥१५२॥

अर्थ - इसप्रकार घातिया कर्मों से रहित, क्षुधा-तृषा आदि पूर्वोक्त अठारह दोषों से रहित, सकल (शरीर सहित) और तीन भुवनरूपी भवन को प्रकाशित करने के लिए प्रकृष्टदीपक तुल्य देव है, वह मुझे उत्तम बोधि (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) की प्राप्ति देवे, इसप्रकार आचार्य ने प्रार्थना

जिनवर चरण में नमें जो नर परम भक्तिभाव से ।

वर भाव से वे उखाड़े भवबेलि को जड़मूल से ॥१५३॥

जल में रहें पर कमल पत्ते लिप्त होते हैं नहीं ।

सत्पुरुष विषय-कषाय में त्यों लिप्त होते हैं नहीं ॥१५४॥

की है।

भावार्थ – यहाँ और तो पूर्वोक्त प्रकार जानना, परन्तु 'सकल' विशेषण का यह आशय है कि मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करने के जो उपदेश हैं, वह वचन के प्रवर्ते बिना नहीं होते हैं और वचन की प्रवृत्ति शरीर बिना नहीं होती है, इसलिए अरहंत का आयु कर्म के उदय से शरीर सहित अवस्थान रहता है और सुस्वर आदि नामकर्म के उदय से वचन की प्रवृत्ति होती है। इस तरह अनेक जीवों का कल्याण करनेवाला उपदेश होता रहता है। अन्यमतियों के ऐसा अवस्थान (ऐसी स्थिति) परमात्मा के संभव नहीं है, इसलिए उपदेश की प्रवृत्ति नहीं बनती है, तब मोक्षमार्ग का उपदेश भी नहीं बनता है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१५२॥

आगे कहते हैं कि जो ऐसे अरहंत जिनेश्वर के चरणों में नमस्कार करते हैं, वे संसार की जन्मरूप बेल को काटते हैं -

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभक्तिराण ।

ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥

जिनवरचरणांबुरुहं नमंतिये परमभक्तिरागेण ।

ते जन्मवल्लीमूलं खनंति वरभावशस्त्रेण ॥१५३॥

अर्थ – जो पुरुष परम भक्ति अनुराग से जिनवर के चरणकमलों को नमस्कार करते हैं, वे श्रेष्ठभावरूप 'शस्त्र' से जन्म अर्थात् संसाररूपी बेल के मूल जो मिथ्यात्व आदि कर्म, उसको नष्ट कर डालते हैं (खोद डालते हैं)।

भावार्थ – अपनी श्रद्धा-रुचि-प्रतीति से जो जिनेश्वरदेव को नमस्कार करता है, उनके सत्यार्थस्वरूप सर्वज्ञ वीतरागपने को जानकर भक्ति के अनुराग से नमस्कार करता है, तब ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का यह चिह्न है, इसलिए मालूम होता है कि इसके मिथ्यात्व का नाश हो गया, अब आगामी संसार की वृद्धि इसके नहीं होगी, इसप्रकार बताया है ॥१५३॥

आगे कहते हैं कि जो जिनसम्यक्त्व को प्राप्त पुरुष है सो वह आगामी कर्म से लिप्त नहीं होता है -

१. पाठान्तरः - चिय !

२. पाठान्तरः - ज्ञान् अपि ।

सब शील संयम गुण सहित जो उन्हें हम मुनिवर कहें ।

बहु दोष के आवास जो हैं अरे श्रावक सम न वे ॥१५५॥

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं
 स हा व प य ड ी ए ।
 तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥१५४॥
 यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्र स्वभावप्रकृत्या ।
 तथा भावेन न लिप्यते कषायविषयैः सत्पुरुषः ॥१५४॥

अर्थ – जैसे कमलिनी का पत्र अपने स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि सत् पुरुष है, वह अपने भाव से ही क्रोधादिक कषाय और इन्द्रियों के विषयों से लिप्त नहीं होता है ।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि पुरुष के मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का तो सर्वथा अभाव ही है, अन्य कषायों का यथासंभव अभाव है । मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के अभाव से ऐसा भाव होता है जो परद्रव्यमात्र के कर्तृत्व की बुद्धि तो नहीं है, परन्तु शेष कषायों के उदय से कुछ राग-द्वेष होता है, उसको कर्म के उदय के निमित्त से हुए जानता है, इसलिए उसमें भी कर्तृत्वबुद्धि नहीं है, तो भी उन भावों को रोग के समान हुए जानकर अच्छा नहीं समझता है । इसप्रकार अपने भावों से ही कषाय-विषयों से प्रीति बुद्धि नहीं है, इसलिए उनसे लिप्त नहीं होता है, जलकमलवत् निर्लेप रहता है । इससे आगामी कर्म का बन्ध नहीं होता है, संसार की वृद्धि नहीं होती है, ऐसा आशय है ॥१५४॥

आगे कहते हैं कि जो पूर्वोक्त भाव सहित सम्यग्दृष्टि सत्पुरुष हैं, वे ही सकल शील संयमादि गुणों से संयुक्त हैं, अन्य नहीं हैं –

ते ऽच्चिय भणामि हं जे सयलकलाशीलसंजमगुणेहिं ।
 बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥१५५॥
 तानेव च भणामि ये सकलकलाशीलसंयमगुणैः ।
 बहुदोषाणामावासः सुमलिनचित्तः न श्रावकसमः सः ॥१५५॥

जीते जिन्होंने प्रबल दुर्द्धर अर अजेय कषाय भट ।
 रे क्षमादम तलवार से वे धीर हैं वे वीर हैं ॥१५६॥
 विषय सागर में पड़े भवि ज्ञान-दर्शन करों से ।
 जिनने उतारे पार जग में धन्य हैं भगवंत वे ॥१५७॥

अर्थ – पूर्वोक्त भावसहित सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और शील संयम गुणों से सकल कला अर्थात् संपूर्ण कलावान् होते हैं, उन ही को हम मुनि कहते हैं। जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, मलिनचित्तसहित मिथ्यादृष्टि है और बहुत दोषों का आवास (स्थान) है, वह तो भेष धारण करता है तो भी श्रावक के समान भी नहीं है।

भावार्थ – जो सम्यग्दृष्टि है और शील (उत्तर गुण) तथा संयम (मूलगुण) सहित है वह मुनि है। जो मिथ्यादृष्टि है अर्थात् जिसका चित्त मिथ्यात्व से मलिन है और जिसमें क्रोधादि विकाररूप बहुत दोष पाये जाते हैं, वह तो मुनि का भेष धारण करता है तो भी श्रावक के समान भी नहीं है, श्रावक सम्यग्दृष्टि हो और गृहस्थाचार के पापसहित हो तो भी उसके बराबर वह केवल भेषमात्र को धारण करनेवाला मुनि नहीं है ऐसा आचार्य ने कहा है ॥१५५॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि होकर जिनने कषायरूप सुभट जीते, वे ही धीरवीर हैं –

ते धीरवीरपुरिसा ख्रमदमख्रगेण विष्फुरंतेण ।

दुर्जयप्रबलबलुद्धरकषायभट्टा णिज्जिया जेहिं ॥१५६॥

ते धीरवीरपुरुषाः क्षमादमख्रङ्गेण विस्फुरता ।

दुर्जयप्रबलबलोद्धतकषायभटाः निर्जिता यैः ॥१५६॥

अर्थ – जिन पुरुषों ने क्षमा और इन्द्रियों का दमन, वह ही हुआ विस्फुरता अर्थात् सजाया हुआ मलिनतारहित उज्ज्वल खड्ग, उससे जिनको जीतना कठिन है ऐसे दुर्जय, प्रबल तथा बल से उद्धत कषायरूप सुभटों को जीते, वे ही धीरवीर सुभट हैं, अन्य संग्रामादिक में जीतनेवाले तो 'कहने के सुभट' हैं।

भावार्थ – युद्ध में जीतनेवाले शूरवीर तो लोक में बहुत हैं, परन्तु कषायों को जीतनेवाले विरले हैं, वे मुनिप्रधान हैं और वे ही शूरवीरों में प्रधान है। जो सम्यग्दृष्टि होकर कषायों को जीतकर चारित्रवान् होते हैं वे मोक्ष पाते हैं, ऐसा आशय है ॥१५६॥

आगे कहते हैं कि आप दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होते हैं, वे अन्य को भी उन सहित करते हैं,

पुष्पित विषयमय पुष्पों से अर मोहवृक्षारूढ़ जो ।

अशेष माया बेलि को मुनि ज्ञानकरवत काटते ॥१५८॥

मोहमद गौरवरहित करुणासहित मुनिराज जो ।

अरे पापस्तंभ को चारित खड्ग से काटते ॥१५९॥

उनको धन्य है -

धण्णा ते भगवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं ।
 विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥१५७॥
 ते धन्याः भगवंतः दर्शनज्ञानाग्रप्रवरहस्तैः ।
 विषयमकरधरपतिताः भव्याः उत्तारिताः यैः ॥१५७॥

अर्थ - जिन सत्पुरुषों ने विषयरूप मकरधर (समुद्र) में पड़े हुए भव्यजीवों को दर्शन और ज्ञानरूपी मुख्य दोनों हाथों से पार उतार दिये, वे मुनिप्रधान भगवान् इन्द्रादिक से पूज्य ज्ञानी धन्य हैं ।

भावार्थ - इस संसार-समुद्र से आप तिरे और दूसरों को तिरा देवें उन मुनियों को धन्य है । धनादिक सामग्रीसहित को 'धन्य' कहते हैं, वह तो 'कहने के लिए धन्य' हैं ॥१५७॥

आगे फिर ऐसे मुनियों की महिमा करते हैं -

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा ।
 विसयविसपुप्फुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥१५८॥
 मायावल्लीं अशेषां मोहमहातरुवरे आरूढाम् ।
 विषयविषपुष्पपुष्पितां लुनंति मुनयः ज्ञानशस्त्रैः ॥१५८॥

अर्थ - माया (कपट) रूपी बेल जो मोहरूपी महा वृक्ष पर चढ़ी हुई है तथा विषयरूपी विष के फूलों से फूल रही है, उसको मुनि ज्ञानरूपी शस्त्र से समस्ततया काट डालते हैं अर्थात् निःशेष कर देते हैं ।

भावार्थ - यह मायाकषाय गूढ़ है, इसका विस्तार भी बहुत है, मुनियों तक फैलती है, इसलिए जो मुनि ज्ञान से इसको काट डालते हैं वे ही सच्चे मुनि हैं, वे ही मोक्ष पाते हैं ॥१५८॥

आगे फिर उन मुनियों की सामर्थ्य को कहते हैं -

सद्गुणों की मणिमाल जिनमत गगन में मुनि निशाकर ।
 तारावली परिवेष्टित हैं शोभते पूर्णेन्दु सम ॥१६०॥
 चक्रधर बलराम केशव इन्द्र जिनवर गणपति ।
 अर ऋद्धियों को पा चुके जिनके हैं भाव विशुद्धवर ॥१६१॥

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता ।
 ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥
 मोहमदगारवैः च मुक्ताः ये करुणभावसंयुक्ताः ।
 ते सर्वदुरितस्तंभं घ्नंति चारित्रखड्गेण ॥१५९॥

अर्थ – जो मुनि मोह-मद-गौरव से रहित हैं और करुणाभाव सहित हैं, वे ही चारित्ररूपी खड्ग से पापरूपी स्तंभ को हनते हैं अर्थात् मूल से काट डालते हैं ।

भावार्थ – परद्रव्य से ममत्वभाव को 'मोह' कहते हैं। 'मद' -जाति आदि परद्रव्य के संबंध से गर्व होने को 'मद' कहते हैं। 'गौरव' तीन प्रकार का है - ऋद्धिगौरव, सातगौरव और रसगौरव। जो कुछ तपोबल से अपनी महंतता लोक में हो उसका अपने को मद आवे, उसमें हर्ष माने वह 'ऋद्धिगौरव' है। यदि अपने शरीर में रोगादिक उत्पन्न न हों तो सुख माने तथा प्रमादयुक्त होकर अपना महंतपना माने 'सातगौरव' है। यदि मिष्ट पुष्ट रसीला आहारादिक मिले तो उसके निमित्त से प्रमत्त होकर शयनादिक करे 'रसगौरव' है। मुनि इसप्रकार गौरव से तो रहित हैं और परजीवों की करुणा से सहित हैं - ऐसा नहीं है कि परजीवों से मोह ममत्व नहीं है इसलिए निर्दय होकर उनको मारते हैं, परन्तु जबतक राग अंश रहता है तबतक परजीवों की करुणा ही करते हैं, उपकारबुद्धि रहती है। इसप्रकार ज्ञानी मुनि पाप रूप अशुभकर्म, उसका चारित्र के बल से नाश करते हैं ॥१५९॥

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार मूलगुण और उत्तरगुणों से मंडित मुनि हैं वे जिनमत में शोभा पाते हैं -

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो ।
 तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइं दुव्व पवणपहे ॥१६०॥
 गुणगणमणिमालया जिनमतगगने निशाकरमुनींद्रः ।
 तारावलीपरिकरितः पूर्णिमेन्दुरिव पवनपथे ॥१६०॥

अर्थ – जैसे पवनपथ (आकाश) में ताराओं की पंक्ति के परिवार से वेष्टित पूर्णिमा का

जो अमर अनुपम अतुल शिव अर परम उत्तम विमल है ।
 पा चुके ऐसा मुक्ति सुख जिनभावना भा नेक नर ॥१६२॥
 जो निरंजन हैं नित्य हैं त्रैलोक्य महिमावंत हैं ।
 वे सिद्ध दर्शन-ज्ञान अर चारित्र शुद्धि दें हमें ॥१६३॥

चन्द्रमा शोभा पाता है, वैसे ही जिनमत रूप आकाश में गुणों के समूहरूपी मणियों की माला से मुनीन्द्ररूप चन्द्रमा शोभा पाता है।

भावार्थ – अट्टाईस मूलगुण, दशलक्षण धर्म, तीन गुप्ति और चौरासी लाख उत्तरगुणों की मालासहित मुनि जिनमत में चन्द्रमा के समान शोभा पाता है, ऐसे मुनि अन्यमत में नहीं हैं ॥१६०॥

आगे कहते हैं कि जिनके इसप्रकार विशुद्ध भाव हैं, वे सत्पुरुष तीर्थकर आदि पद के सुखों को पाते हैं –

चक्रधररामकेशवसुरवरजिणगणहराइसोक्खाइं ।

चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥१६१॥

चक्रधररामकेशवसुरवरजिनगणधरादिसौख्यानि ।

चारणमुन्यद्धीः विशुद्धभावा नराः प्राप्ताः ॥१६१॥

अर्थ – विशुद्ध भाववाले ऐसे नर मुनि हैं, वह चक्रधर (चक्रवती, छह खंड का राजेन्द्र) राम (बलभद्र), केशव (नारायण, अर्द्धचक्री) सुरवर (देवों का इन्द्र) जिन (तीर्थकर पंचकल्याणक सहित, तीनलोक से पूज्य पद) गणधर (चार ज्ञान और सप्तऋद्धि के धारक मुनि) इनके सुखों का तथा चारणमुनि (जिनके आकाशगामिनी आदि ऋद्धियाँ पाई जाती हैं) की ऋद्धियों को प्राप्त हुए।

भावार्थ – पहिले इसप्रकार निर्मल भावों के धारक पुरुष हुए वे इसप्रकार के पदों के सुखों को प्राप्त हुए, अब जो ऐसे होंगे वे पावेंगे, ऐसा जानो ॥१६१॥

आगे कहते हैं कि मोक्ष का सुख भी ऐसे ही पाते हैं –

शिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं ।

पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६२॥

शिवमजरामरलिंगं अनुपममुत्तमं परमविमलमतुलम् ।

प्राप्तो वरसिद्धिसुखं जिनभावनाभाविता जीवाः ॥१६२॥

इससे अधिक क्या कहें हम धर्मार्थकाम रु मोक्ष में।

या अन्य सब ही कार्य में है भाव की ही मुख्यता ॥१६४॥

इस तरह यह सर्वज्ञ भासित भावपाहुड जानिये।

भाव से जो पढ़ें अविचल थान को वे पायेंगे ॥१६५॥

अर्थ – जो जिनभावना से भावित जीव हैं वे ही सिद्धि अर्थात् मोक्ष के सुख को पाते हैं। कैसा है सिद्धि सुख ? ‘शिव’ है, कल्याणरूप है, किसीप्रकार उपद्रव सहित नहीं है, ‘अजरामरलिंग’ है अर्थात् जिसका चिह्न वृद्ध होना और मरना इन दोनों से रहित है, ‘अनुपम’ है जिसको संसार के सुख की उपमा नहीं लगती है, ‘उत्तम’ (सर्वोत्तम) है, ‘परम’ (सर्वोत्कृष्ट) है, महार्घ्य है अर्थात् महान् अर्घ्य पूज्य प्रशंसा के योग्य है, ‘विमल’ है कर्म के मल तथा रागादिकमल से रहित है। ‘अतुल’ है, इसके बराबर संसार का सुख नहीं है, ऐसे सुख को जिनभक्त पाता है, अन्य का भक्त नहीं पाता है ॥१६२॥

आगे आचार्य प्रार्थना करते हैं कि जो ऐसे सिद्धसुख को प्राप्त हुए सिद्ध भगवान् वे मुझे भावों की शुद्धता देवें –

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा ।

दिंतु वरभावसुद्धिं दंसण णाणे चरित्ते य ॥१६३॥

ते मे त्रिभुवनसहिताः सिद्धाः सुद्धाः निरंजनाः नित्याः ।

ददतु वरभावशुद्धिं दर्शने ज्ञाने चारित्रे च ॥१६३॥

अर्थ – सिद्ध भगवान् मुझे दर्शन-ज्ञान में और चारित्र में श्रेष्ठ उत्तमभाव की शुद्धता देवें। कैसे हैं सिद्ध भगवान् ? तीन भुवन से पूज्य हैं, शुद्ध हैं अर्थात् द्रव्यकर्म और नोकर्मरूप मल से रहित हैं, निरंजन है अर्थात् रागादि कर्म से रहित हैं, जिनके कर्म की उत्पत्ति नहीं है, नित्य हैं – प्राप्त स्वभाव का फिर नाश नहीं है।

भावार्थ – आचार्य ने शुद्धभाव का फल सिद्ध अवस्था और जो निश्चय से इस फल को प्राप्त हुए सिद्ध, इनसे यही प्रार्थना की है कि शुद्धभाव की पूर्णता हमारे होवे ॥१६३॥

आगे भाव के कथन का संकोच करते हैं –

किं जंपिण्ण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो च ।

अण्णे वि य वावारा भावम्मि परिठ्ठिया सव्वे ॥१६४॥

किं जल्पितेन बहुणा अर्थः धर्मः च काममोक्षः च ।

अन्ये अपि च व्यापाराः भावे परिस्थिताः सर्वे ॥१६४॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या ? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और अन्य जो कुछ व्यापार है वह सब ही शुद्धभाव में समस्तरूप से स्थित है।

भावार्थ – पुरुष के चार प्रयोजन प्रधान हैं – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। अन्य भी जो कुछ

मंत्रसाधनादिक व्यापार हैं, वे आत्मा के शुद्ध चैतन्य परिणामस्वरूप भाव में स्थित हैं। शुद्धभाव से सब सिद्धि है, इसप्रकार संक्षेप में कहना जानो, अधिक क्या कहें? ॥१६४॥

आगे इस भावपाहुड को पूर्ण करते हैं, इसके पढ़ने सुनने व भाव करने का (चिन्तन का) उपदेश करते हैं -

इय भावपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहि देसियं सम्मं ।

जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६५॥

इति भावप्राभृतमिदं सर्वबुद्धैः देशितं सम्यक् ।

यः पठति शृणोति भावयति सः प्राप्नोति अविचलं

स् थ ा न म् । । १ ६ ५ । ।

अर्थ - इसप्रकार इस भावपाहुड का सर्वबुद्ध-सर्वज्ञदेव ने उपदेश दिया है, इसको जो भव्यजीव सम्यक्प्रकार से पढ़ते हैं, सुनते हैं और इसका चिन्तन करते हैं, वे शाश्वत सुख के स्थान मोक्ष को पाते हैं।

भावार्थ - यह भावपाहुड ग्रंथ सर्वज्ञ की परम्परा से अर्थ लेकर आचार्य ने कहा है, इसलिए सर्वज्ञ का ही उपदेश है, केवल छद्मस्थ का ही कहा हुआ नहीं है, इसलिए आचार्य ने अपना कर्तव्य प्रधान कर नहीं कहा है। इसके पढ़ने सुनने का फल मोक्ष कहा, वह युक्त ही है, शुद्धभाव से मोक्ष होता है और इसके पढ़ने से शुद्धभाव होते हैं। (नोंध - यहाँ स्वाश्रयी निश्चय में शुद्धता करे तो निमित्त में शास्त्र पठनादि में व्यवहार से निमित्त कारण-परम्परा कारण कहा जाय। अनुपचार=निश्चय बिना उपचार=व्यवहार कैसा ?) इसप्रकार इसका पढ़ना, सुनना, धारणा और भावना करना परम्परा मोक्ष का कारण है।

इसलिए हे भव्यजीवों ! इस भावपाहुड को पढ़ो, सुनो, सुनाओ, भावो और निरन्तर अभ्यास करो जिससे भाव शुद्ध हों और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को पाकर मोक्ष को प्राप्त करो तथा वहाँ परमानंदरूप शाश्वतसुख को भोगो।

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दनामक आचार्य ने भावपाहुडग्रंथ पूर्ण किया।

इसका संक्षेप ऐसे है - जीवनामक वस्तु का एक असाधारण शुद्ध अविनाशी चेतना स्वभाव

१. 'शुद्धभाव' का निरूपण दो प्रकार से किया गया है, जैसे 'मोक्षमार्ग दो नहीं हैं' किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार का है, इसीप्रकार शुद्धभाव को जहाँ दो प्रकार के कहे हैं, वहाँ निश्चयनय से और व्यवहारनय से कहा है - ऐसा समझना चाहिए। निश्चय सम्यग्दर्शनादि है उसे ही व्य. मान्य है और उसे ही निरतिचार व्यवहार रत्नत्रयादिक में व्यवहार से 'शुद्धत्व' अथवा 'शुद्ध संप्रयोगत्व' का आरोप आता है, जिसको व्यवहार में 'शुद्धभाव' कहा है, उसी को निश्चय अपेक्षा अशुद्ध कहा है-विरुद्ध कहा है, किन्तु व्यवहारनय से व्यवहारविरुद्ध नहीं है।

है। इसकी शुद्ध, अशुद्ध दो परिणति हैं। शुद्ध दर्शन-ज्ञानोपयोगरूप परिणमना 'शुद्धपरिणति' है, इसको शुद्धभाव कहते हैं। कर्म के निमित्त से राग-द्वेष-मोहादिक विभावरूप परिणमना 'अशुद्ध परिणति' है, इसको अशुद्धभाव कहते हैं। कर्म का निमित्त अनादि से है, इसलिए अशुद्धभावरूप अनादि ही से परिणमन कर रहा है। इस भाव से शुभ-अशुभ कर्म का बंध होता है, इस बंध के उदय से फिर शुभ या अशुभ भावरूप (अशुद्धभावरूप) परिणमन करता है, इसप्रकार अनादि संतान चला आता है। जब इष्टदेवतादिक की भक्ति, जीवों की दया, उपकार मंदकषायरूप परिणमन करता है, तब तो शुभकर्म का बंध करता है। इसके निमित्त से देवादिक पर्याय पाकर कुछ सुखी होता है। जब विषय-कषाय तीव्र परिणामरूप परिणमन करता है तब पाप का बंध करता है, इसके उदय से नरकादि पर्याय पाकर दुःखी होता है।

इसप्रकार संसार में अशुद्धभाव से अनादिकाल से यह जीव भ्रमण करता है। जब कोई काल ऐसा आवे जिसमें जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ वीतराग के उपदेश की प्राप्ति हो और उसका श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण करे तब स्व और पर का भेदज्ञान करके शुद्ध-अशुद्ध भाव का स्वरूप जानकर अपने हित-अहित का श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण हो तब शुद्धदर्शनज्ञानमयी शुद्ध चेतना परिणमन को तो 'हित' जाने, इसका फल संसार की निवृत्ति है, इसको जाने और अशुद्ध भाव का फल संसार है, इसको जाने, तब शुद्धभाव के ग्रहण का और अशुद्धभाव के त्याग का उपाय करे। उपाय का स्वरूप जैसे सर्वज्ञ वीतराग के आगम में कहा है, वैसे करे।

इसका स्वरूप निश्चयव्यवहारात्मक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग कहा है। शुद्धस्वरूप के श्रद्धान ज्ञान चारित्र को 'निश्चय' कहा है और जिनदेव सर्वज्ञ वीतराग तथा उसके वचन और उन वचनों के अनुसार प्रवर्तनवाले मुनि श्रावक की भक्ति वन्दना विनय वैयावृत्य करना 'व्यवहार' है, क्योंकि यह मोक्षमार्ग में प्रवर्तने को उपकारी है। उपकारी का उपकार मानना न्याय है, उपकार लोपना अन्याय है। स्वरूप के साधक अहिंसा आदि महाव्रत तथा रत्नत्रयरूप प्रवृत्ति, समिति, गुप्तिरूप प्रवर्तना और इनमें दोष लगने पर अपनी निंदा गर्हादिक करना, गुरुओं का दिया हुआ प्रायश्चित्त लेना, शक्ति के अनुसार तप करना, परिषह सहना, दशलक्षणधर्म में प्रवर्तना इत्यादि शुद्धात्मा के अनुकूल क्रियारूप प्रवर्तना, इनमें कुछ राग का अंश रहता है, तबतक शुभकर्म का बंध होता है तो भी वह प्रधान नहीं है, क्योंकि इनमें प्रवर्तनेवाले के शुभकर्म के फल की इच्छा नहीं है, इसलिए अबंधतुल्य है, इत्यादि प्रवृत्ति आगमोक्त 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है। इसमें प्रवृत्तिरूप परिणाम हैं तो भी निवृत्तिप्रधान है, इसलिए निश्चय मोक्षमार्ग में विरोध नहीं है।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहारस्वरूप मोक्षमार्ग का संक्षेप है। इसी को 'शुद्धभाव' कहा है। इसमें भी सम्यग्दर्शन को प्रधान कहा है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सब व्यवहार मोक्ष का कारण नहीं है और सम्यग्दर्शन के व्यवहार में जिनदेव की भक्ति प्रधान है, यह सम्यग्दर्शन को बताने के लिए मुख्य चिह्न है, इसलिए जिनभक्ति निरंतर करना और जिन आज्ञा मानकर आगमोक्त मार्ग में प्रवर्तना यह श्रीगुरु का उपदेश है। अन्य जिन-आज्ञा सिवाय सब कुमार्ग हैं, उनका प्रसंग छोड़ना, इसप्रकार करने से आत्मकल्याण होता है।

अथ मोक्षपाहुड

६

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

अथ मोक्षपाहुड की वचनिका लिख्यते ।
प्रथम ही मंगल के लिये सिद्धों को नमस्कार करते हैं -
(दोहा)

अष्ट कर्म को नाश करि, शुद्ध अष्ट गुण पाय ।
भये सिद्ध निज ध्यानतैं, नमूं मोक्षसुखदाय ॥१॥

इसप्रकार मंगल के लिए सिद्धों को नमस्कार कर श्रीकुन्दकुन्द आचार्यकृत 'मोक्षपाहुड' ग्रंथ प्राकृत गाथाबन्ध है, उसकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं । प्रथम ही आचार्य मंगल के लिए परमात्मा को नमस्कार करते हैं -

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।
चड्ऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥१॥
ज्ञानमय आत्मा उपलब्धः येन क्षरितकर्मणा ।
त्यक्त्वा च परद्रव्यं नमो नमस्तस्मै देवाय ॥१॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि जिसने परद्रव्य को छोड़कर के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म खिरा दिये हैं, ऐसे होकर निर्मल ज्ञानमयी आत्मा को प्राप्त कर लिया है इसप्रकार के देव को हमारा नमस्कार हो-नमस्कार हो । दो बार कहने में अतिप्रीतियुक्त भाव बताये हैं ।

भावार्थ - यह 'मोक्षपाहुड' का प्रारंभ है । यहाँ जिनने समस्त परद्रव्य को छोड़कर कर्म का अभाव करके केवलज्ञानानंदस्वरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लिया है, उस देव को मंगल के लिए

परद्रव्य को परित्याग पाया ज्ञानमय निज आत्मा ।
शत बार उनको हो नमन निष्कर्म जो परमात्मा ॥१॥

नमस्कार किया - यह युक्त है। जहाँ जैसा प्रकरण वहाँ वैसी योग्यता। यहाँ भाव-मोक्ष तो अरहंत के हैं और द्रव्य-भाव दोनों प्रकार के मोक्ष सिद्ध परमेष्ठी के हैं, इसलिए दोनों को नमस्कार जानो ॥१॥

आगे इसप्रकार नमस्कार कर ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा करते हैं -

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं ।
 वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥२॥
 नत्वा च तं देवं अनंतवरज्ञानदर्शनं शुद्धम् ।
 वक्ष्ये परमात्मानं परमपदं परमयोगिनाम् ॥२॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि उस पूर्वोक्त देव को नमस्कार कर, परमात्मा जो उत्कृष्ट शुद्ध आत्मा उसको, परम योगीश्वर जो उत्कृष्ट योग्य ध्यान के करनेवाले मुनिराजों के लिए कहूँगा। कैसा है पूर्वोक्त देव ? जिसके अनन्त और श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन पाया जाता है, विशुद्ध है-कर्ममल से रहित है, जिसका पद परम उत्कृष्ट है।

भावार्थ - इस ग्रंथ में मोक्ष को जिस कारण से पावे और जैसा मोक्षपद है, वैसा वर्णन करेंगे, इसलिए उसी रीति उसी की प्रतिज्ञा की है। योगीश्वरों के लिए कहेंगे, इसका आशय यह है कि ऐसे मोक्षपद को शुद्ध परमात्मा के ध्यान द्वारा प्राप्त करते हैं, उस ध्यान की योग्यता योगीश्वरों के ही प्रधानरूप से पाई जाती है, गृहस्थों के यह ध्यान प्रधान नहीं है ॥२॥

आगे कहते हैं कि जिस परमात्मा को कहने की प्रतिज्ञा की है उसको योगी ध्यानी मुनि जानकर उसका ध्यान करके परम पद को प्राप्त करते हैं -

जं जाणिऊण जोई जोअत्थो जोइऊण अणवरयं ।
 अब्वाबाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं ॥३॥
 यत् ज्ञात्वा योगी योगस्थः दष्ट्वा अनवरतम् ।
 अब्याबाधमनंतं अनुपमं लभते निर्वाणम् ॥३॥

परमपदथित शुध अपरिमित ज्ञान-दर्शनमय प्रभु ।
 को नमन कर हे योगिजन ! परमात्म का वर्णन करूँ ॥२॥
 योगस्थ योगीजन अनवरत अरे ! जिसको जान कर ।
 अनंत अब्याबाध अनुपम मोक्ष की प्राप्ति करें ॥३॥

अर्थ – आगे कहेंगे कि परमात्मा को जानकर योगी (मुनि) योग (ध्यान) में स्थित होकर निरन्तर उस परमात्मा को अनुभवगोचर करके निर्वाण को प्राप्त होता है। कैसा है निर्वाण ? ‘अव्याबाध’ है, जहाँ किसी प्रकार की बाधा नहीं है। ‘अनन्त’ है जिसका नाश नहीं है। ‘अनुपम’ है, जिसको किसी की उपमा नहीं लगती है।

भावार्थ – आचार्य कहते हैं कि ऐसे परमात्मा को आगे कहेंगे जिसके ध्यान में मुनि निरन्तर अनुभव करके केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। यहाँ यह तात्पर्य है कि परमात्मा के ध्यान से मोक्ष होता है ॥३॥

आगे परमात्मा कैसा है ऐसा बताने के लिए आत्मा को तीन प्रकार का दिखाते हैं –

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो १हु देहीणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चइवि बहिरप्पा ॥४॥
त्रिप्रकारः स आत्मा परमन्तः बहिः स्फुटं देहिनाम् ।
तत्र परं ध्यायते अन्तरुपायेन त्यज बहिरात्मानम् ॥४॥

अर्थ – वह आत्मा प्राणियों के तीन प्रकार का है; अंतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। अंतरात्मा के उपाय द्वारा बहिरात्मपन को छोड़कर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

भावार्थ – बहिरात्मपन को छोड़कर अंतरात्मास्वरूप होकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए, इससे मोक्ष होता है ॥४॥

आगे तीनप्रकार के आत्मा का स्वरूप दिखाते हैं –

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा तु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥
अक्षाणि बहिरात्मा अन्तरात्मा स्फुटं आत्मसंकल्पः ।
कर्मकलंकविमुक्तः परमात्मा भण्यते देवः ॥५॥

१. मुद्रित संक्र प्रति में ‘हु हेऊण’ ऐसा पाठ है जिसकी संस्कृत ‘तु हित्वा’ की है।

त्रिविध आतमराम में बहिरातमापन त्यागकर ।
अन्तरात्म के आधार से परमात्मा का ध्यान धर ॥४॥
ये इन्द्रियाँ बहिरात्मा अनुभूति अन्तर आतमा ।
जो कर्ममल से रहित हैं वे देव हैं परमात्मा ॥५॥

अर्थ – अक्ष अर्थात् स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ वह तो बाह्य आत्मा है, क्योंकि इन्द्रियों से स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान होता है तब लोग कहते हैं कि ऐसे ही जो इन्द्रियाँ हैं, वही आत्मा है, इसप्रकार इन्द्रियों को बाह्य आत्मा कहते हैं। अंतरात्मा है वह अंतरंग में आत्मा का प्रकट अनुभवगोचर संकल्प है शरीर और इन्द्रियों से भिन्न मन के द्वारा देखने, जाननेवाला है, वह मैं हूँ, इसप्रकार स्वसंवेदनगोचर संकल्प वही अन्तरात्मा है तथा परमात्मा कर्म जो द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिक तथा भावकर्म जो राग-द्वेष-मोहादिक और नोकर्म जो शरीरादिक कलंकमल से विमुक्त-रहित, अनंतज्ञानादिक गुणसहित वही परमात्मा है, वही देव है, अन्य को देव कहना उपचार है।

भावार्थ – बाह्य आत्मा तो इन्द्रियों को कहा तथा अंतरात्मा देह में स्थित देखना जानना जिनके पाया जाता है ऐसा मन के द्वारा संकल्प है और परमात्मा कर्मकलंक से रहित कहा। यहाँ ऐसा बताया है कि यह जीव ही जबतक बाह्य शरीरादिक को ही आत्मा जानता है तबतक तो बहिरात्मा है, संसारी है, जब यही जीव अंतरंग में आत्मा को जानता है तब यह सम्यग्दृष्टि होता है तब अन्तरात्मा है और यह जीव जब परमात्मा के ध्यान से कर्मकलंक से रहित होता है, तब पहिले तो केवलज्ञान प्राप्त कर अरहंत होता है, पीछे सिद्धपद को प्राप्त करता है, इन दोनों को ही परमात्मा कहते हैं। अरहंत तो भाव कलंक रहित हैं और सिद्ध द्रव्य-भावरूप दोनों ही प्रकार के कलंक से रहित हैं, इसप्रकार जानो ॥५॥

आगे उस परमात्मा का विशेषण द्वारा स्वरूप कहते हैं -

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो
 वि स ँ ष्ट प ा ।
 परमेष्ठी परमजिणो सिवकरो सासओ सिद्धो ॥६॥
 मलरहितः कलत्यक्तः अनिन्द्रियः केवलः विशुद्धात्मा ।
 परमेष्ठी परमजिनः शिवंकरः शाश्वतः सिद्धः ॥६॥

अर्थ – परमात्मा ऐसा है - मलरहित है - द्रव्यकर्म भावकर्मरूप मल से रहित है, कलत्यक्त (शरीर रहित) है, अनिन्द्रिय (इन्द्रिय रहित) है अथवा अनिन्दित अर्थात् किसीप्रकार निंदायुक्त नहीं है, सबप्रकार से प्रशंसा योग्य है, केवल (केवलज्ञानमयी) है, विशुद्धात्मा, जिसकी आत्मा का

है परमजिन परमेष्ठी है शिवंकर जिन शाश्वता ।

केवल अनिन्द्रिय सिद्ध है कल-मलरहित शुद्धात्मा ॥६॥

स्वरूप विशेषरूप से शुद्ध है, ज्ञान में ज्ञेयों के आकार झलकते हैं तो भी उनरूप नहीं होता है और न उनसे राग-द्वेष है, परमेष्ठी है - परमपद में स्थित है, परमजिन है, सब कर्मों को जीत लिये हैं, शिवंकर है-भव्यजीवों को परम मंगल तथा मोक्ष को करता है, शाश्वता (अविनाशी) है, सिद्ध है, अपने स्वरूप की सिद्धि करके निर्वाणपद को प्राप्त हुआ है।

भावार्थ - ऐसा परमात्मा है, जो इसप्रकार से परमात्मा का ध्यान करता है वह ऐसा ही हो जाता है ॥६॥

आगे भी यही उपदेश करते हैं -

आरुहवि अन्तरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।

झाइज्जइ परमप्पा उवइट्टं जिणवरिंदेहिं ॥७॥

आरुह्य अंतरात्मानं बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।

ध्यायते परमात्मा उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥७॥

अर्थ - बहिरात्मपन को मन वचन काय से छोड़कर अन्तरात्मा का आश्रय लेकर परमात्मा का ध्यान करो, यह जिनवरेन्द्र तीर्थंकर परमदेव ने उपदेश दिया है।

भावार्थ - परमात्मा के ध्यान करने का उपदेश प्रधान करके कहा है इसी से मोक्ष पाते हैं ॥७॥

आगे बहिरात्मा की प्रवृत्ति कहते हैं -

बहिरत्थे फुरियमाणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ ।

णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥८॥

बहिरर्थे स्फुरितमनाः इन्द्रियद्वारेण निजस्वरूपच्युतः ।

निजदेहं आत्मानं अध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ॥८॥

अर्थ - मूढदृष्टि अज्ञानी मोही मिथ्यादृष्टि है, वह बाह्य पदार्थ धन, धान्य, कुटुम्ब आदि इष्ट

१. पाठान्तर - 'चुओ' के स्थान पर 'चओ'

जिनदेव का उपदेश यह बहिरात्मापन त्यागकर।

अरे ! अन्तर आत्मा परमात्मा का ध्यान धर ॥७॥

निजरूप से च्युत बाह्य में स्फुरितबुद्धि जीव यह।

देहादि में अपनत्व कर बहिरात्मापन धारण करे ॥८॥

पदार्थों में स्फुरित (तत्पर) मनवाला है तथा इन्द्रियों के द्वार से अपने स्वरूप से च्युत है और इन्द्रियों को ही आत्मा जानता है ऐसा होता हुआ अपने देह को ही आत्मा जानता है निश्चय करता है, इसप्रकार मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है।

भावार्थ – ऐसा बहिरात्मा का भाव है, उसको छोड़ना ॥८॥

आगे कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि अपनी देह के समान दूसरे की देह को देखकर उसको दूसरे की आत्मा मानता है –

णियदेहसरिच्छं* पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।

अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभावेण ॥९॥

निजदेहसदृशं दृष्ट्वा परविग्रहं प्रयत्नेन।

अचेतनं अपि गृहीतं ध्यायते परमभावेन ॥९॥

अर्थ – मिथ्यादृष्टि पुरुष अपनी देह के समान दूसरे की देह को देखकर के यह देह अचेतन है तो भी मिथ्याभाव से आत्मभाव द्वारा बड़ा यत्न करके पर की आत्मा ध्याता है अर्थात् समझता है।

भावार्थ – बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्वकर्म के उदय से (उदय के वश होने से) मिथ्याभाव है, इसलिए वह अपनी देह को आत्मा जानता है वैसे ही पर की देह अचेतन है तो भी उसको पर की आत्मा मानता है (अर्थात् पर को भी देहात्मबुद्धि से मान रहा है और ऐसे मिथ्याभाव सहित ध्यान करता है) और उसमें बड़ा यत्न करता है इसलिए ऐसे भाव को छोड़ना – यह तात्पर्य है ॥९॥

आगे कहते हैं कि ऐसी ही मान्यता से पर मनुष्यादि में मोह की प्रवृत्ति होती है –

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।

सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥१०॥

स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अविदितार्थमात्मानम्।

सुतदारादिविषये मनुजानां वर्द्धते मोहः ॥१०॥

* – ‘सरिच्छं’ पाठान्तर ‘सरिसं’

निज देहसम परदेह को भी जीव जानें मूढ़जन।

उन्हें चेतन जान सेवें यद्यपि वे अचेतन ॥९॥

निजदेह को निज-आत्मा परदेह को पर-आत्मा।

ही जानकर ये मूढ़ सुत-दारादि में मोहित रहें ॥१०॥

अर्थ – इसप्रकार देह में स्व-पर के अध्यवसाय (निश्चय) के द्वारा मनुष्यों के सुत दारादिक जीवों में मोह की प्रवृत्ति करते हैं, कैसे हैं मनुष्य, जिनने पदार्थ का स्वरूप (अर्थात् आत्मा) नहीं जाना है – ऐसे हैं।

दूसरा अर्थ (इसप्रकार देह में स्व-पर के अध्यवसाय (निश्चय) के द्वारा जिन मनुष्यों ने पदार्थ के स्वरूप को नहीं जाना है उनके सुत दारादिक जीवों में मोह की प्रवृत्ति होती है।) (भाषा परिवर्तनकार ने यह अर्थ लिखा है)

भावार्थ – जिन मनुष्यों ने जीव-अजीव पदार्थ का स्वरूप यथार्थ नहीं जाना, उनके देह में स्वपराध्यवसाय है। अपनी देह को अपनी आत्मा जानते हैं और पर की देह को पर की आत्मा जानते हैं, उनके पुत्र-स्त्री आदि कुटुम्बियों में मोह (ममत्व) होता है। जब ये जीव-अजीव के स्वरूप को जानें तब देह को अजीव मानें, आत्मा को अमूर्तिक चैतन्य जानें, अपनी आत्मा को अपनी मानें और पर की आत्मा को पर मानें, तब पर में ममत्व नहीं होता है। इसलिए जीवादिक पदार्थों का स्वरूप अच्छी तरह जानकर मोह नहीं करना – यह बतलाया है ॥१०॥

आगे कहते हैं कि मोहकर्म के उदय से (उदय में युक्त होने से) मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव होते हैं, उससे आगामी भव में भी यह मनुष्य देह को चाहता है –

मिच्छाणाणेषु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।

मोहोदण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ ॥११॥

मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्याभावेन भावितः सन् ।

मोहोदयेन पुनरपि अंगं स्वं मन्यते मनुजः ॥११॥

अर्थ – यह मनुष्य मोहकर्म के उदय से (उदय के वश होकर) मिथ्याज्ञान के द्वारा मिथ्याभाव से भाया हुआ फिर आगामी जन्म में इस अंग (देह) को अच्छा समझकर चाहता है।

भावार्थ – मोहकर्म की प्रकृति मिथ्यात्व के उदय से (उदय के वश होने से) ज्ञान भी मिथ्या होता है, परद्रव्य को अपना जानता है और उस मिथ्यात्व ही के द्वारा मिथ्या श्रद्धान होता है, उससे निरन्तर परद्रव्य में यह भावना रहती है कि यह मुझे सदा प्राप्त होवे, इससे यह प्राणी आगामी देह को भला जानकर चाहता है ॥११॥

आगे कहते हैं कि जो मुनि देह में निरपेक्ष है, देह को नहीं चाहता है, इसमें ममत्व नहीं करता

१. मुद्रित सं. प्रति में 'सं मण्णए' ऐसा प्राकृत पाठ है जिसका 'स्वं मन्यते' ऐसा संस्कृत पाठ है।

कुज्ञान में रत और मिथ्याभाव से भावित श्रमण ।

मद-मोह से आच्छन्न भव-भव देह को ही चाहते ॥११॥

जो देह से निरपेक्ष निर्मम निरारंभी योगिजन ।

निर्द्वन्द्व रत निजभाव में वे ही श्रमण मुक्ति वरें ॥१२॥

है, वह निर्वाण को पाता है -

जो देहे णिरवेक्खो णिदंदो णिम्ममो णिरारंभो ।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥

यः देहे निरपेक्षः निर्द्वन्दः निर्ममः निरारंभः ।
आत्मस्वभावे सुरतः योगी स लभते
नि व ा ण म् । । १ २ । ।

अर्थ - जो योगी ध्यानी मुनि देह में निरपेक्ष है अर्थात् देह को नहीं चाहता है उदासीन है, निर्द्वन्द है-रागद्वेषरूप इच्छा अनिष्ट मान्यता से रहित है, निर्ममत्व है-देहादिक में 'यह मेरा' ऐसी बुद्धि से रहित है, निरारंभ है-इस शरीर के लिए तथा अन्य लौकिक प्रयोजन के लिए आरंभ से रहित है और आत्मस्वभाव में रत है, लीन है, निरंतर स्वभाव की भावना सहित है, वह मुनि निर्वाण को प्राप्त करता है ।

भावार्थ - जो बहिरात्मा के भाव को छोड़कर अन्तरात्मा बनकर परमात्मा में लीन होता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है । यह उपदेश बताया है ॥१२॥

आगे बंध और मोक्ष के कारण का संक्षेपरूप आगम का वचन कहते हैं -

परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्महिं ।
ऐसो जिणउवदेसो ँसमासदो बंधमुक्खस्स ॥१३॥

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुच्यते विविधकर्मभिः ।
एषः जिनोपदेशः समासतः बंधमोक्षस्य ॥१३॥

अर्थ - जो जीव परद्रव्य में रत है, रागी है वह तो अनेक प्रकार के कर्मों से बंधता है, कर्मों का बंध करता है और जो परद्रव्य से विरत है-रागी नहीं है, वह अनेक प्रकार के कर्मों से छूटता है, यह बन्ध का और मोक्ष का संक्षेप में जिनदेव का उपदेश है ।

भावार्थ - बंध-मोक्ष के कारण की कथनी अनेक प्रकार से है, उसका यह संक्षेप है - जो परद्रव्य से रागभाव तो बंध का कारण और विरागभाव मोक्ष का कारण है, इसप्रकार संक्षेप से

जिनेन्द्र का उपदेश है ॥१३॥
१. सदा के स्थान पर सओ पाठान्तर । २. मु.सं. प्रति में 'दुद्धकम्माणि' पाठ है ।

परद्रव्य में रत बंधें और विरक्त शिवरमणी वरें ।
जिनदेव का उपदेश बंध-अबंध का संक्षेप में ॥१३॥
नियम से निज द्रव्य में रत श्रमण सम्यकवन्त हैं ।
सम्यक्त्व-परिणत श्रमण ही क्षय करें करमानन्त हैं ॥१४॥

आगे कहते हैं कि जो स्वद्रव्य में रत है, वह सम्यग्दृष्टि होता है और कर्मों का नाश करता है—

सहव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।

सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठकम्माइं ॥१४॥

स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टि भवति नियमेन ।

सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षपयति

दुष्टाष्टकमाणि ॥१४॥

अर्थ – जो मुनि स्वद्रव्य अर्थात् अपनी आत्मा में रत है, रुचि सहित है, वह नियम से सम्यग्दृष्टि है और वह ही सम्यक्त्व भावरूप परिणमन करता हुआ दुष्ट आठ कर्मों का क्षय-नाश करता है ।

भावार्थ – यह भी कर्म के नाश करने का कारण संक्षेप कथन है । जो अपने स्वरूप की श्रद्धा, रुचि, प्रतीति से आचरण से युक्त है वह नियम से सम्यग्दृष्टि है, इस सम्यक्त्वभाव से परिणमन करता हुआ मुनि आठ कर्मों का नाश करके निर्वाण को प्राप्त करता है ॥१४॥

आगे कहते हैं कि जो परद्रव्य में रत है वह मिथ्यादृष्टि होकर कर्मों को बाँधता है –

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू ।

मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दुट्ठकम्मेहिं ॥१५॥

यः पुनः परद्रव्यरतः मिथ्यादृष्टिः भवति सः साधु ।

मिथ्यात्वपरिणतः पुनः बध्यते दुष्टाष्टकर्मभिः ॥१५॥

अर्थ – पुनः अर्थात् फिर जो साधु परद्रव्य में रत है, रागी है, वह मिथ्यादृष्टि होता है और वह मिथ्यात्वभावरूप परिणमन करता हुआ दुष्ट अष्ट कर्मों से बंधता है ।

भावार्थ – यह बंध के कारण का संक्षेप है । यहाँ साधु कहने से ऐसा बताया है कि जो बाह्य परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ हो जावे तो भी मिथ्यादृष्टि होता हुआ संसार के दुःख देनेवाले अष्ट कर्मों

१. मु. सं. प्रति में 'क्षिपते' ऐसा पाठ है ।

किन्तु जो परद्रव्य रत वे श्रमण मिथ्यादृष्टि हैं ।

मिथ्यात्व परिणत वे श्रमण दुष्टाष्ट कर्मों से बंधें ॥१५॥

परद्रव्य से हो दुर्गति निजद्रव्य से होती सुगति ।

यह जानकर रति करो निज में अर करो पर से विरति ॥१६॥

से बंधता है ॥१५॥

आगे कहते हैं कि परद्रव्य ही से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य ही से सुगति होती है -

परदव्वादो दुग्ई सदव्वादो हु सुग्ई होइ ।

इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ॥१६॥

परद्रव्यात् दुर्गतिः स्वद्रव्यात् स्फुटं सुगतिः भवति ।

इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये कुरुत रतिं विरतिं इतरस्मिन् ॥१६॥

अर्थ - परद्रव्य से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य से सुगति होती है - यह स्पष्ट (प्रगट) जानो, इसलिए हे भव्यजीवों ! तुम इसप्रकार जानकर स्वद्रव्य में रति करो और अन्य जो परद्रव्य उनसे विरति करो ।

भावार्थ - लोक में भी यह रीति है कि अपने द्रव्य से रति करके भोगता है वह तो सुख पाता है, उस पर कुछ आपत्ति नहीं आती है और परद्रव्य से प्रीति करके चाहे जैसे भोगता है उसको दुःख होता है, आपत्ति उठानी पड़ती है। इसलिए आचार्य ने संक्षेप में उपदेश दिया है कि अपने आत्मस्वभाव में रति करो इससे सुगति है, स्वर्गादिक भी इसी से होते हैं और मोक्ष भी इसी से होता है और परद्रव्य से प्रीति मत करो इससे दुर्गति होती है, संसार में भ्रमण होता है ।

यहाँ कोई कहता है कि स्वद्रव्य में लीन होने से मोक्ष होता है और सुगति दुर्गति तो परद्रव्य की प्रीति से होती है ? उसको कहते हैं कि यह सत्य है, परन्तु यहाँ इस आशय से कहा है कि परद्रव्य से विरक्त होकर स्वद्रव्य में लीन होवे तब विशुद्धता बहुत होती है, उस विशुद्धता के निमित्त से शुभकर्म भी बंधते हैं और जब अत्यंत विशुद्धता होती है तब कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष होता है इसलिए सुगति दुर्गति का होना कहा वह युक्त है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१६॥

आगे शिष्य पूछता है कि परद्रव्य कैसा है ? उसका उत्तर आचार्य कहते हैं -

आदसहावादणं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि ।

तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं ॥१७॥

आत्मस्वभावादन्यत् सच्चित्ताचित्तमिश्रितं भवति ।

तत् परद्रव्यं भणितं अवितत्थं सर्वदर्शिभिः ॥१७॥

जो आतमा से भिन्न चित्ताचित्त एव मिश्र हैं ।

उन सर्वद्रव्यों को अरे ! परद्रव्य जिनवर ने कहा ॥१७॥

अर्थ – आत्मस्वभाव से अन्य सचित्त जो स्त्री, पुत्रादिक, जीवसहित वस्तु तथा अचित्त, धन, धान्य, हिरण्य सुवर्णादिक अचेतन वस्तु और मिश्र आभूषणादि सहित मनुष्य तथा कुटुम्ब सहित गृहादिक ये सब परद्रव्य हैं, इसप्रकार जिसने जीवादिक पदार्थों का स्वरूप नहीं जाना उसको समझाने के लिए सर्वदर्शी सर्वज्ञ भगवान ने कहा है अथवा ‘अवितत्थं’ अर्थात् सत्यार्थ कहा है।

भावार्थ – अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा सिवाय अन्य चेतन अचेतन मिश्र वस्तु हैं, वे सब ही परद्रव्य हैं, इसप्रकार अज्ञानी को समझाने के लिए सर्वज्ञदेव ने कहा है ॥१७॥

आगे कहते हैं कि आत्मस्वभाव स्वद्रव्य कहा वह इसप्रकार है –

दुष्टदुष्टकर्मरहियं अणोवमं णाणविग्रहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्व्वं ॥१८॥
दुष्टादुष्टकर्मरहितं अनुपमं ज्ञानविग्रहं नित्यम् ।
शुद्धं जिनैः भणितं आत्मा भवति स्वद्रव्यम् ॥१८॥

अर्थ – संसार के दुःख देनेवाले ज्ञानावरणादिक दुष्ट अष्टकर्मों से रहित और जिसको किसी की उपमा नहीं ऐसा अनुपम, जिसका ज्ञान ही शरीर है और जिसका नाश नहीं है ऐसा अविनाशी नित्य है और शुद्ध अर्थात् विकाररहित केवलज्ञानमयी आत्मा जिन भगवान् सर्वज्ञ ने कहा है वह ही स्वद्रव्य है।

भावार्थ – ज्ञानानन्दमय, अमूर्तिक, ज्ञानमूर्ति अपनी आत्मा है वही एक स्वद्रव्य है अन्य सब चेतन, अचेतन, मिश्र परद्रव्य हैं ॥१८॥

आगे कहते हैं कि जो ऐसे निजद्रव्य का ध्यान करते हैं, वे निर्वाण को पाते हैं –

जे ज्ञायंति सद्व्वं परदव्वपरम्महा दु सुचरित्ता ।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहहिं णिव्वाणं ॥१९॥
ये ध्यायंति स्वद्रव्यं परद्रव्य पराङ्मुखास्तु सुचरित्राः ।
ते जिनवराणां मार्गे अनुलग्नाः लभते निर्वाणम् ॥१९॥

अर्थ – जो मुनि परद्रव्य से पराङ्मुख होकर स्वद्रव्य जो निज आत्मद्रव्य का ध्यान करते हैं वे

दुष्टाष्ट कर्मों से रहित जो ज्ञानविग्रह शुद्ध है।
वह नित्य अनुपम आत्मा स्वद्रव्य जिनवर ने कहा ॥१८॥
पर द्रव्य से हो पराङ्मुख निज द्रव्य को जो ध्यावते।
जिनमार्ग में संलग्न वे निर्वाणपद को प्राप्त हों ॥१९॥

प्रगट सुचरित्रा अर्थात् निर्दोष चारित्रयुक्त होते हुए जिनवर तीर्थकरों के मार्ग का अनुलग्न (अनुसंधान, अनुसरण) करते हुए निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ – परद्रव्य का त्याग कर जो अपने स्वरूप का ध्यान करते हैं वे निश्चय चारित्ररूप होकर जिनमार्ग में लगते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥१९॥

आगे कहते हैं कि जिनमार्ग में लगा हुआ योगी शुद्धात्मा का ध्यान कर मोक्ष को प्राप्त करता है तो क्या उससे स्वर्ग नहीं प्राप्त कर सकता है ? अवश्य ही प्राप्त कर सकता है –

जिणवरमणं जोई झाणे झाएह सुद्धमप्पाणं ।

जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥२०॥

जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायति शुद्धमात्मानम् ।

येन लभते निर्वाणं न लभते किं तेन सुरलोकम् ॥२०॥

अर्थ – योगी ध्यानी मुनि है वह जिनवर भगवान के मत से शुद्ध आत्मा को ध्यान में ध्याता है उससे निर्वाण को प्राप्त करता है तो उससे क्या स्वर्गलोक नहीं प्राप्त कर सकते हैं ? अवश्य ही प्राप्त करते हैं।

भावार्थ – कोई जानता होगा कि जो जिनमार्ग में लगकर आत्मा का ध्यान करता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है और स्वर्ग तो इससे होता नहीं है, उसको कहा है कि **जिनमार्ग** में प्रवर्तनेवाला शुद्ध आत्मा का ध्यान कर मोक्ष प्राप्त करता ही है तो उससे स्वर्गलोक क्या कठिन है ? यह तो इसके मार्ग में ही है ॥२०॥

आगे इस अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं –

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं ।

सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाउ भुवणयले ॥२१॥

यः याति योजनशतं दिवसेनैकेने लात्वा गुरुभारम् ।

स किं क्रोशार्द्धमपि स्फुटं न शक्नोति यातु भुवनतले ॥२१॥

शुद्धात्मा को ध्यावते जो योगी जिनवरमत विषैं।

निर्वाणपद को प्राप्त हों तब क्यों न पावें स्वर्ग वे ॥२०॥

गुरु भार लेकर एक दिन में जाँय जो योजन शतक।

जावे न क्यों क्रोशार्द्ध में इस भुवनतल में लोक में ॥२१॥

अर्थ – जो पुरुष बड़ा भार लेकर एक दिन में सौ योजन चला जावे वह इस पृथ्वी तल पर आधा कोश क्या न चला जावे ? यही प्रगट-स्पष्ट जानो ।

भावार्थ – जो पुरुष बड़ा भार लेकर एक दिन में सौ योजन चले उसके आधा कोश चलना तो अत्यंत सुगम हुआ, ऐसे ही जिनमार्ग से मोक्ष पावे तो स्वर्ग पाना तो अत्यंत सुगम है ॥२१॥

आगे इसी अर्थ का दृष्टान्त कहते हैं -

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं ।

सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहडो ॥२२॥

यः कोट्या न जीयते सुभटः संग्रामकैः सर्वैः ।

स किं जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभटः ॥२२॥

अर्थ – जो कोई सुभट संग्राम में सब ही संग्राम के करनेवालों के साथ करोड़ मनुष्यों को भी सुगमता से जीते वह सुभट एक मनुष्य को क्या न जीते ? अवश्य ही जीते ।

भावार्थ – जो जिनमार्ग में प्रवर्ते वह कर्म का नाश करे ही, तो क्या स्वर्ग के रोकनेवाले एक पापकर्म का नाश न करे ? अवश्य ही करे ॥२२॥

आगे कहते हैं कि स्वर्ग तो तप से (शुभरागरूपी तप द्वारा) सब ही प्राप्त करते हैं, परन्तु ध्यान के योग से स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे उस ध्यान के योग से मोक्ष भी प्राप्त करते हैं -

सगं तवेण सव्वो वि पावए तहिं वि झाणजोएण ।

जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ॥२३॥

स्वर्ग तपसा सर्वः अपि प्राप्नोति किन्तु ध्यानयोगेन ।

यः प्राप्नोति सः प्राप्नोति परलोके शाश्वतं सौख्यम् ॥२३॥

अर्थ – शुभरागरूपी तप द्वारा स्वर्ग तो सब ही पाते हैं तथापि जो ध्यान के योग से स्वर्ग पाते हैं, वे ही ध्यान के योग से परलोक में शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ – कायक्लेशादिक तप तो सब ही मत के धारक करते हैं, वे तपस्वी मंदकषाय के

जो अकेला जीत ले जब कोटिभट संग्राम में ।

तब एक जन को क्यों न जीते वह सुभट संग्राम में ॥२२॥

शुभभाव-तप से स्वर्ग-सुख सब प्राप्त करते लोक में ।

पाया सो पाया सहजसुख निजध्यान से परलोक में ॥२३॥

निमित्त से सब ही स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, परन्तु जो ध्यान के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं, वे जिनमार्ग में कहे हुए ध्यान के योग से परलोक में जिसमें शाश्वत सुख है - ऐसे निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥२३॥

आगे ध्यान के योग से मोक्ष प्राप्त करते हैं इस दृष्टान्त को दार्ष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं -

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य ।

कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥

अतिशोभनयोगेनं शुद्धं हेमं भवति यथा तथा च ।

कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति ॥२४॥

अर्थ - जैसे सुवर्ण पाषाण सोधने की सामग्री के संबंध से शुद्ध स्वर्ण हो जाता है, वैसे ही काल आदि लब्धि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सामग्री की प्राप्ति से यह आत्मा कर्म के संयोग से अशुद्ध है वही परमात्मा हो जाता है ॥२४॥

भावार्थ सुगम है ।

आगे कहते हैं कि संसार में व्रत, तप से स्वर्ग होता है, वह व्रत तप भला है, परन्तु अब्रतादिक से नरकादिक गति होती है, वह अब्रतादिक श्रेष्ठ नहीं हैं -

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं ।

छायातवट्टियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥२५॥

वरं व्रततपोभिः स्वर्गः मा दुःखं भवतु नरके इतरैः ।

छायातपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरुभेदः ॥२५॥

अर्थ - व्रत और तप से स्वर्ग होता है वह श्रेष्ठ है, परन्तु अब्रत और अतप से प्राणी को नरकगति में दुःख होता है वह मत होवे, श्रेष्ठ नहीं है। छाया और आतप में बैठनेवाले के प्रतिपालक कारणों में बड़ा भेद है ।

भावार्थ - जैसे छाया का कारण तो वृक्षादिक हैं इनकी छाया में जो बैठे वह सुख पावे और आताप का कारण सूर्य, अग्नि आदिक हैं, इनके निमित्त से आताप होता है जो उसमें बैठता है वह

ज्यों शोधने से शुद्ध होता स्वर्ण बस इसतरह ही ।

हो आतमा परमात्मा कालादि लब्धि प्राप्त कर ॥२४॥

ज्यों धूप से छाया में रहना श्रेष्ठ है बस उसतरह ।

अब्रतों से नरक व्रत से स्वर्ग पाना श्रेष्ठ है ॥२५॥

दुःख को प्राप्त करता है इसप्रकार इनमें बड़ा भेद है, इसप्रकार ही जो व्रत, तप का आचरण करता है वह स्वर्ग के सुख को प्राप्त करता है और जो इनका आचरण नहीं करता है, विषय-कषायादिक का सेवन करता है, वह नरक के दुःख को प्राप्त करता है, इसप्रकार इनमें बड़ा भेद है। इसलिए यहाँ कहने का यह आशय है कि जबतक निर्वाण न हो तबतक व्रत-तप आदि में प्रवर्तना श्रेष्ठ है इससे सांसारिक सुख की प्राप्ति है और निर्वाण के साधने में भी ये सहकारी हैं। विषय-कषायादिक की प्रवृत्ति का फल तो केवल नरकादिक के दुःख हैं, उन दुःखों के कारणों का सेवन करना यह तो बड़ी भूल है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥२५॥

आगे कहते हैं कि संसार में रहे तबतक व्रत, तप पालना श्रेष्ठ कहा, परन्तु जो संसार से निकलना चाहे वह आत्मा का ध्यान करे -

जो इच्छइ णिस्सरिदुं १संसारमहण्णवाउ रुंदाओ ।
 कम्मिंधणाण डहणं सो ज्ञायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥
 यः इच्छति निःसर्तुं संसारमहार्णवात् रुद्रात् ।
 कर्मेन्धनानां दहनं सः ध्यायति आत्मानं शुद्धम् ॥२६॥

अर्थ - जो जीव रुद्र अर्थात् बड़े विस्ताररूप संसाररूपी समुद्र उससे निकलना चाहता है वह जीव कर्मरूपी ईंधन को दहन करनेवाले शुद्ध आत्मा के ध्यान को करता है।

भावार्थ - निर्वाण की प्राप्ति कर्म का नाश हो तब होती है और कर्म का नाश शुद्धात्मा के ध्यान से होता है, अतः जो संसार से निकलकर मोक्ष को चाहे वह शुद्ध आत्मा, जो कि कर्ममल से रहित अनन्त चतुष्टय सहित (निज निश्चय) परमात्मा है उसका ध्यान करता है। मोक्ष का उपाय इसके बिना अन्य नहीं है ॥२६॥

आगे आत्मा का ध्यान करने की विधि बताते हैं -

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं ।

१. मुद्रित सं. प्रति में 'संसारमहण्णवस्स रुद्धस्स' ऐसा पाठ है जिसकी संस्कृत 'संसारमहार्णवस्य रुद्रस्य' ऐसी है।

जो भव्यजन संसार-सागर पार होना चाहते ।
 वे कर्म ईंधन-दहन निज शुद्धात्मा को ध्यावते ॥२६॥
 अरे मुनिजन मान-मद आदिक कषायें छोड़कर ।
 लोक के व्यवहार से हों विरत ध्याते आत्मा ॥२७॥

लोकव्यवहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो ॥२७॥

सर्वान् कषायान् मुक्त्वा गारवमदरागदोषव्यामोहम् ।

लोकव्यवहारविरतः आत्मानं ध्यायति ध्यानस्थः ॥२७॥

अर्थ – मुनि सब कषायों को छोड़कर तथा गारव, मद, राग, द्वेष तथा मोह इनको छोड़कर और लोकव्यवहार से विरक्त होकर ध्यान में स्थित हुआ आत्मा का ध्यान करता है ॥२७॥

भावार्थ – मुनि आत्मा का ध्यान ऐसा होकर करे – प्रथम तो क्रोध, मान, माया, लोभ इन सब कषायों को छोड़े, गारव को छोड़े, मद जाति आदि के भेद से आठ प्रकार का है, उसको छोड़े, राग-द्वेष छोड़े और लोकव्यवहार जो संघ में रहने में परस्पर विनयाचार, वैयावृत्य, धर्मोपदेश पढ़ना-पढ़ाना है, उसको भी छोड़े, ध्यान में स्थित हो जावे – इसप्रकार आत्मा का ध्यान करे ।

यदि कोई पूछे कि सब कषायों को छोड़ना कहा है उसमें तो सब गारव मदादिक आ गये फिर इनको भिन्न-भिन्न क्यों कहे ? उसका समाधान इसप्रकार है कि ये सब कषायों में तो गर्भित हैं, किन्तु विशेषरूप से बतलाने के लिए भिन्न-भिन्न कहे हैं । कषाय की प्रवृत्ति इसप्रकार है – जो अपने लिए अनिष्ट हो उससे क्रोध करे, अन्य को नीचा मानकर मान करे, किसी कार्य निमित्त कपट करे, आहारादिक में लोभ करे । यह गारव है वह रस, ऋद्धि और सात ऐसे तीन प्रकार का है ये यद्यपि मानकषाय में गर्भित हैं तो भी प्रमाद की बहुलता इनमें है इसलिए भिन्नरूप से कहे हैं ।

मद-जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या, ऐश्वर्य – इनका होता है, वह न करे । राग-द्वेष प्रीति-अप्रीति को कहते हैं, किसी से प्रीति करना किसी से अप्रीति करना – इसप्रकार लक्षण के भेद से भेद करके कहा । मोह नाम पर से ममत्वभाव का है, संसार का ममत्व तो मुनि के है ही नहीं, परन्तु धर्मानुराग से शिष्य आदि में ममत्व का व्यवहार है, वह भी छोड़े । इसप्रकार भेद विवक्षा से भिन्न-भिन्न कहे हैं, ये ध्यान के घातक भाव हैं इनको छोड़े बिना ध्यान होता नहीं है, इसलिए जैसे ध्यान हो वैसे करे ॥२७॥

आगे इसी को विशेषरूप से कहते हैं –

मिच्छन्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।

मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

मिथ्यात्वं अज्ञानं पापं पुण्यं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।

मिथ्यात्व एवं पाप-पुन अज्ञान तज मन-वचन से ।

अर मौन रह योगस्थ योगी आतमा को ध्यावते ॥२८॥

मौनव्रतेन योगी योगस्थः द्योतयति
आत्मानम् ।।२८।।

अर्थ – योगी ध्यानी मुनि है, वह मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप-पुण्य इनको मन-वचन-काय से छोड़कर मौनव्रत के द्वारा ध्यान में स्थित होकर आत्मा का ध्यान करता है।

भावार्थ – कई अन्यमती योगी ध्यानी कहलाते हैं इसलिए जैनलिंगी भी किसी द्रव्यलिंग के धारण करने से ध्यानी माना जाय तो उसके निषेध के निमित्त इसप्रकार कहा है कि मिथ्यात्व और अज्ञान को छोड़कर आत्मा के स्वरूप को यथार्थ जानकर सम्यक् श्रद्धान तो जिसने नहीं किया, उसके मिथ्यात्व, अज्ञान तो लगा रहा तब ध्यान किसका हो तथा पुण्य-पाप दोनों बंधस्वरूप हैं इनमें प्रीति अप्रीति रहती है जबतक मोक्ष का स्वरूप भी जाना नहीं है तब ध्यान किसका हो और (सम्यक् प्रकार स्वरूप गुप्त स्व-अस्ति में ठहकर) मन-वचन-काय की प्रवृत्ति छोड़कर मौन न करे तो एकाग्रता कैसे हो ? इसलिए मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य, पाप, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति छोड़ना ही ध्यान में युक्त कहा है। इसप्रकार आत्मा का ध्यान करने से मोक्ष होता है ॥२८॥

आगे ध्यान करनेवाला मौन धारण करके रहता है वह क्या विचार करता है, यह कहते हैं-

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा ।

जाणगं दिस्सदे णेव तम्हा जंपेमि केण हं ॥२९॥

यत् मया दृश्यते रूपं तत् न जानाति सर्वथा ।

ज्ञायकं दृश्यते न तत् तस्मात् जल्पामि केन अहम् ॥२९॥

अर्थ – जिस रूप को मैं देखता हूँ वह रूप मूर्तिक वस्तु है, जड़ है, अचेतन है, सब प्रकार से कुछ भी जानता नहीं है और मैं ज्ञायक हूँ, अमूर्तिक हूँ। यह तो जड़ अचेतन है, सब प्रकार से कुछ भी जानता नहीं है, इसलिए मैं किससे बोलूँ?

भावार्थ – यदि दूसरा कोई परस्पर बात करनेवाला हो तब परस्पर बोलना संभव है, किन्तु आत्मा तो अमूर्तिक है उसको वचन बोलना नहीं है और जो रूपी पुद्गल है वह अचेतन है, किसी को जानता नहीं, देखता नहीं। इसलिए ध्यान करनेवाला विचारता है कि मैं किससे बोलूँ

दिखाई दे जो मुझे वह रूप कुछ जाने नहीं।

मैं करूँ किससे बात मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ ॥२९॥

सर्वास्रवों के रोध से संचित करम खप जाय सब।

जिनदेव के इस कथन को योगस्थ योगी जानते ॥३०॥

? इसलिए मेरे मौन है ॥२९॥

आगे कहते हैं कि इसप्रकार ध्यान करने से सब कर्मों के आस्रव का निरोध करके संचित कर्मों का नाश करता है -

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं ।

जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥३०॥

सर्वास्रवनिरोधेन कर्म क्षपयति संचितम् ।

योगस्थः जानाति योगी जिनदेवेन भाषितम् ॥३०॥

अर्थ - योग ध्यान में स्थित होता हुआ योगी मुनि सब कर्मों के आस्रव का निरोध करके संवरयुक्त होकर पहिले के बाँधे हुए कर्म जो संचयरूप हैं, उनका क्षय करता है इसप्रकार जिनदेव ने कहा है, वह जानो ।

भावार्थ - ध्यान से कर्म का आस्रव रुकता है इससे आगामी बंध नहीं होता है और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है तब केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष प्राप्त होता है, यह आत्मा के ध्यान का माहात्म्य है ॥३०॥

आगे कहते हैं कि जो व्यवहार में तत्पर है, उसके यह ध्यान नहीं होता है -

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।

जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥३१॥

यः सुप्तः व्यवहारे सः योगी जागर्ति स्वकार्ये ।

यः जागर्ति व्यवहारे सः सुप्तः आत्मनः कार्ये ॥३१॥

अर्थ - जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है वह अपने स्वरूप के कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है वह अपने आत्मकार्य में सोता है ।

भावार्थ - मुनि के संसारी व्यवहार तो कुछ है नहीं और यदि है तो मुनि कैसा ? वह तो पाखंडी है । धर्म का व्यवहार संघ में रहना, महाव्रतादिक पालना ऐसे व्यवहार में भी तत्पर नहीं है, सब प्रवृत्तियों की निवृत्ति करके ध्यान करता है वह व्यवहार में सोता हुआ कहलाता है और अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर देखता है, जानता है, वह अपने आत्मकार्य में जागता है, परन्तु जो इस व्यवहार में तत्पर है, सावधान है, स्वरूप की दृष्टि नहीं है वह व्यवहार में जागता हुआ १. पाठान्तरः - जिणवदिणे ।

जो सो रहा व्यवहार में वह जागता निज कार्य में ।

जो जागता व्यवहार में वह सो रहा निज कार्य में ॥३१॥

कहलाता है ॥३१॥

आगे यह कहते हैं कि योगी पूर्वोक्त कथन को जान के व्यवहार को छोड़कर आत्मकार्य करता है -

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं ।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं ँजिणवरिंदेहिं ॥३२॥

इति ज्ञात्वा योगी व्यवहारं त्यजति सर्वथा

स व म ।

ध्यायति परमात्मानं यथा भणितं जिनवरेन्द्रैः ॥३२॥

अर्थ - इसप्रकार पूर्वोक्त कथन को जानकर योगी ध्यानी मुनि है वह सर्व व्यवहार को सब प्रकार से ही छोड़ देता है और परमात्मा का ध्यान करता है - जैसे जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेव ने कहा है वैसे ही परमात्मा का ध्यान करता है ।

भावार्थ - सर्वथा सर्व व्यवहार को छोड़ना कहा, उसका आशय इसप्रकार है कि लोकव्यवहार तथा धर्मव्यवहार सब ही छोड़ने पर ध्यान होता है इसलिए जैसे जिनदेव ने कहा है वैसे ही परमात्मा का ध्यान करना । अन्यमती परमात्मा का स्वरूप अनेकप्रकार से अन्यथा कहते हैं उसके ध्यान का भी वे अन्यथा उपदेश करते हैं, उसका निषेध किया है । जिनदेव ने परमात्मा का तथा ध्यान का स्वरूप कहा वह सत्यार्थ है, प्रमाणभूत है वैसे ही जो योगीश्वर करते हैं वे ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥३२॥

आगे जिनदेव ने जैसे ध्यान-अध्ययन की प्रवृत्ति कही है, वैसे ही उपदेश करते हैं -

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥३३॥

पंचमहाव्रतयुक्तः पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।

रत्नत्रयसंयुक्तः ध्यानाध्ययनं सदा कुरु ॥३३॥

इमि जान जोगी छोड़ सब व्यवहार सर्वप्रकार से ।

जिनवर कथित परमात्मा का ध्यान धरते सदा ही ॥३२॥

पंच समिति महाव्रत अर तीन गुप्ति धर यती ।

रत्नत्रय से युक्त होकर ध्यान अर अध्ययन करो ॥३३॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि जो पाँच महाव्रतयुक्त हो गया तथा पाँच समिति व तीन गुप्तियों से युक्त हो गया और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय से संयुक्त हो गया – ऐसे बनकर हे मुनिजनों ! तुम ध्यान और अध्ययन-शास्त्र के अभ्यास को सदा करो ।

भावार्थ – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग ये पाँच महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना ये पाँच समिति और मन, वचन, काय के निग्रहरूप तीन गुप्ति यह तेरह प्रकार का चारित्र जिनदेव ने कहा है, उससे युक्त हो और निश्चय व्यवहाररूप, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र कहा है इनसे युक्त होकर ध्यान और अध्ययन करने का उपदेश है। इनमें भी प्रधान तो ध्यान ही है और यदि इसमें मन न रुके तो शास्त्र के अभ्यास में मन को लगावे, यह भी ध्यानतुल्य ही है, क्योंकि शास्त्र में परमात्मा के स्वरूप का निर्णय है, सो यह ध्यान का ही अंग है ॥३३॥

आगे कहते हैं कि जो रत्नत्रय की आराधना करता है, वह जीव आराधक ही है –

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ।

आराहणविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥३४॥

रत्नत्रयमाराधयन् जीवः आराधकः ज्ञातव्यः ।

आराधनाविधानं तस्य फलं केवलं ज्ञानम् ॥३४॥

अर्थ – रत्नत्रय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की आराधना करते हुए जीव को आराधक जानना और आराधना के विधान का फल केवलज्ञान है ।

भावार्थ – जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करता है, वह केवलज्ञान को प्राप्त करता है, वह जिनमार्ग में प्रसिद्ध है ॥३४॥

आगे कहते हैं कि शुद्धात्मा है वह केवलज्ञान है और केवलज्ञान है वह शुद्धात्मा है –

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य ।

सो जिणवरेहिं भणिओ जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

आराधना करते हुये को अराधक कहते सभी ।

आराधना का फल सुनो बस एक केवलज्ञान है ॥३४॥

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी आत्मा सिध शुद्ध है ।

यह कहा जिनवरदेव ने तुम स्वयं केवलज्ञानमय ॥३५॥

सिद्धः शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च ।

सः जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानं ॥३५॥

अर्थ – आत्मा को जिनवर सर्वज्ञदेव ने ऐसा कहा है कि सिद्ध है – किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, स्वयंसिद्ध है, शुद्ध है, कर्ममल से रहित है, सर्वज्ञ है – सब लोकालोक को जानता है और सर्वदर्शी है – सब लोक-अलोक को देखता है, इसप्रकार आत्मा है, वह हे मुने ! उसे ही तू केवलज्ञान जान अथवा उस केवलज्ञान को ही आत्मा जान । आत्मा में और ज्ञान में कुछ प्रदेशभेद नहीं है, गुण-गुणी भेद है वह गौण है । यह आराधना का फल पहिले केवलज्ञान कहा, वही है ॥३५॥

आगे कहते हैं कि जो योगी जिनदेव के मत से रत्नत्रय की आराधना करता है, वह आत्मा का ध्यान करता है –

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण ।

सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो ॥३६॥

रत्नत्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन ।

सः ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न सन्देहः ॥३६॥

अर्थ – जो योगी ध्यानी मुनि जिनेश्वरदेव के मत की आज्ञा से रत्नत्रय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की निश्चय से आराधना करता है वह प्रगट रूप से आत्मा का ही ध्यान करता है, क्योंकि रत्नत्रय आत्मा का गुण है और गुण-गुणी में भेद नहीं है । रत्नत्रय की आराधना है वह आत्मा की ही आराधना है, वह ही परद्रव्य को छोड़ता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥३६॥

भावार्थ – सुगम है ॥३६॥

पहिले पूछा था कि आत्मा में रत्नत्रय कैसे है इसका उत्तर अब आचार्य कहते हैं –

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।

तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥३७॥

रत्नत्रय जिनवर कथित आराधना जो यति करें ।

वे धरें आतम ध्यान ही संदेह इसमें रंच ना ॥३६॥

जानना ही ज्ञान है अरु देखना दर्शन कहा ।

पुण्य-पाप का परिहार चारित यही जिनवर ने कहा ॥३७॥

यत् जानाति तत् ज्ञानं यत्पश्यति तच्च दर्शनं ज्ञेयम् ।
तत् चारित्रं भणितं परिहारः पुण्यपापानाम् ॥३७॥

अर्थ – जो जाने वह ज्ञान है, जो देखे वह दर्शन है और जो पुण्य तथा पाप का परिहार है वह चारित्र है, इसप्रकार जानना चाहिए ।

भावार्थ – यहाँ जाननेवाला तथा देखनेवाला और त्यागनेवाला दर्शन, ज्ञान, चारित्र को कहा ये तो गुणी के गुण हैं, ये कर्ता नहीं होते हैं, इसलिए जानन, देखन, त्यागन क्रिया का कर्ता आत्मा है, इसलिए ये तीनों आत्मा ही हैं, गुण-गुणी में प्रदेशभेद नहीं होता है । इसप्रकार रत्नत्रय है वह आत्मा ही है – इसप्रकार जानना ॥३७॥

आगे इसी अर्थ को अन्य प्रकार से कहते हैं –

तत्त्वरुई सम्मत्तं तत्त्वग्रहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं ॥३८॥
तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वग्रहणं च भवति संज्ञानम् ।
चारित्रं परिहारः प्रजल्पितं जिनवरेन्द्रैः ॥३८॥

अर्थ – तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है, तत्त्व का ग्रहण सम्यग्ज्ञान है, परिहार चारित्र है, इसप्रकार जिनवरेन्द्र तीर्थकर सर्वज्ञदेव ने कहा है ।

भावार्थ – जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – इन तत्त्वों का श्रद्धान रुचि प्रतीति सम्यग्दर्शन है, इन ही को जानना सम्यग्ज्ञान है और परद्रव्य के परिहारसंबंधी क्रिया की निवृत्ति चारित्र है, इसप्रकार जिनेश्वरदेव ने कहा है, इनको निश्चय व्यवहारनय से आगम के अनुसार साधना ॥३८॥

आगे सम्यग्दर्शन को प्रधान कर कहते हैं –

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छिय लाहं ॥३९॥
दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम् ।

तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है तत्त्वग्रहण सम्यग्ज्ञान है ।
जिनदेव ने ऐसा कहा परिहार ही चारित्र है ॥३८॥
दृग-शुद्ध हैं वे शुद्ध उनको नियम से निर्वाण हो ।
दृग-भ्रष्ट हैं जो पुरुष उनको नहीं इच्छित लाभ हो ॥३९॥

दर्शनविहीनपुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम् ॥३९॥

अर्थ – जो पुरुष दर्शन से शुद्ध है वह ही शुद्ध है, क्योंकि जिसका दर्शन शुद्ध है वही निर्वाण को पाता है जो पुरुष सम्यग्दर्शन से रहित है वह पुरुष ईप्सित लाभ अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है।

भावार्थ – लोक में प्रसिद्ध है कि कोई पुरुष कोई वस्तु चाहे और उसकी रुचि प्रतीति श्रद्धा न हो तो उसकी प्राप्ति नहीं होती है इसलिए सम्यग्दर्शन ही निर्वाण की प्राप्ति में प्रधान है ॥३९॥

आगे कहते हैं कि ऐसे सम्यग्दर्शन को ग्रहण करने का उपदेश सार है, उसको जो मानता है, वह सम्यक्त्व है -

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।

तं सम्मत्तं भणियं सवणाणं सावयाणं पि ॥४०॥

इति उपदेशं सारं जरामरणहरं स्फुटं मन्यते यत्तु ।

तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणानां श्रावकाणामपि ॥४०॥

अर्थ – इसप्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का उपदेश सार है, जो जरा व मरण को हरनेवाला है, इसको जो मानता है, श्रद्धान करता है वह ही सम्यक्त्व कहा है। वह मुनियों को तथा श्रावकों को सभी को कहा है, इसलिए सम्यक्त्वपूर्वक ज्ञान चारित्र को अंगीकार करो।

भावार्थ – जीव के जितने भाव हैं, उनमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र सार है, उत्तम हैं, जीव के हित हैं और इनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है, क्योंकि इसके बिना ज्ञान, चारित्र भी मिथ्या कहलाते हैं इसलिए सम्यग्दर्शन को प्रधान जानकर पहिले अंगीकार करना, यह उपदेश मुनि तथा श्रावक सभी को है ॥४०॥

आगे सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहते हैं -

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण ।

तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥४१॥

जीवाजीवविभक्तिं योगी जानाति जिनवरमतेन ।

उपदेश का यह सार जन्म-जरा-मरण का हरणकर ।

समदृष्टि जो मानें इसे वे श्रमण-श्रावक कहे हैं ॥४०॥

यह सर्वदर्शी का कथन कि जीव और अजीव की ।

भिन-भिन्नता को जानना ही एक सम्यग्ज्ञान है ॥४१॥

तत् संज्ञानं भणितं अवितथं सर्वदर्शिभिः ॥४१॥

अर्थ – जो योगी मुनि जीव अजीव पदार्थ के भेद जिनवर के मत से जानता है वह सम्यग्ज्ञान है ऐसा सर्वदर्शी-सबको देखनेवाले सर्वज्ञदेव ने कहा है, अतः वह ही सत्यार्थ है, अन्य छद्मस्थ का कहा हुआ सत्यार्थ नहीं है, असत्यार्थ है, सर्वज्ञ का कहा हुआ ही सत्यार्थ है।

भावार्थ – सर्वज्ञदेव ने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये जाति अपेक्षा छह द्रव्य कहे हैं। (संख्या अपेक्षा अनंत, अनंतानंत, एक और असंख्यात एक, एक हैं।) इनमें जीव को दर्शन-ज्ञानमयी चेतनास्वरूप कहा है, वह सदा अमूर्तिक है अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है। पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों को अजीव कहे हैं ये अचेतन हैं, जड़ हैं। इनमें पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दसहित मूर्तिक (रूपी) है, इन्द्रियगोचर है, अन्य अमूर्तिक हैं। आकाश आदि चार तो जैसे है वैसे ही रहते हैं। जीव और पुद्गल का अनादिसंबंध है।

छद्मस्थ के इन्द्रियगोचर पुद्गलस्कंध है, उनको ग्रहण करके जीव राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन करता है, शरीरादि को अपना मानता है तथा इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेषरूप होता है, इससे नवीन पुद्गल कर्मरूप होकर बंध को प्राप्त होता है, यह निमित्त-नैमित्तिक भाव है, इसप्रकार यह जीव अज्ञानी होता हुआ जीव-पुद्गल के भेद को न जानकर मिथ्याज्ञानी होता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि जिनदेव के मत से जीव-अजीव का भेद जानकर सम्यग्दर्शन का स्वरूप जानना। इसप्रकार जिनदेव ने कहा वह ही सत्यार्थ है, प्रमाण नय के द्वारा ऐसे ही सिद्ध होता है, इसलिए जिनदेव सर्वज्ञ ने सब वस्तु को प्रत्यक्ष देखकर कहा है।

अन्यमती छद्मस्थ हैं, इन्होंने अपनी बुद्धि में आया वैसे ही कल्पना करके कहा है, वह प्रमाण सिद्ध नहीं है। इनमें कई वेदान्ती तो एक ब्रह्ममात्र कहते हैं, अन्य कुछ वस्तुभूत नहीं है, मायारूप अवस्तु है, ऐसा मानते हैं। कई नैयायिक, वैशेषिक जीव को सर्वथा नित्य सर्वगत कहते हैं, जीव के और ज्ञान गुण के सर्वथा भेद मानते हैं और अन्य कार्यमात्र है उनको ईश्वर करता है इसप्रकार मानते हैं। कई सांख्यमती पुरुष को उदासीन चैतन्यस्वरूप मानकर सर्वथा अकर्ता मानते हैं, ज्ञान को प्रधान का धर्म मानते हैं।

कई बौद्धमती सर्व वस्तु को क्षणिक मानते हैं, सर्वथा अनित्य मानते हैं, इनमें भी अनेक मतभेद हैं, कई विज्ञानमात्र तत्त्व मानते हैं, कई सर्वथा शून्य मानते हैं, कोई अन्यप्रकार मानते हैं। मीमांसक कर्मकांडमात्र ही तत्त्व मानते हैं, जीव को अणुमात्र मानते हैं तो भी कुछ परमार्थ नित्य वस्तु नहीं है इत्यादि मानते हैं। चार्वाकमती जीव को तत्त्व नहीं मानते हैं, पंचभूतों से जीव की

उत्पत्ति मानते हैं।

इत्यादि बुद्धिकल्पित तत्त्व मानकर परस्पर में विवाद करते हैं, वह युक्त ही है, वस्तु का पूर्णरूप दीखता नहीं है, तब जैसे अंधे हस्ती का विवाद करते हैं, वैसे विवाद ही होता है, इसलिए जिनदेव सर्वज्ञ ने ही वस्तु का पूर्णरूप देखा है, वही कहा है। यह प्रमाण और नयों के द्वारा अनेकान्तरूप सिद्ध होता है। इनकी चर्चा हेतुवाद के जैन के न्याय-शास्त्रों से जानी जाती है, इसलिए यह उपदेश है, जिनमत में जीवाजीव का स्वरूप सत्यार्थ कहा है, उसको जानना सम्यग्ज्ञान है, इसप्रकार जानकर जिनदेव की आज्ञा मानकर सम्यग्ज्ञान को अंगीकार करना, इसी से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है, ऐसे जानना।

आगे सम्यक्चारित्र का स्वरूप कहते हैं -

**जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्यपापाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्प कम्मरहिएहिं ॥४२॥**

**यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापानाम् ।
तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कर्मरहितैः ॥४२॥**

अर्थ - योगी ध्यानी मुनि उस पूर्वोक्त जीवाजीव के भेदरूप सत्यार्थ सम्यग्ज्ञान को जानकर पुण्य तथा पाप इन दोनों का परिहार करता है, त्याग करता है वह चारित्र है, जो निर्विकल्प है अर्थात् प्रवृत्तिरूपक्रिया के विकल्पों से रहित है, वह चारित्र घातिकर्म से रहित ऐसे सर्वज्ञदेव ने कहा है।

भावार्थ - चारित्र निश्चय-व्यवहार के भेद से दो भेदरूप है, महाव्रत-समिति-गुप्ति के भेद से कहा है वह व्यवहार है। इसमें प्रवृत्तिरूप क्रिया शुभकर्मरूप बंध करती है और इन क्रियाओं में जितने अंश निवृत्ति है (अर्थात् उसीसमय स्वाश्रयरूप आंशिक निश्चय-वीतराग भाव है) उसका फल बंध नहीं है, उसका फल कर्म की एकदेश निर्जरा है। सब कर्मों से रहित अपने आत्मस्वरूप में लीन होना वह निश्चय चारित्र है, इसका फल कर्म का नाश ही है, वह पुण्य-पाप के परिहाररूप निर्विकल्प है। पाप का तो त्याग मुनि के है ही और पुण्य का त्याग इसप्रकार है -

शुभक्रिया का फल पुण्यकर्म का बंध है, उसकी वांछा नहीं है, बंध के नाश का उपाय निर्विकल्प निश्चय चारित्र का प्रधान उद्यम है। इसप्रकार यहाँ निर्विकल्प अर्थात् पुण्य-पाप से

**इमि जान करना त्याग सब ही पुण्य एवं पाप का ।
चारित्र है यह निर्विकल्पक कथन यह जिनदेव का ॥४२॥**

रहित ऐसा निश्चय चारित्र कहा है। चौदहवें गुणस्थान के अंतसमय में पूर्ण चारित्र होता है, उसमें लगते ही मोक्ष होता है - ऐसा सिद्धान्त है ॥४२॥

आगे कहते हैं कि इसप्रकार रत्नत्रयसहित होकर तप संयम समिति को पालते हुए शुद्धात्मा का ध्यान करनेवाला मुनि निर्वाण को प्राप्त करता है -

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए ।

सो पावइ परमपयं ज्ञायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

यः रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या ।

सः प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं शुद्धम् ॥४३॥

अर्थ - जो मुनि रत्नत्रयसंयुक्त होता हुआ संयमी बनकर अपनी शक्ति के अनुसार तप करता है, वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद निर्वाण को प्राप्त करता है।

भावार्थ - जो मुनि संयमी, पाँच महाव्रत पाँच समिति, तीन गुप्ति, यह तेरह प्रकार का चारित्र वही प्रवृत्तिरूप व्यवहार चारित्र संयम है, उसको अंगीकार करके और पूर्वोक्त प्रकार निश्चय चारित्र से युक्त होकर अपनी शक्ति के अनुसार उपवास कायक्लेशादि बाह्य तप करता है वह मुनि अंतरंग तप ध्यान के द्वारा शुद्ध आत्मा का एकाग्र चित्त करके ध्यान करता हुआ निर्वाण को प्राप्त करता है ॥४३॥

(नोंध - जो छठवें गुणस्थान के योग्य स्वाश्रयरूप निश्चय रत्नत्रय सहित है उसी को व्यवहार संयम और व्रतादि को व्यवहार चारित्र माना है।)

आगे कहते हैं कि ध्यानी मुनि ऐसा बनकर परमात्मा का ध्यान करता है -

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिण्ण परियरिओ ।

दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा ज्ञायए जोई ॥४४॥

त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकरितः ।

रत्नत्रय से युक्त हो जो तप करे संयम धरे।

वह ध्यान धर निज आत्मा का परमपद को प्राप्त हो ॥४३॥

रुष-राग का परिहार कर त्रययोग से त्रयकाल में।

त्रयशल्य विरहित रत्नत्रय धर योगि ध्यावे आत्मा ॥४४॥

द्विदोषविप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायते योगी ॥४४॥

अर्थ – ‘त्रिभिः’ मन वचन काय से ‘त्रीन्’ वर्षा, शीत, उष्ण तीन कालयोगों को धारण कर ‘त्रिकरहितः’ माया, मिथ्या, निदान तीन शल्यों से रहित होकर ‘त्रिकेण परिकरितः’ दर्शन, ज्ञान, चारित्र से मंडित होकर और ‘द्विदोषविप्रमुक्तः’ दो दोष अर्थात् राग-द्वेष इनसे रहित होता हुआ योगी ध्यानी मुनि है वह परमात्मा अर्थात् सर्वकर्म रहित शुद्ध परमात्मा उनका ध्यान करता है।

भावार्थ – मन वचन काय से तीन काल योग धारण कर परमात्मा का ध्यान करे इसप्रकार कष्ट में दृढ़ रहे तब ज्ञात होता है कि इसके ध्यान की सिद्धि है, कष्ट आने पर चलायमान हो जाय तब ध्यान की सिद्धि कैसी ? चित्त में किसी भी प्रकार की शल्य रहने से चित्त एकाग्र नहीं होता है, तब ध्यान कैसे हो ? इसलिए शल्य रहित कहा, श्रद्धान, ज्ञान, आचरण यथार्थ न हो तब ध्यान कैसा ? इसलिए दर्शन, ज्ञान, चारित्र मंडित कहा और राग-द्वेष-इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रहे तब ध्यान कैसे हो ? इस तरह परमात्मा का ध्यान करे यह तात्पर्य है ॥४४॥

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार होता है वह उत्तम सुख को पाता है –

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।

णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४५॥

मदमायाक्रोधरहितः लोभेन विवर्जितश्च यः जीवः ।

निर्मलस्वभावयुक्तः सः प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥४५॥

अर्थ – जो जीव मद, माया, क्रोध इनसे रहित हो और लोभ से विशेषरूप से रहित हो वह जीव निर्मल विशुद्ध स्वभावयुक्त होकर उत्तम सुख को प्राप्त करता है।

भावार्थ – लोक में भी ऐसा है कि जो मद अर्थात् अति मानी और माया कपट और क्रोध इनसे रहित हो और लोभ से विशेष रहित हो, वह सुख पाता है, तीव्र कषायी अति आकुलतायुक्त होकर निरन्तर दुखी रहता है, अतः यही रीति मोक्षमार्ग में भी जानो, जो क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषायों से रहित होता है, तब निर्मल भाव होते हैं और तब ही यथाख्यात चारित्र पाकर उत्तम

जो जीव माया-मान-लालच-क्रोध को तज शुद्ध हो ।

निर्मल-स्वभाव धरे वही नर परमसुख को प्राप्त हो ॥४५॥

जो रुद्र विषय-कषाय युत जिन भावना से रहित हैं ।

जिनलिंग से हैं पराङ्मुख वे सिद्धसुख पावें नहीं ॥४६॥

सुख को प्राप्त करता है ॥४५॥

आगे कहते हैं कि जो विषय कषायों में आसक्त है, परमात्मा की भावना से रहित है, रौद्रपरिणामी है, वह जिनमत से पराङ्मुख है, अतः वह मोक्ष के सुखों को प्राप्त नहीं कर सकता -

विसयकसाएहि जुदो रुदो परमप्पभावरहियमणो ।

सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्महो जीवो ॥४६॥

विषयकषायैः युक्तः रुद्रः परमात्मभावरहितमनाः ।

सः न लभते सिद्धिसुखं जिनमुद्रापराङ्मुखः जीवः ॥४६॥

अर्थ - जो जीव विषय-कषायों से युक्त है, रौद्रपरिणामी है, हिंसादिक विषय-कषायादिक पापों में हर्षसहित प्रवृत्ति करता है और जिसका चित्त परमात्मा की भावना से रहित है ऐसा जीव जिनमुद्रा से पराङ्मुख है वह ऐसे सिद्धिसुख जो मोक्ष के सुख को प्राप्त नहीं कर सकता ।

भावार्थ - जिनमत में ऐसा उपदेश है कि जो हिंसादिक पापों से विरक्त हो, विषय-कषायों में आसक्त न हो और परमात्मा का स्वरूप जानकर उसकी भावनासहित जीव होता है, वह मोक्ष को प्राप्त कर सकता है इसलिए जिनमत की मुद्रा से जो पराङ्मुख है उसको मोक्ष कैसे हो ? वह तो संसार में ही भ्रमण करता है । यहाँ रुद्र का विशेषण दिया है, उसका ऐसा भी आशय है कि रुद्र ग्यारह होते हैं, ये विषय-कषायों में आसक्त होकर जिनमुद्रा से भ्रष्ट होते हैं, इनको मोक्ष नहीं होता है, इनकी कथा पुराणों से जानना ॥४६॥

आगे कहते हैं कि जिनमुद्रा से मोक्ष होता है, किन्तु यह मुद्रा जिन जीवों को नहीं रुचती है वे संसार में ही रहते हैं -

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण ऽजिणवरुद्धिट्ठं ।

सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्चंति भवगहणे ॥४७॥

जिनमुद्रा सिद्धिसुखं भवति नियमेन जिनवरोद्धिष्टा ।

स्वप्नेऽपि न रोचते पुनः जीवाः तिष्ठंति भवगहने ॥४७॥

अर्थ - जिन भगवान के द्वारा कही गई जिनमुद्रा है वही सिद्धिसुख है, मुक्तिसुख ही है, यह कारण में कार्य का उपचार जानना, जिनमुद्रा मोक्ष का कारण है, मोक्षसुख उसका कार्य है । ऐसी जिनमुद्रा जिनभगवान ने जैसी कही है वैसी ही है । ऐसी जिनमुद्रा जिस जीव को साक्षात् तो दूर ही

१. पाठान्तरः - जिणवरुद्धिष्टा ।

जिनवर कथित जिनलिंग ही है सिद्धिसुख यदि स्वप्न में ।

भी ना रुचे तो जान लो भव गहन वन में वे रुलें ॥४७॥

रहो, स्वप्न में भी कदाचित् भी नहीं रुचती है उसका स्वप्न आता है तो भी अवज्ञा होती है तो वह जीव संसाररूप गहन वन में रहता है, मोक्ष के सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थ – जिनदेवभाषित जिनमुद्रा मोक्ष का कारण है वह मोक्षरूप ही है, क्योंकि जिनमुद्रा के धारक वर्तमान में भी स्वाधीन सुख को भोगते हैं और पीछे मोक्ष के सुख को प्राप्त करते हैं। जिस जीव को यह नहीं रुचती है वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता, संसार में ही रहता है ॥४७॥

आगे कहते हैं कि जो परमात्मा का ध्यान करता है वह योगी लोभरहित होकर नवीन कर्म का आस्रव नहीं करता है –

परमप्पय ज्ञायंतो जोई मुच्चेई मलदलोहेण ।
णादियदि णवं कम्मं णिद्धिं जिनवरिंदेहिं ॥४८॥

परमात्मानं ध्यायन् योगी मुच्यते मलदलोभेन ।
नाद्रियते नवं कर्म निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥४८॥

अर्थ – जो योगी ध्यानी परमात्मा का ध्यान करता हुआ रहता है वह मल देनेवाले लोभकषाय से छूटता है उसके लोभ मल नहीं लगता है इसी से नवीन कर्म का आस्रव उसके नहीं होता है यह जिनवरेन्द्र तीर्थकर सर्वज्ञदेव ने कहा है।

भावार्थ – मुनि भी हो और परजन्मसंबंधी प्राप्ति का लोभी होकर निदान करे उसके परमात्मा का ध्यान नहीं होता है इसलिए जो परमात्मा का ध्यान करे उसके इस लोक परलोक संबंधी परद्रव्य का कुछ भी लोभ नहीं होता है इसीलिए उसके नवीन कर्म का आस्रव नहीं होता – ऐसा जिनदेव ने कहा है। यह लोभ कषाय ऐसा है कि दसवें गुणस्थान तक पहुँच जाने पर भी अव्यक्त होकर आत्मा के मल लगाता है। इसलिए इसको काटना ही युक्त है अथवा जबतक मोक्ष की चाहरूप लोभ रहता है तबतक मोक्ष नहीं होता इसलिए लोभ का अत्यंत निषेध है ॥४८॥

आगे कहते हैं कि जो ऐसा निर्लोभी बनकर दृढ़ सम्यक्त्व ज्ञान चरित्रवान होकर परमात्मा का ध्यान करता है वह परमपद को पाता है –

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।

परमात्मा के ध्यान से हो नाश लोभ कषाय का ।
नवकर्म का आस्रव रुके यह कथन जिनवरदेव का ॥४८॥
जो योगी सम्यक्दर्शपूर्वक चारित्र दृढ़ धारण करे ।
निज आत्मा का ध्यानधर वह मुक्ति की प्राप्ति करे ॥४९॥

झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४९॥

भूत्वा दृछ चरित्रः दृढसम्यक्त्वेन

भ ा वि त म ति : ।

ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥४९॥

अर्थ – पूर्वोक्त प्रकार जिसकी मति दृढ सम्यक्त्व से भावित है ऐसे योगी ध्यानी मुनि दृढचारित्रवान होकर आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद अर्थात् परमात्मपद को प्राप्त करता है।

भावार्थ – सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप दृढ होकर परिषह आने पर भी चलायमान न हो, इसप्रकार से आत्मा का ध्यान करता है वह परमपद को प्राप्त करता है – ऐसा तात्पर्य है ॥४९॥

आगे दर्शन, ज्ञान, चारित्र से निर्वाण होता है ऐसा कहते आये वह दर्शन, ज्ञान तो जीव का स्वरूप है, उसको जाना, परन्तु चारित्र क्या है ? ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं –

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।

सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥५०॥

चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः सः भवति आत्मसमभावः ।

सः रागदोषरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः ॥५०॥

अर्थ – स्वधर्म अर्थात् आत्मा का धर्म है वह चरण अर्थात् चारित्र है। धर्म है वह आत्मसमभाव है, सब जीवों में समानभाव है। जो अपना धर्म है वही सब जीवों में है अथवा सब जीवों को अपने समान मानना है और जो आत्मस्वभाव से ही (स्वाश्रय के द्वारा) रागद्वेष रहित है, किसी से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं है – ऐसा चारित्र है वह जैसे जीव के दर्शन-ज्ञान है वैसे ही अनन्य परिणाम है, जीव का ही भाव है।

भावार्थ – चारित्र है वह ज्ञान में रागद्वेष रहित निराकुलतारूप स्थिरभाव है वह जीव का ही अभेदरूप परिणाम है, कुछ अन्य वस्तु नहीं है ॥५०॥

आगे जीव के परिणाम की स्वच्छता को दृष्टान्त पूर्वक दिखाते हैं –

चारित्र ही निजधर्म है अर धर्म आत्मस्वभाव है।

अनन्य निज परिणाम वह ही राग-द्वेष विहीन है ॥५०॥

फटिकमणिसम जीव शुध पर अन्य के संयोग से।

वह अन्य-अन्य प्रतीत हो, पर मूलतः है अनन्य ही ॥५१॥

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो ।

तह रागादिविजुत्तो जीवा हवदि हु अण्णविहो ॥५१॥

यथा स्फटिकमणिः विशुद्धः परद्रव्ययुतः भवत्यन्यः सः ।

तथा रागादिवियुक्तः जीवः भवति स्फुटमन्यान्यविधः ॥५१॥

अर्थ – जैसे स्फटिकमणि विशुद्ध है, निर्मल है, उज्वल है वह परद्रव्य जो पीत, रक्त, हरित पुष्पादिक से युक्त होने पर अन्य सा दीखता है, पीतादिवर्णमयी दीखता है वैसे ही जीव विशुद्ध है स्वच्छ स्वभाव है, परन्तु यह (अनित्य पर्याय में अपनी भूल द्वारा स्व से च्युत होता है तो) रागद्वेषादिक भावों से युक्त होने पर अन्य-अन्य प्रकार हुआ दीखता है, यह प्रगट है ।

भावार्थ – यहाँ ऐसा जानना है कि रागादि विकार है वह पुद्गल के हैं और ये जीव के ज्ञान में आकर झलकते हैं तब उनसे उपयुक्त होकर इसप्रकार जानता है कि ये भाव मेरे ही हैं, जबतक इनका भेदज्ञान नहीं होता है तबतक जीव अन्य अन्य प्रकार-रूप अनुभव में आता है। यहाँ स्फटिकमणि का दृष्टान्त है उसके अन्य द्रव्य पुष्पादिक का डांक लगता है, तब अन्य सा दीखता है, इसप्रकार जीव के स्वच्छभाव की विचित्रता जानना ॥५१॥

इसीलिए आगे कहते हैं कि जब तक मुनि के (मात्र चारित्र दोष में) राग-द्वेष का अंश होता है तबतक सम्यग्दर्शन को धारण करता हुआ भी ऐसा होता है -

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मियसंजदेसु अणुरत्तो ।

सम्मत्तमुव्वहंतो ज्ञाणरओ होदि जोई सो ॥५२॥

देवे गुरौ च भक्तः साधर्मिके च संयतेषु अनुरक्तः ।

सम्यक्त्वमुद्वहन् ध्यानरतः भवति योगी सः ॥५२॥

अर्थ – जो योगी ध्यानी मुनि सम्यक्त्व को धारण करता है और जबतक यथाख्यात चारित्र को प्राप्त नहीं होता है तबतक अरहंत सिद्ध देव में और शिक्षा दीक्षा देनेवाले गुरु में तो भक्तियुक्त होता ही है इनकी भक्ति विनय सहित होती है और अन्य संयमी मुनि अपने समान धर्म सहित हैं

देव-गुरु का भक्त अर अनुरक्त साधक वर्ग में ।

सम्यक्सहित निज ध्यानरत ही योगी हो इस जगत में ॥५२॥

उग्र तप तप अज्ञ भव-भव में न जितने क्षय करें ।

विज्ञ अन्तर्मुहूरत में कर्म उतने क्षय करें ॥५३॥

उनमें भी अनुरक्त है, अनुरागसहित होता है वही मुनि ध्यान में प्रीतिवान् होता है और मुनि होकर भी देव-गुरु-साधर्मियों में भक्ति व अनुराग सहित न हो उसको ध्यान में रुचिवान नहीं कहते हैं, क्योंकि ध्यान करनेवाले के, ध्यानवाले से रुचि प्रीति होती है, ध्यानवाले न रुचें तब ज्ञात होता है कि इसको ध्यान भी नहीं रुचता है इसप्रकार जानना चाहिए ॥५२॥

आगे कहते हैं कि जो ध्यान सम्यग्ज्ञानी के होता है वही तप करके कर्म का क्षय करता है -

उगतवेणणाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं ।

तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥५३॥

उग्रतपसाऽज्ञानी यत् कर्म क्षपयति भवैर्बहुकैः ।

तज्ज्ञानी त्रिभिः गुप्तः क्षपयति अन्तर्मुहूर्तेन ॥५३॥

अर्थ - अज्ञानी तीव्र तप के द्वारा बहुत भवों में जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने कर्मों का ज्ञानी मुनि तीन गुप्ति सहित होकर अन्तर्मुहूर्त में ही क्षय कर देता है ।

भावार्थ - जो ज्ञान का सामर्थ्य है वह तीव्र तप का भी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि ऐसा है कि अज्ञानी अनेक कष्टों को सहकर तीव्र तप को करता हुआ करोड़ों भवों में जितने कर्मों का क्षय करता है वह आत्मभावना सहित ज्ञानी मुनि उतने कर्मों का अंतर्मुहूर्त में क्षय कर देता है, यह ज्ञान का सामर्थ्य है ॥५३॥

आगे कहते हैं कि जो इष्ट वस्तु के संबंध से परद्रव्य में रागद्वेष करता है वह उस भाव से अज्ञानी होता है, ज्ञानी इससे उल्टा है -

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू ।

सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीओ ॥५४॥

शुभयोगेन सुभावं परद्रव्ये करोति रागतः साधुः ।

सः तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्मात्तु विपरीतः ॥५४॥

अर्थ - शुभ योग अर्थात् अपने इष्ट वस्तु के संबंध से परद्रव्य में सुभाव अर्थात् प्रीतिभाव को करता है वह प्रगट रागद्वेष है, इष्ट में राग हुआ तब अनिष्ट वस्तु में द्वेषभाव होता ही है, इसप्रकार जो राग-द्वेष करता है वह उस कारण से रागी-द्वेषी अज्ञानी है और जो इससे विपरीत अर्थात् उलटा है, परद्रव्य में रागद्वेष नहीं करता है वह ज्ञानी है ।

परद्रव्य में जो साधु करते राग शुभ के योग से ।

वे अज्ञ हैं पर विज्ञ राग नहीं करें परद्रव्य में ॥५४॥

भावार्थ – ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मुनि के परद्रव्य में रागद्वेष नहीं है, क्योंकि राग उसको कहते हैं कि जो परद्रव्य को सर्वथा इष्ट मानकर राग करता है, वैसे ही अनिष्ट मानकर द्वेष करता है, परन्तु सम्यग्ज्ञानी परद्रव्य में इष्ट अनिष्ट की कल्पना ही नहीं करता है तब राग-द्वेष कैसे हों ? चारित्रमोह के उदयवश होने से कुछ धर्मराग होता है, उसको भी रोग (राग) जानता है, भला नहीं समझता है तब अन्य में कैसे राग हो ? परद्रव्य से राग-द्वेष करता है वह तो अज्ञानी है, ऐसे जानना ॥५४॥

आगे कहते हैं कि जैसे परद्रव्य में रागभाव होता है वैसे मोक्ष के निमित्त भी राग हो तो वह राग भी आस्रव का कारण है, उसे भी ज्ञानी नहीं करता है -

आस्रवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि ।

सो तेण दु अण्णाणी आदसहावा दु विवरीदु ॥५५॥

आस्रवहेतुश्च तथा भावः मोक्षस्य कारणं भवति ।

सः तेन तु अज्ञानी आत्मस्वाभावान्तु विपरीतः ॥५५॥

अर्थ – जैसे परद्रव्य में राग को कर्मबंध का कारण पहिले कहा वैसे ही राग भाव यदि मोक्ष के निमित्त भी हो तो आस्रव का ही कारण है, कर्म का बंध ही करता है; इसकारण से जो मोक्ष को परद्रव्य की तरह इष्ट मानकर वैसे ही रागभाव करता है तो वह जीव मुनि भी अज्ञानी है, क्योंकि वह आत्मस्वभाव से विपरीत है, उसने आत्मस्वभाव को नहीं जाना है ।

भावार्थ – मोक्ष तो सब कर्मों से रहित अपना ही स्वभाव है अपने को सब कर्मों से रहित होना है इसलिए यह भी रागभाव ज्ञानी के नहीं होता है, यदि चारित्रमोह का उदयरूप राग हो तो उस राग को भी बंध का कारण जानकर रोग के समान छोड़ना चाहे तो वह ज्ञानी है ही और इस रागभाव को भला समझकर आप करता है तो अज्ञानी है । आत्मा का स्वभाव सब रागादिकों से रहित है उसको इसने नहीं जाना, इसप्रकार रागभाव को मोक्ष का कारण और अच्छा समझकर करते हैं, उसका निषेध है ॥५५॥

आगे कहते हैं कि जो कर्ममात्र से ही सिद्धि मानता है उसने आत्मस्वभाव को नहीं जाना है

निज भाव से विपरीत अर जो आस्रवों के हेतु हैं ।

जो उन्हें मानें मुक्तिमग वे साधु सचमुच अज्ञ हैं ॥५५॥

अरे जो कर्मजनित वे करें आत्मस्वभाव को ।

खण्डित अतः वे अज्ञजन जिनधर्म के दूषक कहे ॥५६॥

वह अज्ञानी है जिनमत से प्रतिकूल है -

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो ।

सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥५६॥

यः कर्मजातमतिकः स्वभावज्ञानस्य खंडदूषणकरः ।

सः तेन तु अज्ञानी जिनशासनदूषकः भणितः ॥५६॥

अर्थ - जिसकी बुद्धि कर्म ही में उत्पन्न होती है ऐसा पुरुष स्वभावज्ञान जो केवलज्ञान उसको खंडरूप दूषण करनेवाला है, इन्द्रियज्ञान खंड-खंडरूप है, अपने-अपने विषय को जानता है जो जीव इतना मात्र ही ज्ञान को मानता है, इसकारण से ऐसा माननेवाला अज्ञानी है, जिनमत को दूषित करता है। (अपने में महादोष उत्पन्न करता है)

भावार्थ - मीमांसक मतवाला कर्मवादी है, सर्वज्ञ को नहीं मानता है, इन्द्रिय ज्ञानमात्र ही ज्ञान को जानता है, केवलज्ञान को नहीं मानता है, इसका यहाँ निषेध किया है, क्योंकि जिनमत में आत्मा का स्वभाव सबको जाननेवाला केवलज्ञानस्वरूप कहा है, परन्तु वह कर्म के निमित्त से आच्छादित होकर इन्द्रियों के द्वारा क्षयोपशम के निमित्त से खंडरूप हुआ, खंड-खंड विषयों को जानता है (निज बल द्वारा) कर्मों का नाश होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है तब आत्मा सर्वज्ञ होता है इसप्रकार मीमांसक मतवाला नहीं मानता है, अतः वह अज्ञानी है, जिनमत से प्रतिकूल है, कर्ममात्र में ही उसकी बुद्धि गत हो रही है, ऐसे कोई और भी मानते हैं वह ऐसा ही जानना ॥५६॥

आगे कहते हैं कि जो ज्ञान-चारित्र रहित हो और तप सम्यक्त्व रहित हो तथा अन्य भी क्रिया भावपूर्वक न हो तो इसप्रकार केवल लिंग भेषमात्र ही से क्या सुख है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है -

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं ।

अण्णेसु भावरहियं लिंगग्रहणेण किं सोक्खं ॥५७॥

ज्ञानं चारित्रहीनं दर्शनहीनं तपोभिः संयुक्तम् ।

अन्येषु भावरहितं लिंगग्रहणेन किं सौख्यम् ॥५७॥

चारित रहित है ज्ञान-दर्शन हीन तप संयुक्त है ।

क्रिया भाव विहीन तो मुनिवेष से क्या साध्य है ॥५७॥

अर्थ – जहाँ ज्ञान तो चारित्र रहित है, तपयुक्त भी है, परन्तु वह दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व से रहित है, अन्य भी आवश्यक आदि क्रियायें हैं, परन्तु उनमें भी शुद्ध भाव नहीं है, इसप्रकार लिंग-भेष ग्रहण करने में क्या सुख है ?

भावार्थ – कोई मुनि भेषमात्र से तो मुनि हुआ और शास्त्र भी पढ़ता है। उसको कहते हैं कि शास्त्र पढ़कर ज्ञान तो किया, परन्तु निश्चय चारित्र तो शुद्ध आत्मा का अनुभवरूप तथा बाह्य चारित्र निर्दोष नहीं किया, तप का क्लेश बहुत किया, सम्यक्त्व भावना नहीं हुई और आवश्यक आदि बाह्य क्रिया की, परन्तु भाव शुद्ध नहीं किये तो ऐसे बाह्य भेषमात्र से तो क्लेश ही हुआ, कुछ शांतभावरूप सुख तो हुआ नहीं और यह भेष परलोक के सुख में भी कारण नहीं हुआ; इसलिए सम्यक्त्वपूर्वक भेष (जिन-लिंग) धारण करना श्रेष्ठ है ॥५७॥

आगे सांख्यमती आदि के आशय का निषेध करते हैं -

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी ।

सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥५८॥

अचेतनेऽपि चेतनं यः मन्यते सः भवति अज्ञानी ।

सः पुनः ज्ञानी भणितः य मन्यते चेतने चेतनम् ॥५८॥

अर्थ – जो अचेतन में चेतन को मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतन में ही चेतन को मानता है, उसे ज्ञानी कहा है।

भावार्थ – सांख्यमती ऐसे कहता है कि पुरुष तो उदासीन चेतनास्वरूप नित्य है और यह ज्ञान है वह प्रधान का धर्म है, इनके मत में पुरुष को उदासीन चेतनास्वरूप माना है अतः ज्ञान बिना तो वह जड़ ही हुआ, ज्ञान बिना चेतन कैसे ? ज्ञान को प्रधान का धर्म माना है और प्रधान को जड़ माना तब अचेतन में चेतना मानी तब अज्ञानी ही हुआ।

नैयायिक, वैशेषिक मतवाले गुण-गुणी में सर्वथा भेद मानते हैं, तब उन्होंने चेतना गुण को जीव से भिन्न माना तब जीव तो अचेतन ही रहा। इसप्रकार अचेतन में चेतनापना माना। भूतवादी चार्वाक भूत पृथ्वी आदिक से चेतनता की उत्पत्ति मानता है, भूत तो जड़ है उसमें चेतनता कैसे उमड़े ? इत्यादिक अन्य भी कई मानते हैं वे सब अज्ञानी हैं, इसलिए चेतन में ही चेतन माने वह जो आत्मा को अचेतन है मानते अज्ञानि वे।

पर ज्ञानिजन तो आतमा को एक चेतन मानते ॥५८॥

निरर्थक तप ज्ञान विरहित तप रहित जो ज्ञान है।

यदि ज्ञान तप हों साथ तो निर्वाणपद की प्राप्ति हो ॥५९॥

ज्ञानी है, यह जिनमत है ॥५८॥

आगे कहते हैं कि तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप ये दोनों ही अकार्य हैं, दोनों के संयुक्त होने पर ही निर्वाण है -

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।

तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥५९॥

तपोरहितं यत् ज्ञानं ज्ञानवियुक्तं तपः अपि अकृतार्थम् ।

तस्मात् ज्ञानतपसा संयुक्तः लभते निर्वाणम् ॥५९॥

अर्थ - जो ज्ञान तपरहित है और जो तप है वह भी ज्ञानरहित है तो दोनों ही अकार्य हैं इसलिए ज्ञान तप संयुक्त होने पर ही निर्वाण को प्राप्त करता है ।

भावार्थ - अन्यमती सांख्यादिक ज्ञानचर्चा तो बहुत करते हैं और कहते हैं कि ज्ञान से ही मुक्ति है और तप नहीं करते हैं, विषय-कषायों को प्रधान का धर्म मानकर स्वच्छंद प्रवर्तते हैं। कई ज्ञान को निष्फल मानकर उसको यथार्थ जानते नहीं हैं और तप क्लेशादिक से ही सिद्धि मानकर उसके करने में तत्पर रहते हैं। आचार्य कहते हैं कि ये दोनों ही अज्ञानी हैं जो ज्ञानसहित तप करते हैं वे ज्ञानी हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं, यह अनेकान्तस्वरूप जिनमत का उपदेश है ॥५९॥

आगे इसी अर्थ को उदाहरण से दृढ़ करते हैं -

ध्रुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं ।

णाऊण ध्रुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥

ध्रुवसिद्धिस्तीर्थकरः चतुर्ज्ञानयुतः करोति तपश्चरणम् ।

ज्ञात्वा ध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणं ज्ञानयुक्तः अपि ॥६०॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि देखो..., जिसको नियम से मोक्ष होना है... और जो चार ज्ञान - मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इनसे युक्त है ऐसा तीर्थकर भी तपश्चरण करता है, इसप्रकार निश्चय से जानकर ज्ञानयुक्त होने पर भी तप करना योग्य है। (तप-मुनित्व; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-

क्योंकि चारों ज्ञान से भी महामण्डित तीर्थकर ।

भी तप करें बस इसलिए तप करो सम्यग्ज्ञान युत ॥६०॥

स्वानुभव से भ्रष्ट एवं शून्य अन्तरलिंग से ।

बहिल्लिंग जो धारण करें वे मोक्षमग नाशक कहे ॥६१॥

चारित्र की एकता को तप कहा है)

भावार्थ – तीर्थकर मति-श्रुत-अवधि इन तीन ज्ञान सहित तो जन्म लेते हैं और दीक्षा लेते ही मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो जाता है, मोक्ष उनको नियम से होना है तो भी तप करते हैं, इसलिए ऐसा जानकर ज्ञान होते हुए भी तप करने में तत्पर होना, ज्ञानमात्र ही से मुक्ति नहीं मानना ॥६०॥

आगे जो बाह्यलिंग सहित है और अभ्यन्तरलिंग रहित है वह स्वरूपाचरण चारित्र से भ्रष्ट हुआ मोक्षमार्ग का विनाश करनेवाला है, इसप्रकार सामान्यरूप से कहते हैं -

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो ।

सो सगचरित्तभट्टो मोक्खपहविणासगो साहू ॥६१॥

बाह्यलिंगेन युतः अभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा ।

सः स्वकचारित्रभ्रष्टः मोक्षपथविनाशकः साधुः ॥६१॥

अर्थ – जो जीव बाह्य लिंग-भेष सहित है और अभ्यन्तर लिंग जो परद्रव्यों में सर्व रागादिक ममत्वभाव रहित ऐसे आत्मानुभव से रहित है तो वह स्वक-चारित्र अर्थात् अपने आत्मस्वरूप के आचरण-चारित्र से भ्रष्ट है, परिकर्म अर्थात् बाह्य में नग्नता, ब्रह्मचर्यादि शरीरसंस्कार से परिवर्तनवान द्रव्यलिंगी होने पर भी वह स्व-चारित्र से भ्रष्ट होने से मोक्षमार्ग का विनाश करनेवाला है ॥६१॥ (अतः मुनि-साधु को शुद्धभाव को जानकर निज शुद्ध बुद्ध एकस्वभावी आत्मतत्त्व में नित्य भावना (एकाग्रता) करनी चाहिए।) (श्रुतसागरी टीका से)

भावार्थ – यह संक्षेप से कहा जानो कि जो बाह्यलिंग संयुक्त है और अभ्यन्तर अर्थात् भावलिंग रहित है, वह स्वरूपाचरण चारित्र से भ्रष्ट हुआ मोक्षमार्ग का नाश करनेवाला है ॥६१॥

आगे कहते हैं कि जो सुख से भावित ज्ञान है वह दुःख आने पर नष्ट होता है इसलिए तपश्चरणसहित ज्ञान को भाना -

सुहेण भाविदं गाणं दुहे जादे विणस्सदि ।

तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥

सुखेन भावितं ज्ञानं दुःखे जाते विनश्यति ।

तस्मात् यथाबलं योगी आत्मानं दुःखैः भावयेत् ॥६२॥

अर्थ – सुख से भाया हुआ ज्ञान है वह उपसर्ग-परीषहादि के द्वारा दुःख उत्पन्न होते ही नष्ट अनुकूलता में जो सहज प्रतिकूलता में नष्ट हो। इसलिये प्रतिकूलता में करो आत्म साधना ॥६२॥

हो जाता है, इसलिए यह उपदेश है कि जो योगी ध्यानी मुनि है वह तपश्चरणादि के कष्ट (दुःख) सहित आत्मा को भावे । (अर्थात् बाह्य में जरा भी अनुकूल-प्रतिकूल न मानकर निज आत्मा में ही एकाग्रतारूपी भावना करे, जिससे आत्मशक्ति और आत्मिक आनंद का प्रचुर संवेदन बढ़ता ही है ।)

भावार्थ – तपश्चरण का कष्ट अंगीकार करके ज्ञान को भावे तो परीषह आने पर ज्ञानभावना से चिगे नहीं, इसलिए शक्ति के अनुसार दुःख सहित ज्ञान को भाना, सुख ही में भावे तो दुःख आने पर व्याकुल हो जावे तब ज्ञानभावना न रहे, इसलिए यह उपदेश है ॥६२॥

आगे कहते हैं कि आहार, आसन, निद्रा इनको जीत कर आत्मा का ध्यान करना –

आहारासणनिद्राजयं च काऊण जिनवरमण ।

झायव्वो णिय अप्पा णाऊणं गुरुपसाएण ॥६३॥

आहारासननिद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन ।

ध्यातव्यः निजात्मा ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥६३॥

अर्थ – आहार, आसन, निद्रा इनको जीतकर और जिनवर के मत से तथा गुरु के प्रसाद से जानकर निज आत्मा का ध्यान करना ।

भावार्थ – आहार, आसन, निद्रा को जीतकर आत्मा का ध्यान करना तो अन्य मतवाले भी कहते हैं, परन्तु उनके यथार्थ विधान नहीं है इसलिए आचार्य कहते हैं कि जैसे जिनमत में कहा है, उस विधान को गुरु के प्रसाद से जानकर ध्यान करना सफल है, जैसे जैनसिद्धान्त में आत्मा का स्वरूप तथा ध्यान का स्वरूप और आहार, आसन, निद्रा इनके जीतने का विधान कहा है वैसे जानकर इनमें प्रवर्तना ॥६३॥

आगे आत्मा का ध्यान करना वह आत्मा कैसा है, यह कहते हैं –

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा ।

सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥६४॥

आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुतः आत्मा ।

आहार निद्रा और आसन जीत ध्याओ आतमा ।

बस यही है जिनदेव का मत यही गुरु की आज्ञा ॥६३॥

ज्ञान दर्शन चरित मय जो आतमा जिनवर कहा ।

गुरु की कृपा से जानकर नित ध्यान उसका ही करो ॥६४॥

सः ध्यातव्यः नित्यं ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥६४॥

अर्थ – आत्मा चारित्रवान् है और दर्शन-ज्ञान सहित है ऐसा आत्मा गुरु के प्रसाद से जानकर नित्य ध्यान करना ।

भावार्थ – आत्मा का रूप दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी है, इसका रूप जैनगुरुओं के प्रसाद से जाना जाता है। अन्यमतवाले अपना बुद्धिकल्पित जैसा तैसा मानकर ध्यान करते हैं, उनके यथार्थ सिद्धि नहीं है, इसलिए जैनमत के अनुसार ध्यान करना ऐसा उपदेश है ॥६४॥

आगे कहते हैं कि आत्मा का जानना, भाना और विषयों से विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ होने से दुःख से (दृढ़तर पुरुषार्थ से) प्राप्त होते हैं -

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं ।

भावियसहावपुरिसो विसयेसु विरच्चए दुक्खं ॥६५॥

दुःखेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दुःखम् ।

भावितस्वभावपुरुषः विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥६५॥

अर्थ – प्रथम तो आत्मा को जानते हैं वह दुःख से जाना जाता है, फिर आत्मा को जानकर भी भावना करना, फिर फिर उसी का अनुभव करना दुःख से (उग्र पुरुषार्थ से) होता है, कदाचित् भावना भी किसी प्रकार हो जावे तो भायी है जिनभावना जिसने ऐसा पुरुष विषयों से विरक्त बड़े दुःख से (अपूर्व पुरुषार्थ से) होता है ।

भावार्थ – आत्मा का जानना, भाना विषयों से विरक्त होना उत्तरोत्तर यह योग मिलना बहुत दुर्लभ है, इसलिए यह उपदेश है कि ऐसा सुयोग मिलने पर प्रमादी न होना ॥६५॥

आगे कहते हैं कि जबतक विषयों में यह मनुष्य प्रवर्तता है तबतक आत्मज्ञान नहीं होता -

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।

विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

तावन्न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नरः प्रवर्तते यावत् ।

विषये विरक्तचित्तः योगी जानाति आत्मानम् ॥६६॥

~~अर्थ~~ जबतक यह मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तता है तबतक आत्मा को नहीं जानता आत्मा को जानना भाना व करना अनुभवन ।

तथा विषयों से विरक्ति उत्तरोत्तर है कठिन ॥६५॥

जबतक विषय में प्रवृत्ति तबतक न आत्मज्ञान हो ।

इसलिए आत्म जानते योगी विषय विरक्त हों ॥६६॥

है, इसलिए योगी ध्यानी मुनि है वह विषयों से विरक्त चित्त होता हुआ आत्मा को जानता है।

भावार्थ – जीव के स्वभाव के उपयोग की ऐसी स्वच्छता है कि जो जिस ज्ञेय पदार्थ में उपयुक्त होता है, वैसा ही हो जाता है, इसलिए आचार्य कहते हैं कि जबतक विषयों में चित्त रहता है, तबतक अनुरूप रहता है, आत्मा का अनुभव नहीं होता है, इसलिए योगी मुनि इसप्रकार विचार कर विषयों से विरक्त हो आत्मा में उपयोग लगावे तब आत्मा को जाने, अनुभव करे, इसलिए विषयों से विरक्त होना यह उपदेश है ॥६६॥

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं कि आत्मा को जानकर भी भावना बिना संसार में ही रहता है -

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्टा ।
हिडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

आत्मानं ज्ञात्वा नरः केचित् सद्भावभावप्रभ्रष्टाः ।

हिण्डन्ते चातुरंगं विषयेषु विमोहिताः मूढाः ॥६७॥

अर्थ – कई मनुष्य आत्मा को जानकर भी अपने स्वभाव की भावना से अत्यंत भ्रष्ट हुए विषयों में मोहित होकर अज्ञानी मूर्ख चार गतिरूप संसार में भ्रमण करते हैं।

भावार्थ – पहिले कहा था कि आत्मा को जानना, भाना, विषयों से विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ पाये जाते हैं, विषयों में लगा हुआ प्रथम तो आत्मा को जानता नहीं है ऐसे कहा, अब यहाँ इसप्रकार कहा कि आत्मा को जानकर भी विषयों के वशीभूत हुआ भावना नहीं करे तो संसार ही में भ्रमण करता है, इसलिए आत्मा को जानकर विषयों से विरक्त होना यह उपदेश है ॥६७॥

आगे कहते हैं कि जो विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर भाते हैं वे संसार को छोड़ते हैं -

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

ये पुनः विषयविरक्ताः आत्मानं ज्ञात्वा भावनासहिताः ।

~~त्सुजन्ति चातुरंगं तपोगुणयुक्ताः न संदेहः ॥६८॥~~

निज आत्मा को जानकर भी मूढ़ रमते विषय में।

हो स्वानुभव से भ्रष्ट भ्रमते चतुर्गति संसार में ॥६७॥

अरे विषय विरक्त हो निज आत्मा को जानकर।

जो तपोगुण से युक्त हों वे चतुर्गति से मुक्त हों ॥६८॥

अर्थ – फिर जो पुरुष मुनि विषयों से विरक्त हो आत्मा को जानकर भाते हैं, बारंबार भावना द्वारा अनुभव करते हैं वे तप अर्थात् बारह प्रकार तप और मूलगुण उत्तरगुणों से युक्त होकर संसार को छोड़ते हैं, मोक्ष पाते हैं।

भावार्थ – विषयों से विरक्त हो आत्मा को जानकर भावना करना, इससे संसार से छूटकर मोक्ष प्राप्त करो, यह उपदेश है ॥६८॥

आगे कहते हैं कि यदि परद्रव्य में लेशमात्र भी राग हो तो वह पुरुष अज्ञानी है, अपना स्वरूप उसने नहीं जाना –

परमाणुप्रमाणं वा परद्रव्ये रदि हवेदि मोहादो ।

सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ॥६९॥

परमाणुप्रमाणं वा परद्रव्ये रतिर्भवति मोहात् ।

सः मूढः अज्ञानी आत्मस्वभात् विपरीतः ॥६९॥

अर्थ – जिस पुरुष के परद्रव्य में परमाणु प्रमाण भी लेशमात्र मोह से रति अर्थात् राग-प्रीति हो तो वह पुरुष मूढ़ है, अज्ञानी है, आत्मस्वभाव से विपरीत है।

भावार्थ – भेदविज्ञान होने के बाद जीव-अजीव को भिन्न जाने, तब परद्रव्य को अपना न जाने तब उससे (कर्तव्यबुद्धि-स्वामित्वबुद्धि की भावना से) राग भी नहीं होता है यदि (ऐसा) हो तो जानो कि इसने स्व-पर का भेद नहीं जाना है, अज्ञानी है, आत्मस्वभाव से प्रतिकूल है और ज्ञानी होने के बाद चारित्रमोह का उदय रहता है जबतक कुछ राग रहता है उसको कर्मजन्य अपराध मानता है, उस राग से राग नहीं है, इसलिए विरक्त ही है, अतः ज्ञानी परद्रव्य से रागी नहीं कहलाता है, इसप्रकार जानना ॥६९॥

आगे इस अर्थ को संक्षेप से कहते हैं –

अप्पा ज्ञायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।

होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धीनां दृढचारित्राणाम् ।

यदि मोह से पर द्रव्य में रति रहे अणु प्रमाण में।

विपरीतता के हेतु से वे मूढ़ अज्ञानी रहें ॥६९॥

शुद्ध दर्शन दृढ़ चरित एवं विषय विरक्त नर।

निर्वाण को पाते सहज निज आत्मा का ध्यान धर ॥७०॥

भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ॥७०॥

अर्थ – पूर्वोक्त प्रकार जिनका चित्त विषयों से विरक्त है, जो आत्मा का ध्यान करते रहते हैं, जिनके बाह्य अभ्यन्तर दर्शन की शुद्धता है और जिनके दृढ़ चारित्र है उनको निश्चय से निर्वाण होता है।

भावार्थ – पहिले कहा था कि जो विषयों से विरक्त हों, आत्मा का स्वरूप जानकर आत्मा की भावना करते हैं वे संसार से छूटते हैं। इस ही अर्थ को संक्षेप में कहा है कि जो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर बाह्य अभ्यन्तर दर्शन की शुद्धता से दृढ़ चारित्र पालते हैं उनको नियम से निर्वाण की प्राप्ति होती है, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति सब अनर्थों का मूल है, इसलिए इनसे विरक्त होने पर उपयोग आत्मा में लगे तब कार्यसिद्धि होती है ॥७०॥

आगे कहते हैं कि जो परद्रव्य में राग है, वह संसार का कारण है इसलिए योगीश्वर आत्मा में भावना करते हैं –

जेण रागो परे द्रव्ये संसारस्स हि कारणं ।

तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणं ॥७१॥

येन रागः परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम् ।

तेनापि योगी नित्यं कुर्यात् आत्मनि स्वभावनाम् ॥७१॥

अर्थ – जिस कारण से परद्रव्य में राग है, वह संसार ही का कारण है उस कारण ही से योगीश्वर मुनि नित्य आत्मा ही में भावना करते हैं।

भावार्थ – कोई ऐसी आशंका करते हैं कि परद्रव्य में राग करने से क्या होता है ? परद्रव्य है वह पर है ही, अपने राग जिसकाल हुआ उस काल है, पीछे मिट जाता है उसको उपदेश दिया है कि परद्रव्य से राग करने पर परद्रव्य अपने साथ लगता है यह प्रसिद्ध है और अपने राग का संस्कार दृढ़ होता है तब परलोक तक भी चला जाता है यह तो युक्ति सिद्ध है और जिनागम में राग से कर्म का बंध कहा है, इसका उदय अन्य जन्म का कारण है, इसप्रकार परद्रव्य में राग से संसार होता है, इसलिए योगीश्वर मुनि परद्रव्य से राग छोड़कर आत्मा में निरंतर भवना रखते हैं ॥७१॥

पर द्रव्य में जो राग वह संसार कारण जानना ।

इसलिये योगी करें नित निज आत्मा की भावना ॥७१॥

निन्दा-प्रशंसा दुःख-सुख अर शत्रु-बंधु-मित्र में ।

अनुकूल अर प्रतिकूल में समभाव ही चारित्र है ॥७२॥

आगे कहते हैं कि ऐसे समभाव से चारित्र होता है -

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य ।
सत्तूणं चैव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥७२॥
निंदायां य प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च ।
शत्रूणां चैव बंधूनां चारित्रं समभावतः ॥७२॥

अर्थ - निन्दा-प्रशंसा में, दुःख-सुख में और शत्रु-बन्धु-मित्र में समभाव जो समतापरिणाम, रागद्वेष से रहितपना ऐसे भाव से चारित्र होता है ।

भावार्थ - चारित्र का स्वरूप यह कहा है कि जो आत्मा का स्वभाव है वह कर्म के निमित्त से ज्ञान में परद्रव्य से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती है, इस इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के अभाव से ज्ञान ही में उपयोग लगा रहे उसको शुद्धोपयोग कहते हैं वही चारित्र है, यह होता है वहाँ निंदा-प्रशंसा, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र में समान बुद्धि होती है, निंदा-प्रशंसा का द्विधाभाव मोहकर्म का उदयजन्य है, इसका अभाव ही शुद्धोपयोगरूप चारित्र है ॥७२॥

आगे कहते हैं कि कई मूर्ख ऐसे कहते हैं जो अभी पंचमकाल है सो आत्मध्यान का काल नहीं है, उसका निषेध करते हैं -

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्टा ।
केई जंपति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥
चर्यावृत्ताः व्रतसमितिवर्जिताः शुद्धभावप्रभ्रष्टाः ।
केचित् जल्पन्ति नराः न स्फुटं कालः ध्यानयोगस्य ॥७३॥

अर्थ - कई मनुष्य ऐसे हैं जिनके चर्या अर्थात् आचारक्रिया आवृत्त है, चारित्रमोह का उदय प्रबल है, इससे चर्या प्रकट नहीं होती है इसी से व्रतसमिति से रहित हैं और मिथ्या अभिप्राय के कारण शुद्धभाव से अत्यंत भ्रष्ट हैं, वे ऐसे कहते हैं कि अभी पंचमकाल है, यह काल प्रकट ध्यान योग का नहीं है ॥७३॥

जिनके नहीं व्रत-समिति चर्या भ्रष्ट हैं शुधभाव से ।
वे कहें कि इस काल में निज ध्यान योग नहीं बने ॥७३॥
जो शिवविमुख नर भोग में रत ज्ञानदर्शन रहित हैं ।
वे कहें कि इस काल में निज ध्यान-योग नहीं बने ॥७४॥

वे प्राणी कैसे हैं वह आगे कहते हैं -

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को ।
 संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७४॥
 सम्यक्त्वज्ञानरहितः अभव्यजीवः स्फुटं मोक्षपरिमुक्तः ।
 संसारसुखे सुरतः न स्फुटं कालः भणतिः ध्यानस्य ॥७४॥

अर्थ - पूर्वोक्त ध्यान का अभाव कहनेवाला जीव सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित है, अभव्य है इसी से मोक्ष रहित है और संसार के इन्द्रिय सुखों को भले जानकर उनमें रत है, आसक्त है, इसलिए कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है ।

भावार्थ - जिसको इन्द्रियों के सुख ही प्रिय लगते हैं और जीवाजीव पदार्थ के श्रद्धान-ज्ञान से रहित है वह इसप्रकार कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है । इससे ज्ञात होता है कि इसप्रकार कहनेवाला अभव्य है, इसको मोक्ष नहीं होगा ॥७४॥

जो ऐसा मानता है-कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं तो उसने पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति का स्वरूप भी नहीं जाना -

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
 जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७५॥
 पंचसु महाव्रतेषु च पंचसु समितिषु तिसूषु गुप्तिषु ।
 यः मूढः अज्ञानी न स्फुटं कालः भणिति ध्यानस्य ॥७५॥

अर्थ - जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इनमें मूढ है, अज्ञानी है अर्थात् इनका स्वरूप नहीं जानता है और चारित्रमोह के तीव्र उदय से इनको पाल नहीं सकता है वह इसप्रकार कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है ॥७५॥

आगे कहते हैं कि अभी इस पंचमकाल में धर्मध्यान होता है, यह नहीं मानता है, वह अज्ञानी है -

जो मूढ अज्ञानी तथा व्रत समिति गुप्ति रहित हैं ।
 वे कहें कि इस काल में निज ध्यान योग नहीं बने ॥७५॥
 भरत-पंचमकाल में निजभाव में थित संत के ।
 नित धर्मध्यान रहे न माने जीव जो अज्ञानि वे ॥७६॥

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
 तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥
 भरते दुःषमकाले धर्मध्यानं भवति साधोः ।
 तदात्मस्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी ॥७६॥

अर्थ – इस भरतक्षेत्र में दुःषमकाल-पंचमकाल में साधु मुनि के धर्मध्यान होता है यह धर्मध्यान आत्मस्वभाव में स्थित है उस मुनि के होता है, जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है उसको धर्मध्यान के स्वरूप का ज्ञान नहीं है ।

भावार्थ – जिनसूत्र में इस भरतक्षेत्र में पंचमकाल में आत्मभावना में स्थित मुनि के धर्मध्यान कहा है, जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है, उसको धर्मध्यान के स्वरूप का ज्ञान नहीं है ॥७६॥

आगे कहते हैं कि जो इस काल में भी रत्नत्रय का धारक मुनि होता है वह स्वर्ग लोक में लौकान्तिकपद, इन्द्रपद प्राप्त करके यहाँ से चयकर मोक्ष जाता है, इसप्रकार जिनसूत्र में कहा है-

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहिं इंदत्तं ।
 लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥
 अद्य अपि त्रिरत्नशुद्धा आत्मानं ध्यात्वा लभंते इन्द्रत्वम् ।
 लौकान्तिकदेवत्वं ततः च्युत्वा निर्वृत्तिं यांति ॥७७॥

अर्थ – अभी इस पंचमकाल में भी जो मुनि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता युक्त होते हैं वे आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपद अथवा लौकान्तिकदेवपद को प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ – कोई कहते हैं कि अभी इस पंचमकाल में जिनसूत्र में मोक्ष होना कहा नहीं, इसलिए ध्यान करना तो निष्फल खेद है, उसको कहते हैं कि हे भाई ! मोक्ष जाने का निषेध किया है और शुक्लध्यान का निषेध किया है, परन्तु धर्मध्यान का निषेध तो किया नहीं । अभी भी जो मुनि रत्नत्रय से शुद्ध होकर धर्मध्यान में लीन होते हुए आत्मा का ध्यान करते हैं, वे मुनि स्वर्ग में

रत्नत्रय से शुद्ध आतम आतमा का ध्यान धर ।
 आज भी हों इन्द्र आदिक प्राप्त करते मुक्ति फिर ॥७७॥
 जिन लिंग धर कर पाप करते पाप मोहितमति जो ।
 वे च्युत हुए हैं मुक्तिमग से दुर्गति दुर्मति हो ॥७८॥

इन्द्रपद को प्राप्त होते हैं अथवा लौकान्तिकदेव एक भवावतारी हैं, उनमें जाकर उत्पन्न होते हैं। वहाँ से चयकर मनुष्य हो मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। इसप्रकार धर्मध्यान से परंपरा मोक्ष होता है तब सर्वथा निषेध क्यों करते हो ? जो निषेध करते हैं वे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं, उनको विषय-कषायों में स्वच्छंद रहना है इसलिए इसप्रकार कहते हैं ॥७७॥

आगे कहते हैं कि जो इस काल में ध्यान का अभाव मानते हैं और मुनिर्लिंग पहिले ग्रहण कर लिया अब उसको गौण करके पाप में प्रवृत्ति करते हैं वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं -

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।

पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७८॥

ये पापमेहितमतयः लिंगं गृहीत्वा

जि न व र े न्द्रा णा म् ।

पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्त्वा मोक्षमार्गं ॥७८॥

अर्थ - जिनकी बुद्धि पापकर्म से मोहित है वे जिनवरेन्द्र तीर्थकर का लिंग ग्रहण करके भी पाप करते हैं वे पापी मोक्षमार्ग से च्युत हैं।

भावार्थ - जिन्होंने पहले निर्ग्रन्थ लिंग धारण कर लिया और पीछे ऐसी पापबुद्धि उत्पन्न हो गई कि अभी ध्यान का काल तो है नहीं, इसलिए क्यों प्रयास करें ? ऐसा विचारकर पाप में प्रवृत्ति करने लग जाते हैं वे पापी हैं, उनको मोक्षमार्ग नहीं है ॥७२॥

[* इस काल में धर्मध्यान किसी को नहीं होता' किन्तु भद्र ध्यान (व्रत, भक्ति, दान, पूजादिक के शुभभाव) होते हैं। इससे ही निर्जरा और परम्परा मोक्ष माना है और इसप्रकार सातवें गुणस्थान तक भद्र ध्यान और पश्चात् ही धर्मध्यान माननेवालों ने ही श्री देवसेनाचार्यकृत 'आराधनासार' नाम देकर एक जालीग्रन्थ बनाया है उसी का उत्तर केकड़ी निवासी पण्डित श्री मिलापचन्द्रजी कटारिया ने 'जैन निबंध रत्नमाला' पृष्ठ ४७ से ६० में दिया है कि इस काल में धर्म ध्यान गुणस्थान ४ से ७ तक आगम में कहा है। आधार - सूत्रजी की टीकाएँ, श्री राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि।]

आगे कहते हैं कि जो मोक्षमार्ग से च्युत हैं वे कैसे हैं -

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला ।

हैं परिग्रही अधःकर्मरत आसक्त जो वस्त्रादि में।

अर याचना जो करें वे सब मुक्तिमग से बाह्य हैं ॥७९॥

आधाकम्ममि रय ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७९॥

ये पंचचेलसक्ताः ग्रंथग्राहिणः याचनाशीलः ।

अधः कर्मणि रताः ते त्यक्ताः मोक्षमार्गे ॥७९॥

अर्थ – पंच आदि प्रकार के चेल अर्थात् वस्त्रों में आसक्त हैं, अंडज, कपासज, वल्कल, चर्मज और रोमच इसप्रकार वस्त्रों में किसी एक वस्त्र को ग्रहण करते हैं, ग्रन्थग्राही अर्थात् परिग्रह के ग्रहण करनेवाले हैं, याचनाशील अर्थात् माँगने का ही जिनका स्वभाव है और अधःकर्म अर्थात् पापकर्म में रत हैं, सदोष आहार करते हैं वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं ।

भावार्थ – यहाँ आशय ऐसा है कि पहिले तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि हो गये थे, पीछे कालदोष का विचारकर चारित्र पालने में असमर्थ हो निर्ग्रन्थ लिंग से भ्रष्ट होकर वस्त्रादिक अंगीकार कर लिये, परिग्रह रखने लगे, याचना करने लगे, अधःकर्म उद्देशिक आहार करने लगे उनका निषेध है, वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं । पहिले तो भद्रबाहु स्वामी तक निर्ग्रन्थ थे । पीछे दुर्भिक्षकाल में भ्रष्ट होकर जो अर्द्धफालक कहलाने लगे उनमें से श्वेताम्बर हुए, इन्होंने इस भेष को पुष्ट करने के लिए जो सूत्र बनाये, इनमें कई कल्पित आचरण तथा इसकी साधक कथायें लिखीं । इनके सिवाय अन्य भी कई भेष बदले, इसप्रकार कालदोष से भ्रष्ट लोगों का संप्रदाय चल रहा है, यह मोक्षमार्ग नहीं है, इसप्रकार बताया है । इसलिए इन भ्रष्ट लोगों को देखकर ऐसा भी मोक्षमार्ग है, ऐसा श्रद्धान न करना ॥७९॥

आगे कहते हैं कि मोक्षमार्गी तो ऐसे मुनि हैं –

णिगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया ।

पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८०॥

निर्ग्रन्थाः मोहमुक्ताः द्वाविंशतिपरीषहाः जितकषायाः ।

पापारंभविमुक्ताः ते गृहीताः मोक्षमार्गे ॥८०॥

अर्थ – जो मुनि निर्ग्रन्थ हैं, परिग्रह रहित हैं, मोहरहित हैं जिनके किसी भी परद्रव्य से ममत्वभाव नहीं है, जो बाईस परीषहों को सहते हैं, जिन्होंने क्रोधादि कषायों को जीत लिया है और पापारंभ से रहित हैं । गृहस्थ के करने योग्य आरंभादिक पापों में नहीं प्रवर्तते हैं, ऐसे मुनियों

रे मुक्त हैं जो जितकषायी पाप के आरंभ से ।

परिषहजयी निर्ग्रन्थ वे ही मुक्तिमार्ग में कहे ॥८०॥

त्रैलोक में मेरा न कोई मैं अकेला आतमा ।

इस भावना से योगिजन पाते सदा सुख शास्वता ॥८१॥

को मोक्षमार्ग में ग्रहण किया है अर्थात् माने हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समंतभद्राचार्य ने भी कहा है कि - “विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्तते ॥८०॥

भावार्थ - मुनि हैं वे लौकिक कष्टों और कार्यों से रहित हैं। जैसा जिनेश्वरदेव ने मोक्षमार्ग बाह्य अभ्यंतर परिग्रह से रहित नग्न दिगम्बररूप कहा है वैसे ही प्रवर्तते हैं, वे ही मोक्षमार्गी हैं, अन्य मोक्षमार्गी नहीं हैं ॥८०॥

आगे फिर मोक्षमार्गी की प्रवृत्ति कहते हैं -

उद्धृद्धमज्जलोये केई मज्जं ण अहयमेगागी ।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥८१॥
ऊर्ध्वाधोमध्यलोके केचित् मम न अहममेकाकी ।
इति भावनया योगिनः प्राप्नुवंति स्फुटं शाश्वतं
स तै रू य म् । । ८ १ । ।

अर्थ - मुनि ऐसी भावना करे - ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक इन तीनों लोकों में मेरा कोई भी नहीं है, मैं एकाकी आत्मा हूँ, ऐसी भावना से योगी मुनि प्रकटरूप से शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

भावार्थ - मुनि ऐसी भावना करे कि त्रिलोक में जीव एकाकी है इसका संबंधी दूसरा कोई नहीं है, यह परमार्थरूप एकत्व भावना है। जिस मुनि के ऐसी भावना निरन्तर रहती है वही मोक्षमार्गी है, जो भेष लेकर भी लौकिकजनों से लाल पाल रखता है, वह मोक्षमार्गी नहीं है ॥८१॥

आगे फिर कहते हैं -

देवगुरूणं भक्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतिंता ।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८२॥
देवगुरूणां भक्ताः निर्वेदपरंपरा विचिन्तयन्तः ।
ध्यानरताः सुचरित्राः ते गृहीताः मोक्षमार्गे ॥८२॥

अर्थ - जो मुनि देवगुरु के भक्त हैं, निर्वेद अर्थात् संसार देह-भोगों से विरागता की परंपरा

जो ध्यानरत सुचरित्र एवं देव-गुरु के भक्त हैं।
संसार-देह विरक्त वे मुनि मुक्तिमार्ग में कहे ॥८२॥

का चिंतन करते हैं, ध्यान में रत हैं, रक्त हैं, तत्पर हैं और जिनके भला-उत्तम चारित्र है, उनको मोक्षमार्ग में ग्रहण किये हैं।

भावार्थ – जिनने मोक्षमार्ग प्राप्त किया ऐसे अरहंत सर्वज्ञ वीतराग देव और उनका अनुसरण करनेवाले बड़े मुनि दीक्षा शिक्षा देनेवाले गुरु इनकी भक्तियुक्त हो, संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर मुनि हुए, वैसी ही जिनके वैराग्यभावना है, आत्मानुभवरूप शुद्ध उपयोगरूप एकाग्रतारूपी ध्यान में तत्पर हैं और जिनके व्रत, समिति, गुप्तिरूप निश्चय-व्यवहारात्मक सम्यक्त्वचारित्र होता है, वे ही मुनि मोक्षमार्गी हैं, अन्य भेषी मोक्षमार्गी नहीं हैं ॥८२॥

आगे ऐसा कहते हैं कि निश्चयनय से ध्यान इसप्रकार करना –

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।

सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

निश्चयनयस्य एवं आत्मा आत्मनि आत्मने सुरतः ।

सः भवति स्फुटं सुचरित्रः योगी सः लभते

नि व ा ण म् । । ८ ३ । ।

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि निश्चयनय का ऐसा अभिप्राय है जो आत्मा आत्मा ही में अपने ही लिये भलेप्रकार रत हो जावे वह योगी, ध्यानी, मुनि सम्यक्चारित्रवान् होता हुआ निर्वाण को पाता है।

भावार्थ – निश्चयनय का स्वरूप ऐसा है कि एक द्रव्य की अवस्था जैसी हो उसी को कहे। आत्मा की दो अवस्थायें हैं – एक तो अज्ञान अवस्था और एक ज्ञान अवस्था। जबतक अज्ञान अवस्था रहती है तबतक तो बंधपर्याय को आत्मा जानता है कि मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ, मैं मायावी हूँ, मैं पुण्यवान् धनवान् हूँ, मैं निर्धन दरिद्री हूँ, मैं राजा हूँ, मैं रंक हूँ, मैं मुनि हूँ, मैं श्रावक हूँ इत्यादि पर्यायों में आपा मानता है, इन पर्यायों में लीन होता है तब मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, इसका फल संसार है उसको भोगता है।

जब जिनमत के प्रसाद से जीव-अजीव पदार्थों का ज्ञान होता है तब स्व-पर का भेद जानकर ज्ञानी होता है, तब इसप्रकार जानता है कि मैं शुद्धज्ञानदर्शनमयी चेतनास्वरूप हूँ, अन्य मेरा कुछ

निजद्रव्यरत यह आत्मा ही योगि चारित्रवंत है।

यह ही बने परमात्मा परमार्थनय का कथन यह ॥८३॥

ज्ञानदर्शनमय अवस्थित पुरुष के आकार में।

ध्याते सदा जो योगि वे ही पापहर निर्द्वन्द हैं ॥८४॥

भी नहीं है। जब भावलिङ्गी निर्ग्रन्थ मुनिपद की प्राप्ति करता है, तब यह आत्मा आत्मा ही में अपने ही द्वारा अपने ही लिये विशेष लीन होता है तब निश्चयसम्यक्चारित्रस्वरूप होकर अपना ही ध्यान करता है, तब ही (साक्षात् मोक्षमार्ग में आरूढ़) सम्यग्ज्ञानी होता है इसका फल निर्वाण है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥८३॥ (नोंध - प्रवचनसार गाथा २४१-२४२ में जो सातवें गुणस्थान में आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्व और निश्चय आत्मज्ञान में युगपत् आरूढ़ को आत्मज्ञान कहा है वह कथन की अपेक्षा यहाँ है।) (गौण-मुख्य समझ लेना)

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं -

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो ।

जो ज्ञायदि सो जोई पावहरो हवदि णिद्वंदो ॥८४॥

पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः ।

यः ध्यायति सः योगी पापहरः भवति निर्द्वन्दः ॥८४॥

अर्थ - यह आत्मा ध्यान के योग्य कैसा है ? पुरुषाकार है, योगी है, जिसके मन, वचन, काय के योगों का निरोध है, सर्वांग सुनिश्चल है और वर अर्थात् श्रेष्ठ सम्यक् रूप ज्ञान तथा दर्शन से समग्र है, परिपूर्ण है, जिसके केवलज्ञान दर्शन प्राप्त हैं, इसप्रकार आत्मा का जो योगी ध्यानी मुनि ध्यान करता है वह मुनि पाप को हरनेवाला है और निर्द्वन्द है-रागद्वेष आदि विकल्पों से रहित है।

भावार्थ - जो अरहंतरूप शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है उसके पूर्व कर्म का नाश होता है और वर्तमान में रागद्वेषरहित होता है तब आगामी कर्म को नहीं बांधता है ॥८४॥

आगे कहते हैं कि इसप्रकार मुनियों को प्रवर्तने के लिए कहा। अब श्रावकों को प्रवर्तने के लिए कहते हैं -

एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु ।

संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥

एवं जिनैः कथितं श्रमणानां श्रावकाणां पुनः शृणुत ।

जिनवरकथित उपदेश यह तो कहा श्रमणों के लिए।

अब सुनो सुखसिद्धिकर उपदेश श्रावक के लिए ॥८५॥

सबसे प्रथम सम्यक्त्व निर्मल सर्व दोषों से रहित।

कर्मक्षय के लिये श्रावक-श्राविका धारण करें ॥८६॥

संसारविनाशकरं सिद्धिकरं कारणं परमं ॥८५॥

अर्थ – एवं अर्थात् पूर्वाक्त प्रकार उपदेश तो श्रमण मुनियों को जिनदेव ने कहा है। अब श्रावकों को संसार का विनाश करनेवाला और सिद्धि जो मोक्ष उसको करने का उत्कृष्ट कारण ऐसा उपदेश कहते हैं सो सुनो।

भावार्थ – पहिले कहा वह तो मुनियों को कहा और अब आगे कहते हैं वह श्रावकों को कहते हैं, ऐसा कहते हैं जिससे संसार का विनाश हो और मोक्ष की प्राप्ति हो ॥८५॥

आगे श्रावकों को पहिले क्या करना, वह कहते हैं –

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।

तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरेरिव निष्कंपम् ।

तत् ध्याने ध्यायते श्रावक! दुःखक्षयार्थे ॥८६॥

अर्थ – प्रथम तो श्रावकों को सुनिर्मल अर्थात् भले प्रकार निर्मल और मेरुवत् निःकंप अचल तथा चल मलिन अगाढ़ दूषणरहित अत्यंत निश्चल ऐसे सम्यक्त्व को ग्रहण करके दुःख का क्षय करने के लिए उसको अर्थात् सम्यग्दर्शन को (सम्यग्दर्शन के विषय का) ध्यान में ध्यान करना।

भावार्थ – श्रावक पहिले तो निरतिचार निश्चल सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसका ध्यान करे, इस सम्यक्त्व की भावना से गृहस्थ के गृहकार्य संबंधी आकुलता, क्षोभ, दुःख हेय है वह मिट जाता है, कार्य के बिगड़ने सुधरने में वस्तु के स्वरूप का विचार आवे तब दुःख मिटता है। सम्यग्दृष्टि के इसप्रकार विचार होता है कि वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जाना है वैसा निरन्तर परिणमता है वही होता है, इष्ट-अनिष्ट मानकर दुःखी सुखी होना निष्फल है। ऐसा विचार करने से दुःख मिटता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है इसीलिए सम्यक्त्व का ध्यान करना कहा है ॥८६॥

आगे सम्यक्त्व के ध्यान ही की महिमा कहते हैं –

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।

सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठकम्माणि ॥८७॥

अरे सम्यग्दृष्टि है सम्यक्त्व का ध्याता गृही ।

दुष्टाष्ट कर्मों को दहे सम्यक्त्व परिणत जीव ही ॥८७॥

सम्यक्त्वं यः ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति सः जीवः ।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षपयति दुष्टाष्टकर्माणि ॥८७॥

अर्थ – जो श्रावक सम्यक्त्व का ध्यान करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है और सम्यक्त्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट आठ कर्मों का क्षय करता है ।

भावार्थ – सम्यक्त्व का ध्यान इसप्रकार है – यदि पहिले सम्यक्त्व न हुआ हो तो भी इसका स्वरूप जानकर इसका ध्यान करे तो सम्यग्दृष्टि हो जाता है । सम्यक्त्व होने पर इसका परिणाम ऐसा है कि संसार के कारण जो दुष्ट अष्ट कर्म उनका क्षय होता है, सम्यक्त्व के होते ही कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा होने लग जाती है, अनुक्रम से मुनि होने पर चारित्र और शुक्लध्यान इसके सहकारी हो जाते हैं, तब सब कर्मों का नाश हो जाता है ॥८७॥

आगे इसको संक्षेप से कहते हैं –

किं बहुणा भणिणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥८८॥
किं बहुना भणितेन ये सिद्धाः नरवराः गते काले ।
सेत्स्यंति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यम् ॥८८॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या साध्य है ? जो नरप्रधान अतीतकाल में सिद्ध हुए हैं और आगामी काल में सिद्ध होंगे वह सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो ।

भावार्थ – इस सम्यक्त्व का ऐसा माहात्म्य है कि जो अष्टकर्मों का नाशकर मुक्तिप्राप्त अतीतकाल में हुए हैं तथा आगामी काल में होंगे वे इस सम्यक्त्व से ही हुए हैं और होंगे, इसलिए आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या ? यह संक्षेप से कहा जानो कि मुक्ति का प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है । ऐसा मत जानो कि गृहस्थ के क्या धर्म है, यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है कि सब धर्मों के अंगों को सफल करता है ॥८८॥

आगे कहते हैं कि जो निरन्तर सम्यक्त्व का पालन करते हैं, वे धन्य हैं –

मुक्ति गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का ।
यह जान लो हे भव्यजन ! इससे अधिक अब कहें क्या ॥८८॥
वे धन्य हैं सुकृतार्थ हैं वे शूर नर पण्डित वही ।
दुःस्वप्न में सम्यक्त्व को जिनने मलीन किया नहीं ॥८९॥

ते धण्णा सुकयत्था ते सुरा ते वि पंडिया मणुया ।
 सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥८९॥
 ते धन्याः सुकृतार्थाः ते शूराः तेऽपि पंडिता मनुजाः ।
 सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेऽपि न मलिनितं यैः ॥८९॥

अर्थ – जिन पुरुषों ने मुक्ति को करनेवाले सम्यक्त्व को स्वप्नावस्था में भी मलिन नहीं किया, अतीचार नहीं लगाया वे पुरुष धन्य हैं, वे ही मनुष्य हैं, वे ही भले कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित हैं ।

भावार्थ – लोक में कुछ दानादिक करे उनको धन्य कहते हैं तथा विवाहादिक यज्ञादिक करते हैं उनको कृतार्थ कहते हैं, युद्ध में पीछा न लौटे उसको शूरवीर कहते हैं, बहुत शास्त्र पढ़े उसको पंडित कहते हैं । ये सब कहने के हैं जो मोक्ष के कारण सम्यक्त्व को मलिन नहीं करते हैं, निरतिचार पालते हैं उनको धन्य है, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित हैं, वे ही मनुष्य हैं, इसके बिना मनुष्य पशुसमान है, इसप्रकार सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो ॥८९॥

आगे शिष्य पूछता है कि सम्यक्त्व कैसा है ? इसका समाधान करने के लिए इस सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न बताते हैं –

हिंसारहिए धम्मे अट्टारहदोसवज्जिए देवे ।
 णिगंथे पव्वयणे सदहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥
 हिंसारहिते धर्मे अष्टादशदोषवर्जिते देवे ।
 निर्ग्रन्थे प्रवचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥९०॥

अर्थ – हिंसारहित धर्म, अठारह दोषरहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्ष का मार्ग तथा गुरु इनमें श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है ।

भावार्थ – लौकिकजन तथा अन्य मतवाले जीवों की हिंसा से धर्म मानते हैं और जिनमत में अहिंसा धर्म कहा है उसी का श्रद्धान करे, अन्य का श्रद्धान न करे वह सम्यग्दृष्टि है । लौकिक अन्य

सब दोष विरहित देव अर हिंसारहित जिनधर्म में ।
 निर्ग्रन्थ गुरु के वचन में श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ॥९०॥
 यथाजातस्वरूप संयत सर्व संग विमुक्त जो ।
 पर की अपेक्षा रहित लिंग जो मानते समदृष्टि वे ॥९१॥

मतवाले जिन्हें देव मानते हैं वे सब देव क्षुधादि तथा रागद्वेषादि दोषों से संयुक्त हैं, इसलिए वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेव सब दोषों से रहित हैं उनको देव माने, श्रद्धान करे वही सम्यग्दृष्टि है।

यहाँ अठारह दोष कहे वे प्रधानता की अपेक्षा कहे हैं इनको उपलक्षणरूप जानना, इनके समान अन्य भी जान लेना। निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग वही मोक्षमार्ग है, अन्यलिंग से अन्य मतवाले श्वेताम्बरादिक जैनाभास मोक्ष मानते हैं, वह मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसा श्रद्धान करे वह सम्यग्दृष्टि है, ऐसा जानना ॥९०॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं -

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं ।

लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥९१॥

यथाजातरूपरूपं सुसंयत सर्वसंगपरित्यक्तम् ।

लिंगं न परापेक्षं यः मन्यते तस्य सम्यक्त्वम् ॥९१॥

अर्थ - मोक्षमार्ग का लिंग-भेष ऐसा है कि यथाजातरूप तो जिसका रूप है, जिसमें बाह्य परिग्रह वस्त्रादिक किंचित् मात्र भी सुसंयत अर्थात् सम्यक् प्रकार इन्द्रियों का निग्रह और जीवों की दया जिसमें पाई जाती है ऐसा संयम है, सर्वसंग अर्थात् सब ही परिग्रह तथा सब लौकिक जनों की संगति से रहित है और जिसमें पर की अपेक्षा कुछ भी नहीं है, मोक्ष के प्रयोजन सिवाय अन्य प्रयोजन की अपेक्षा नहीं है। ऐसा मोक्षमार्ग का लिंग माने-श्रद्धान करे उस जीव के सम्यक्त्व होता है।

भावार्थ - मोक्षमार्ग में ऐसा ही लिंग है, अन्य अनेक भेष हैं वे मोक्षमार्ग में नहीं हैं ऐसा श्रद्धान करे उनके सम्यक्त्व होता है। यहाँ परापेक्षा नहीं है - यहाँ बताया है कि ऐसे निर्ग्रन्थ रूप को जो किसी अन्य आशय से धारण करे तो वह भेष मोक्षमार्ग नहीं है, केवल मोक्ष ही की अपेक्षा जिसके हो वह सम्यग्दृष्टि है, ऐसा जानना ॥९१॥

आगे मिथ्यादृष्टि के चिह्न कहते हैं -

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च बंदए जो दु ।

लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु ॥९२॥

कुत्सितदेवं धर्मं कुत्सितलिंगं च वन्दते यः तु ।

जो लाज-भय से नर्म कुत्सित लिंग कुत्सित देव को ।

और सेवें धर्म कुत्सित जीव मिथ्यादृष्टि वे ॥९२॥

लज्जाभयगारवतः मिथ्यादृष्टिः भवेत् सः

रु फु ट म् । । ९ २ । ।

अर्थ – जो क्षुधादिक और रागद्वेषादिक दोषों से दूषित हो वह कुत्सित देव है, जो हिंसादि दोषों से सहित हो वह कुत्सित धर्म है, जो परिग्रहादि सहित हो वह कुत्सितलिंग है। जो इनकी वंदना करता है, पूजा करता है, वह तो प्रगट मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ अब विशेष कहते हैं कि जो इनको भले-हित करनेवाले मानकर वंदना करता है, पूजा करता है वह तो प्रगट मिथ्यादृष्टि है, परन्तु जो लज्जा भय गारव इन कारणों से भी वंदना करता है पूजा करता है वह भी प्रगट मिथ्यादृष्टि है। लज्जा तो ऐसे कि लोग इनकी वन्दना करते हैं, पूजा करते हैं, हम नहीं पूजेंगे तो लोग हमको क्या कहेंगे ? हमारी इस लोक में प्रतिष्ठा चली जायेगी इसप्रकार लज्जा से वंदना व पूजा करे। भय ऐसे कि इनको राजादिक मानते हैं, हम नहीं मानेंगे तो हमारे ऊपर कुछ उपद्रव आ जायेगा, इसप्रकार भय से वंदना व पूजा करे। गारव ऐसे कि हम बड़े हैं, महंत पुरुष हैं, सब ही का सन्मान करते हैं, इन कार्यों से हमारी बड़ाई है, इसप्रकार गारव से वंदना व पूजना होता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के चिह्न कहे ॥९२॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि -

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे।

मण्णइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥९३॥

स्वपरापेक्षं लिंगं रागिणं देवं असंयतं वन्दे।

मानयति मिथ्यादृष्टिः न स्फुटं मानयति शुद्धसम्यक्ती ॥९३॥

अर्थ – स्वपरापेक्ष तो लिंग आप कुछ लौकिक प्रयोजन मन में धारण कर भेष ले वह स्वापेक्ष है और किसी पर की अपेक्षा से धारण करे, किसी के आग्रह तथा राजादिक के भय से धारण करे वह परापेक्ष है। रागी देव (जिसके स्त्री आदि का राग पाया जाता है) और संयमरहित को इसप्रकार कहे कि मैं वंदना करता हूँ तथा इनको माने, श्रद्धान करे वह मिथ्यादृष्टि है। शुद्ध सम्यक्त्व होने पर न इनको मानता है, न श्रद्धान करता है और न वंदना व पूजन ही करता है।

अरे रागी देवता अर स्वपरपेक्षा लिंगधर।

व असंयत की वंदना न करें सम्यग्दृष्टिजन ॥९३॥

जिनदेव देशित धर्म की श्रद्धा करें सदृष्टिजन।

विपरीतता धारण करें बस सभी मिथ्यादृष्टिजन ॥९४॥

भावार्थ – ये ऊपर कहे इनसे मिथ्यादृष्टि के प्रीति भक्ति उत्पन्न होती है, जो निरतिचार सम्यक्त्ववान् है वह इनको नहीं मानता है ॥१३॥

सम्माइट्टी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।

विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्टी मुणेयव्वो ॥१४॥

सम्यग्दृष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति ।

विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥१४॥

अर्थ – जो जिनदेव से उपदेशित धर्म का पालन करता है वह सम्यग्दृष्टि श्रावक है और जो अन्यमत के उपदेशित धर्म का पालन करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना ।

भावार्थ – इसप्रकार कहने से यहाँ कोई तर्क करे कि यह तो अपना मत पुष्ट करने की पक्षपातमात्र वार्ता कही, अब इसका उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं है, जिससे सब जीवों का हित हो वह धर्म है ऐसे अहिंसारूप धर्म का जिनदेव ही ने प्ररूपण किया है, अन्यमत में ऐसे धर्म का निरूपण नहीं है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१४॥

आगे कहते हैं कि जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह संसार में दुःखसहित भ्रमण करता है -

मिच्छादिट्टी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ ।

जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥१५॥

मिथ्यादृष्टिः यः सः संसारे संसरति सुखरहितः ।

जन्मजरामरणप्रचुरे दुःखसहस्राकुलः जीवः ॥१५॥

अर्थ – जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह जन्म जरा मरण से प्रचुर और हजारों दुःखों से व्याप्त इस संसार में सुखरहित दुखी होकर भ्रमण करता है ।

भावार्थ – मिथ्याभाव का फल संसार में भ्रमण करना ही है, यह संसार जन्म जरा मरण आदि हजारों दुःखों से भरा है, इन दुःखों को मिथ्यादृष्टि इस संसार में भ्रमण करता हुआ भोगता है । यहाँ दुःख तो अनन्त हैं हजारों कहने से प्रसिद्ध अपेक्षा बहुलता बताई है ॥१५॥

अरे मिथ्यादृष्टिजन इस सुखरहित संसार में ।

प्रचुर जन्म-जरा-मरण के दुख हजारों भोगते ॥१५॥

जानकर सम्यक्त्व के गुण-दोष मिथ्याभाव के ।

जो रुचे वह ही करो अधिक प्रलाप से है लाभ क्या ॥१६॥

आगे सम्यक्त्व मिथ्यात्व भाव के कथन का संकोच करते हैं -

सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु ।
जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविण्ण तु ॥१६॥
सम्यक्त्वेगुण मिथ्यात्वे दोषः मनसा परिभाव्य तत् कुरु ।
यत् ते मनसे रोचते किं बहुना प्रलपितेन तु ॥१६॥

अर्थ - हे भव्य ! ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के गुण और मिथ्यात्वभाव के दोषों की अपने मन से भावना कर और जो अपने मन को रुचे, प्रिय लगे वह कर, बहुत प्रलापरूप कहने से क्या साध्य है ? इसप्रकार आचार्य ने उपदेश दिया है ।

भावार्थ - इसप्रकार आचार्य ने कहा है कि बहुत कहने से क्या ? सम्यक्त्व मिथ्यात्व के गुण-दोष पूर्वोक्त जानकर जो मन में रुचे, वह करो । यहाँ उपदेश का आशय ऐसा है कि मिथ्यात्व को छोड़ो, सम्यक्त्व को ग्रहण करो, इससे संसार का दुःख मेटकर मोक्ष पाओ ॥१६॥

आगे कहते हैं कि यदि मिथ्यात्व भाव नहीं छोड़ा तब बाह्य भेष से कुछ लाभ नहीं है -

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छ भाव णिगंथो ।
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि १अप्पसमभावं ॥१७॥
बहिः संगविमुक्तः नापि मुक्तः मिथ्याभावेन निर्ग्रन्थः ।
किं तस्य स्थानमौनं न अपि जानाति २आत्मसमभावं ॥१७॥

अर्थ - जो बाह्य परिग्रह रहित और मिथ्याभाव सहित निर्ग्रन्थ भेष धारण किया है वह परिग्रह रहित नहीं है, उसके ठाण अर्थात् खड़े होकर कायोत्सर्ग करने से क्या साध्य है ? और मौन धारण करने से क्या साध्य है ? क्योंकि आत्मा का समभाव जो वीतराग परिणाम उसको नहीं जानता है ।

भावार्थ - आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जानकर सम्यग्दृष्टि होता है और जो मिथ्याभावसहित परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ भी हो गया है, कायोत्सर्ग करना, मौन धारण करना इत्यादि बाह्य क्रियायें

१. पाठान्तरः - अप्पसम्भावं । २. पाठान्तरः - आत्मस्वभावं ।

छोड़ा परिग्रह बाह्य मिथ्याभाव को नहीं छोड़ते ।
वे मौन ध्यान धरें परन्तु आत्मा नहीं जानते ॥१७॥
मूलगुण उच्छेद बाह्य क्रिया करें जो साधुजन ।
हैं विराधक जिनलिंग के वे मुक्ति-सुख पाते नहीं ॥१८॥

करता है तो उनकी क्रिया मोक्षमार्ग में सराहने योग्य नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना बाह्य क्रिया का फल संसार ही है ॥१७॥

आगे आशंका उत्पन्न होती है कि सम्यक्त्व बिना बाह्यलिंग निष्फल कहा, जो बाह्यलिंग मूलगुण बिगाड़े उसके सम्यक्त्व रहता या नहीं? इसका समाधान कहते हैं -

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू ।

सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियदं ॥१८॥

मूलगुणं छित्वा च बाह्यकर्म करोति यः साधुः ।

सः न लभते सिद्धिसुखं जिणलिंगविराधकः नियतं ॥१८॥

अर्थ - जो मुनि निर्ग्रन्थ होकर मूलगुण धारण करता है उनका छेदनकर, बिगाड़कर केवल बाह्य क्रिया कर्म करता है वह सिद्धि अर्थात् मोक्ष के सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि ऐसा मुनि निश्चय से जिनलिंग का विराधक है ।

भावार्थ - जिन आज्ञा ऐसी है कि सम्यक्त्वसहित मूलगुण धारण कर धन्य जो साधु क्रिया हैं, उनको करते हैं । मूलगुण अट्टाईस कहे हैं - पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, भूमिशयन, स्नान का त्याग, वस्त्र का त्याग, केशलोच, एक बार भोजन, खड़ा होकर भोजन, दंतधावन का त्याग - इसप्रकार अट्टाईस मूलगुण हैं, इनकी विराधना करके कायोत्सर्ग मौन तप ध्यान अध्ययन करता है तो इन क्रियाओं से मुक्ति नहीं होती है । जो इसप्रकार श्रद्धान करे कि हमारे सम्यक्त्व तो है ही, बाह्य मूलगुण बिगाड़े तो बिगाड़ो, हम मोक्षमार्गी ही हैं तो ऐसी श्रद्धा से तो जिन आज्ञा भंग करने से सम्यक्त्व का भी भंग होता है तब मोक्ष कैसे हो और (तीव्र कषायवान हो जाय तो) कर्म के प्रबल उदय से चारित्र भ्रष्ट हो और यदि जिन आज्ञा के अनुसार श्रद्धान रहे तो सम्यक्त्व रहता है, किन्तु मूलगुण बिना केवल सम्यक्त्व ही से मुक्ति नहीं है और सम्यक्त्व बिना केवल क्रिया ही से मुक्ति नहीं है, ऐसे जानना ।

प्रश्न - मुनि के स्नान का त्याग कहा और हम ऐसे भी सुनते हैं कि यदि चांडाल आदि का स्पर्श हो जावे तो दंडस्नान करते हैं ।

समाधान - जैसे गृहस्थ स्नान करता है वैसे स्नान करने का त्याग है, क्योंकि इसमें हिंसा की अधिकता है, मुनि के स्नान ऐसा है कि कमंडलु में प्रासुक जल रहता है उससे मंत्र पढ़कर मस्तक

आत्मज्ञान बिना विविध-विध विविध क्रिया-कलाप सब ।

और जप-तप पद्म-आसन क्या करेंगे आत्महित ॥१९॥

पर धारामात्र देते हैं और उस दिन उपवास करते हैं तो ऐसा स्नान तो नाममात्र स्नान है, यहाँ मंत्र और तपस्नान प्रधान है, जलस्नान प्रधान नहीं है, इसप्रकार जानना ॥१८॥

आगे कहते हैं कि जो आत्मस्वभाव से विपरीत बाह्य क्रियाकर्म है वह क्या करे ? मोक्षमार्ग में तो कुछ भी कार्य नहीं करते हैं -

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु ।

किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥१९॥

किं करिष्यति बहिः कर्म किं करिष्यति बहुविधं च क्षमणं तु ।

किं करिष्यति आतापः आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥१९॥

अर्थ - आत्मस्वभाव से विपरीत, प्रतिकूल बाह्यकर्म में जो क्रियाकांड वह क्या करेगा ? कुछ मोक्ष का कार्य तो किंचिन्मात्र भी नहीं करेगा, बहुत अनेकप्रकार क्षमण अर्थात् उपवासादि बाह्य तप भी क्या करेगा ? कुछ भी नहीं करेगा, आतापनयोग आदि कायक्लेश क्या करेगा ? कुछ भी नहीं करेगा ।

भावार्थ - बाह्य क्रियाकर्म शरीराश्रित हैं और शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है, जड़ की क्रिया तो चेतन को कुछ फल करती नहीं है, जैसा चेतना का भाव जितना क्रिया में मिलता है उसका फल चेतन को लगता है । चेतन का अशुभ उपयोग मिले तब अशुभकर्म बँधे और शुभ उपयोग मिले तब शुभकर्म बँधता है और जब शुभ-अशुभ दोनों से रहित उपयोग होता है, तब कर्म नहीं बँधता है, पहिले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष करता है ।

इसप्रकार चेतना उपयोग के अनुसार फलती है, इसलिए ऐसा कहा है कि बाह्य क्रिया कर्म से तो कुछ मोक्ष होता नहीं है, शुद्ध उपयोग होने पर मोक्ष होता है । इसलिए दर्शन ज्ञान उपयोग का विकार मेटकर शुद्ध ज्ञान चेतना का अभ्यास करना मोक्ष का उपाय है ॥१९॥

आगे इसी अर्थ को फिर विशेषरूप से कहते हैं -

जदि पढदि बहु सुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं च चारित्तं ।

तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥१००॥

यदि पढ़े बहुश्रुत और विविध क्रिया-कलाप करे बहुत ।

पर आत्मा के भान बिन बालाचरण अर बालश्रुत ॥१००॥

निजसुख निरत भवसुख विरत परद्रव्य से जो पराङ्मुख ।

वैराग्य तत्पर गुणविभूषित ध्यान धर अध्ययन सुरत ॥१०१॥

यदि पठति बहुश्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविधं च चारित्रं ।
तत् बालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम् ॥१००॥

अर्थ – जो आत्मस्वभाव से विपरीत बाह्य बहुत शास्त्रों को पढ़ेगा और बहुत प्रकार के चारित्र का आचरण करेगा तो वह सब ही बालश्रुत और बालचारित्र होगा । आत्मस्वभाव से विपरीत शास्त्र का पढ़ना और चारित्र का आचरण करना ये सब ही बालश्रुत व बालचारित्र हैं, अज्ञानी की क्रिया है, क्योंकि ग्यारह अंग और नव पूर्व तक तो अभव्यजीव भी पढ़ता है और बाह्य मूलगुणरूप चारित्र भी पालता है तो भी मोक्ष के योग्य नहीं है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१००॥

आगे कहते हैं कि ऐसा साधु मोक्ष पाता है –

वेरगपरो साहू परदव्वपरम्महो य जो होदि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥१०२॥

वैराग्यपरः साधुः परद्रव्यपराङ्मुखश्च यः भवति ।
संसारसुखविरक्तः स्वकशुद्धसुखेषु अनुरक्तः ॥१०१॥
गुणगणविभूषितांगः हेयोपादेयनिश्चितः साधुः ।
ध्यानाध्ययने सुरतः सः प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥१०२॥

अर्थ – ऐसा साधु उत्तम स्थान रूप मोक्ष की प्राप्ति करता है अर्थात् जो साधु वैराग्य में तत्पर हो संसार-देह भोगों से पहिले विरक्त होकर मुनि हुआ उसी भावनायुक्त हो, परद्रव्य से पराङ्मुख हो, जैसे वैराग्य हुआ वैसे ही परद्रव्य का त्याग कर उससे पराङ्मुख रहे, संसार संबंधी इन्द्रियों के द्वारा विषयों से सुख-सा होता है, उससे विरक्त हो, अपने आत्मीक शुद्ध अर्थात् कषायों के क्षोभ से रहित निराकुल, शांतभावरूप ज्ञानानन्द में अनुरक्त हो, लीन हो, बारंबार उसी की भावना रहे ।

जिसका आत्मप्रदेशरूप अंग गुण के गण से विभूषित हो, जो मूलगुण उत्तरगुणों से आत्मा को अलंकृत-शोभायमान किये हो, जिसके हेय उपादेय तत्त्व का निश्चय हो, निज आत्मद्रव्य तो

आदेय क्या है हेय क्या – यह जानते जो साधुगण ।
वे प्राप्त करते थान उत्तम जो अनन्तानन्दमय ॥१०२॥
जिनको नमे थुति करे जिनकी ध्यान जिनका जग करे ।
वे नमें ध्यावें थुति करें तू उसे ही पहिचान ले ॥१०३॥

उपादेय है और ऐसा जिसके निश्चय हो कि अन्य परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विकारभाव ये सब हेय हैं। साधु होकर आत्मा के स्वभाव के साधने में भलीभांति तत्पर हो, धर्म-शुक्लध्यान और अध्यात्मशास्त्रों को पढ़कर ज्ञान की भावना में तत्पर हो, सुरत हो, भलेप्रकार लीन हो। ऐसा साधु उत्तमस्थान लोकशिखर पर सिद्धक्षेत्र तथा मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों से परे शुद्धस्वभावरूप मोक्षस्थान को पाता है।

भावार्थ – मोक्ष के साधने के ये उपाय हैं, अन्य कुछ नहीं है ॥१०१-१०२॥

आगे आचार्य कहते हैं कि सर्व से उत्तम पदार्थ शुद्ध आत्मा है वह इस देह में ही रह रहा है उसको जानो -

णविण्हिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइण्हिं अणवरयं ।

थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥१०३॥

नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम् ।

स्तूयमानैः स्तूयते देहस्थं किमपि तत् जानीत ॥१०३॥

अर्थ – हे भव्यजीवो ! तुम इस देह में स्थित ऐसा कुछ क्यों है, क्या है, उसे जानो, वह लोक में नमस्कार करने योग्य इन्द्रादि हैं, उनसे तो नमस्कार करने योग्य, ध्यान करने योग्य है और स्तुति करने योग्य जो तीर्थकरादि हैं उनसे भी स्तुति करने योग्य है, ऐसा कुछ है वह इस देह ही में स्थित है उसको यथार्थ जानो ।

भावार्थ – शुद्ध परमात्मा है वह यद्यपि कर्म से आच्छादित है तो भी भेदज्ञानी इस देह ही में स्थित का ही ध्यान करके तीर्थकरादि भी मोक्ष प्राप्त करते हैं, इसलिए ऐसा कहा है कि लोक में नमने योग्य तो इन्द्रादिक हैं और ध्यान करने योग्य तीर्थकरादि हैं तथा स्तुति करने योग्य तीर्थकरादिक हैं वे भी जिसको नमस्कार करते हैं, जिसका ध्यान करते हैं स्तुति करते हैं, ऐसा कुछ वचन के अगोचर भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर परमात्मा वस्तु है, उसका स्वरूप जानो उसको नमस्कार करो, उसका ध्यान करो, बाहर किसलिए दूँढते हो, इसप्रकार उपदेश है ॥१०३॥

आगे आचार्य कहते हैं कि अरहंतादिक पंच परमेष्ठी भी आत्मा में ही हैं इसलिए आत्मा ही शरण है -

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्टी ।

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठी पण ।

सब आतमा की अवस्थायें आत्मा ही है शरण ॥१०४॥

ते वि हु चिट्टहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥

अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंच
प र म ष ष्ट न :

ते अपि स्फुटं तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा स्फुटं मे शरणं ॥१०४॥

अर्थ – अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं ये भी आत्मा में चेष्टारूप हैं, आत्मा की अवस्था हैं इसलिए मेरे आत्मा का ही शरण है, इसप्रकार आचार्य ने अभेदनय प्रधान करके कहा है।

भावार्थ – ये पाँच पद आत्मा ही के हैं, जब यह आत्मा घातिकर्म का नाश करता है तब अरहंतपद होता है, वही आत्मा अघाति कर्मों का नाश कर निर्वाण को प्राप्त होता है तब सिद्धपद कहलाता है, जब शिक्षा दीक्षा देनेवाला मुनि होता है तब आचार्य कहलाता है, पठनपाठन में तत्पर मुनि होता है तब उपाध्याय कहलाता है और जब रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग को केवल साधता है तब साधु कहलाता है, इसप्रकार पाँचों पद आत्मा ही में हैं। सो आचार्य विचार करते हैं कि जो इस देह में आत्मा स्थित है सो यद्यपि (स्वयं) कर्म आच्छादित है तो भी पाँचों पदों के योग्य है, इसी के शुद्धस्वरूप का ध्यान करना पाँचों पदों का ध्यान है इसलिए मेरे इस आत्मा ही का शरण है ऐसी भावना की है और पंचपरमेष्ठी का ध्यानरूप अंतमंगल बताया है ॥१०४॥

आगे कहते हैं कि जो अंतसमाधिमरण में चार आराधना का आराधन कहा है यह भी आत्मा ही की चेष्टा है इसलिए आत्मा ही का मेरे शरण है –

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारितं हि सत्तवं चैव ।

चउरो चिट्टहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०५॥

सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चरित्रं हि सत्तपः चैव ।

चत्वारः तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा स्फुटं मे शरणं ॥१०५॥

अर्थ – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चार आराधना हैं ये भी आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, ये चारों आत्मा ही की अवस्था हैं, इसलिए आचार्य कहते हैं कि तेरे आत्मा ही का शरण है ॥१०५॥ (भगवती आराधना गाथा नं. २)

१. 'पाहुड' का पाठान्तर 'कारण' है, सं. छाया में भी समझ लेना।

सम्यक् सुदर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण ।

सब आतमा की अवस्थायें आत्मा ही है शरण ॥१०५॥

भावार्थ – आत्मा का निश्चय-व्यवहारात्मक तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप परिणाम सम्यग्दर्शन है, संशय-विमोह-विभ्रम से रहित और निश्चयव्यवहार से निजस्वरूप का यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान से तत्त्वार्थों को जानकर रागद्वेषादिक रहित परिणाम होना सम्यक्चारित्र है, अपनी शक्ति अनुसार सम्यग्ज्ञानपूर्वक कष्ट का आदर कर स्वरूप का साधना सम्यक् तप है, इसप्रकार ये चारों ही परिणाम आत्मा के हैं, इसलिए आचार्य कहते हैं कि मेरी आत्मा ही का शरण है, इसी की भावना में चारों आ गये।

अंतसल्लेखना में चार आराधना का आराधन कहा है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चारों का उद्योत, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण ऐसे पंच प्रकार आराधना कही है, वह आत्मा को भाने में (आत्मा की भावना-एकाग्रता करने में) चारों आ गये ऐसे अंतसल्लेखना की भावना इसी में आ गई, ऐसे जानना तथा आत्मा ही परम मंगलरूप है ऐसा भी बताया है ॥१०५॥

आगे यह मोक्षपाहुड ग्रंथ पूर्ण किया, इसके पढ़ने-सुनने-भाने का फल कहते हैं -

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य ँपाहुडं सुभत्तीए ।

जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥१०६॥

एवं जिनप्रज्ञप्तं मोक्षस्य च प्राभृतं सुभक्त्या ।

यः पठति शृणोति भावयति सः प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यं ॥१०६॥

अर्थ – पूर्वोक्त प्रकार जिनदेव के कहे हुए मोक्षपाहुड ग्रंथ को जो जीव भक्तिभाव से पढ़ते हैं, इसकी बारम्बार चिंतवनरूप भावना करते हैं तथा सुनते हैं वे जीव शाश्वत सुख, नित्य अतीन्द्रिय ज्ञानानंदमय सुख को पाते हैं।

भावार्थ – मोक्षपाहुड में मोक्ष और मोक्ष के कारण का स्वरूप कहा है और जो मोक्ष के कारण का स्वरूप अन्यप्रकार मानते हैं उनका निषेध किया है इसलिए इस ग्रंथ के पढ़ने, सुनने से उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान श्रद्धान आचरण होता है उससे कर्म का नाश होता है और इसकी बारम्बार भावना करने से उसमें दृढ़ होकर एकाग्र ध्यान की सामर्थ्य होती है, उस ध्यान से कर्म का नाश होकर शाश्वत सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए इस ग्रंथ को पढ़ना-सुनना निरन्तर

* स्वसन्मुखतारूप निज परिणाम की प्राप्ति का नाम ही उपादानरूप निश्चय काललब्धि है वह हो तो उससमय बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-कालादि की उचित सामग्री निमित्त है, उपचार कारण है, अन्यथा उपचार भी नहीं।

जिनवर कथित यह मोक्षपाहुड जो पुरुष अति प्रीति से ।

अध्ययन करें भावें सुनें वे परमसुख को प्राप्त हों ॥१०६॥

भावना रखनी, ऐसा आशय है ॥१०६॥

इसप्रकार श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने यह मोक्षपाहुडग्रंथ संपूर्ण किया। इसका संक्षेप इसप्रकार है कि यह जीव शुद्ध दर्शन-ज्ञानमयी चेतनास्वरूप है तो भी अनादि ही से पुद्गल कर्म के संयोग से अज्ञान मिथ्यात्व रागद्वेषादिक विभावरूप परिणमता है इसलिए नवीन कर्मबंध के संतान से संसार में भ्रमण करता है। जीव की प्रवृत्ति के सिद्धान्त में सामान्यरूप से चौदह गुणस्थान निरूपण किये हैं, इनमें मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। मिथ्यात्व की सहकारिणी अनंतानुबंधी कषाय है, केवल उसके उदय से सासादन गुणस्थान होता है और सम्यक्त्व मिथ्यात्व दोनों के मिलापरूप मिश्रप्रकृति के उदय से मिश्रगुणस्थान होता है, इन तीन गुणस्थानों में तो आत्मभावना का अभाव ही है।

जब *काललब्धि के निमित्त से जीवाजीव पदार्थों का ज्ञान-श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है तब इस जीव को अपना और पर का, हित-अहित का तथा हेय-उपादेय का जानना होता है, तब आत्मा की भावना होती है, तब अविरतनाम चौथा गुणस्थान होता है। जब एकदेश परद्रव्य से निवृत्ति का परिणाम होता है, तब जो एकदेशचारित्ररूप पाँचवाँ गुणस्थान होता है उसको श्रावकपद कहते हैं। सर्वदेश परद्रव्य से निवृत्तिरूप परिणाम हो तब सकलचारित्ररूप छठा गुणस्थान होता है, इसमें कुछ संज्वलन चारित्र मोह के तीव्र उदय से स्वरूप के साधने में प्रमाद होता है इसलिए इसका नाम प्रमत्त है, यहाँ से लगाकर ऊपर के गुणस्थानवालों को साधु कहते हैं।

जब संज्वलन चारित्रमोह का मंद उदय होता है तब प्रमाद का अभाव होकर स्वरूप के साधने में बड़ा उद्यम होता है तब इसका नाम अप्रमत्त, ऐसा सातवाँ गुणस्थान है, इसमें धर्मध्यान की पूर्णता है। जब इस गुणस्थान में स्वरूप में लीन हो तब सातिशय अप्रमत्त होता है, श्रेणी का प्रारंभ करता है। तब इससे ऊपर चारित्रमोह का अव्यक्त उदयरूप अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय नाम धारक ये तीन गुणस्थान होते हैं। चौथे से लगाकर दसवें सूक्ष्मसांपराय तक कर्म की निर्जरा विशेषरूप से गुणश्रेणीरूप होती है।

इससे ऊपर मोहकर्म के अभावरूप ग्यारहवाँ, बारहवाँ, उपशांतकषाय क्षीणकषाय गुणस्थान होते हैं। इसके पीछे शेष तीन घातिया कर्मों का नाश कर अनंत चतुष्टय प्रगट होकर अरहंत होता है यह सयोगी जिन नामक गुणस्थान है, यहाँ योग की प्रवृत्ति है। योगों का निरोधकर अयोगी जिन नाम का चौदहवाँ गुणस्थान होता है, यहाँ अघातिया कर्मों का भी नाश करके लगातार ही अनंतर समय में निर्वाणपद को प्राप्त होता है, यहाँ संसार के अभाव से मोक्ष नाम पाता है।

*पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय श्लोक नं. २२० “रत्नत्रयरूप धर्म है वह निर्वाण का ही कारण है और उस समय पुण्य का आस्रव होता है वह अपराध शुभोपयोग का है।”

इसप्रकार सब कर्मों का अभावरूप होता है, इसके कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहे इनकी प्रवृत्ति चौथे गुणस्थान से सम्यक्त्व प्रगट होने पर एकदेश होती है, यहाँ से लगाकर आगे जैसे जैसे कर्म का अभाव होता है वैसे-वैसे सम्यग्दर्शन आदि की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है और जैसे-जैसे इसकी प्रवृत्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे कर्म का अभाव होता जाता है, जब घाति कर्म का अभाव होता है तब तेरहवें गुणस्थान में अरहंत होकर जीवनमुक्त कहलाते हैं और चौदहवें गुणस्थान के अंत में रत्नत्रय की पूर्णता होती है इसलिए अघाति कर्म का भी नाश होकर अभाव होता है तब साक्षात् मोक्ष होकर सिद्ध कहलाते हैं ।

इसप्रकार मोक्ष का और मोक्ष के कारण का स्वरूप जिन आगम से जानकर और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के कारण कहे हैं इनको निश्चय व्यवहाररूप यथार्थ जानकर सेवन करना । तप भी मोक्ष का कारण है उसे भी चारित्र में अंतर्भूत कर त्रयात्मक ही कहा है । इसप्रकार इन कारणों से प्रथम तो तद्भव ही मोक्ष होता है । जबतक कारण की पूर्णता नहीं होती है उससे पहले कदाचित् आयुकर्म की पूर्णता हो जाये तो स्वर्ग में देव होता है, वहाँ भी यह वांछा रहती है कि यह *शुभोपयोग का अपराध है यहाँ से चयकर मनुष्य होऊँगा तब सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग का सेवन कर मोक्ष प्राप्त करूँगा, ऐसी भावना रहती है, तब वहाँ से चयकर मोक्ष पाता है ।

इस पंचमकाल में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री का निमित्त नहीं है इसलिए तद्भव मोक्ष नहीं है तो भी जो रत्नत्रय का शुद्धतापूर्वक पालन करे तो यहाँ से देव पर्याय पाकर पीछे मनुष्य होकर मोक्ष पाता है । इसलिए यह उपदेश है कि जैसे बने वैसे रत्नत्रय की प्राप्ति का उपाय करना, इसमें सम्यग्दर्शन प्रधान है इसका उपाय तो अवश्य करना चाहिए इसलिए जिनागम को समझकर सम्यक्त्व का उपाय अवश्य करना योग्य है, इसप्रकार इस ग्रंथ का संक्षेप जानो ।

(छप्पय)

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवकारण जानूं,
ते निश्चय व्यवहाररूप नीकें लखि मानूं ।
सेवो निशदिन भक्तिभाव धरि निजबल सारू,
जिन आज्ञा सिर धारि अन्यमत तजि अघ कारूँ ॥

इस मानुषभव कूं पाय कै अन्य चारित मति धरो ।
भविजीवनिकूं उपदेश यह गहिकरि शिवपद संचरो ॥१॥

(दोहा)

वंदूं मंगलरूप जे अर मंगलकरतार ।

पंच परम गुरु पद कमल ग्रंथ अंत हितकार ॥२॥

यहाँ कोई पूछे कि ग्रन्थों में जहाँ तहाँ पंच णमोकार की महिमा बहुत लिखी है, मंगलकार्य में विघ्न को दूर करने के लिए इसे ही प्रधान कहा है और इसमें पंच परमेष्ठी को नमस्कार है वह पंच परमेष्ठी की प्रधानता हुई, पंचपरमेष्ठी को परम गुरु कहे इसमें इसी मंत्र की महिमा तथा मंगलरूपपना और इससे विघ्न का निवारणपना, पंच परमेष्ठी का प्रधानपना और गुरुपना तथा नमस्कार करने योग्यपना कैसे है ? वह कहो ।

इसके समाधानरूप कुछ लिखते हैं - प्रथम तो पंच णमोकार मंत्र है, इसके पैंतीस अक्षर हैं, ये मंत्र के बीजाक्षर हैं तथा इनका योग सब मंत्रों से प्रधान है, इन अक्षरों का गुरु आमनाय से शुद्ध उच्चारण हो तथा साधन यथार्थ हो तब ये अक्षर कार्य में विघ्न दूर करने में कारण हैं इसलिए मंगलरूप हैं । 'म' अर्थात् पाप को गाले उसे मंगल कहते हैं । 'मंग' अर्थात् सुख को लावे, दे, उसको मंगल कहते हैं, इससे दोनों कार्य होते हैं । उच्चारण से विघ्न टलते हैं, अर्थ का विचार करने पर सुख होता है, इसी से इसको मंत्रों में प्रधान कहा है, इसप्रकार तो मंत्र के आश्रय की महिमा है ।

इसमें पंचपरमेष्ठी को नमस्कार है, वे पंचपरमेष्ठी अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये हैं, इनका स्वरूप तो ग्रन्थों में प्रसिद्ध है तो भी कुछ लिखते हैं - यह अनादिनिधन अकृत्रिम सर्वज्ञ की परंपरा से सिद्ध आगम में कहा है ऐसा षट्द्रव्यस्वरूप लोक है, इसमें जीवद्रव्य अनंतानंत हैं और पुद्गलद्रव्य इनसे अनंतानंत गुणे हैं, एक-एक धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य हैं और कालद्रव्य असंख्यात द्रव्य हैं । जीव तो दर्शनज्ञानमयी चेतना स्वरूप है ।

अजीव पाँच हैं ये चेतनारहित जड़ हैं, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो जैसे हैं वैसे ही रहते हैं इनके विकारपरिणति नहीं है, जीव-पुद्गलद्रव्य के परस्पर निमित्त नैमित्तिकभाव से विभावपरिणति है इनमें भी पुद्गल तो जड़ है, इसके विभावपरिणति का, दुःख-सुख का संवेदन नहीं है और जीव चेतन है इसके सुख-दुःख का संवेदन है ।

जीव अनंतानंत हैं, इनमें कई तो संसारी हैं, कई संसार से निवृत्त होकर सिद्ध हो चुके हैं । संसारी जीवों में कई तो अभव्य हैं तथा अभव्य के समान हैं । ये दोनों जाति के संसार से निवृत्त कभी नहीं होते हैं । इनके संसार अनादिनिधन है । कई भव्य हैं, ये संसार से निवृत्त होकर सिद्ध होते हैं, इसप्रकार जीवों की व्यवस्था है । अब इनके संसार की उत्पत्ति कैसे है, वह कहते हैं -

जीवों के ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का अनादिबंधपर्याय है, इस बंध के उदय के निमित्त से

जीव रागद्वेषमोहादि विभावपरिणतिरूप परिणमता है, इस विभावपरिणति के निमित्त से नवीन कर्मबंध होता है।

इसप्रकार इनके संतानपरंपरा से जीव के चतुर्गतिरूप संसार की प्रवृत्ति होती है, इस संसार में चारों गतियों में अनेक प्रकार सुख-दुःखरूप हुआ भ्रमण करता है, तब कोई काल ऐसा आवे जब मुक्त होना निकट हो तब सर्वज्ञ के उपदेश का निमित्त पाकर अपने स्वरूप को और कर्मबंध के स्वरूप को, अपने भीतरी विभाव के स्वरूप को जाने, इनका भेदज्ञान हो, तब परद्रव्य को संसार का निमित्त जानकर इससे विरक्त हो, अपने स्वरूप के अनुभव का साधन करे - दर्शन-ज्ञानरूप स्वभाव में स्थिर होने का साधन करे तब इसके बाह्यसाधन हिंसादिक पंच पापों का त्यागरूप निर्ग्रन्थ पद, सब परिग्रह की त्यागरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण करे, पाँच महाव्रत, पाँच समितिरूप, तीन गुप्तिरूप प्रवर्ते तब सब जीवों पर दया करनेवाला साधु कहलाता है।

इसमें तीन पद होते हैं - जो आप साधु होकर अन्य को साधुपद की शिक्षादीक्षा दे वह आचार्य कहलाता है, साधु होकर जिनसूत्र को पढ़े-पढ़ावे वह उपाध्याय कहलाता है, जो अपने स्वरूप के साधन में रहे वह साधु कहलाता है, जो साधु होकर अपने स्वरूप साधन के ध्यान के बल से चार घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य को प्राप्त हो वह अरहंत कहलाता है, तब तीर्थंकर तथा सामान्यकेवली जिन इन्द्रादिक से पूज्य होता है इनकी वाणी खिरती है जिससे सब जीवों का उपकार होता है, अहिंसा धर्म का उपदेश होता है, जिससे सब जीवों की रक्षा होती है, यथार्थ पदार्थों का स्वरूप बताकर मोक्षमार्ग दिखाते हैं, इसप्रकार अरहंत पद होता है और जो चार अघातिया कर्मों का भी नाश कर सब कर्मों से रहित हो जाते हैं, वह सिद्ध कहलाते हैं।

इसप्रकार ये पाँच पद हैं, ये अन्य सब जीवों से महान हैं, इसलिए पंच परमेष्ठी कहलाते हैं, इनके नाम तथा स्वरूप के दर्शन, स्मरण, ध्यान, पूजन, नमस्कार से अन्य जीवों के शुभपरिणाम होते हैं इसलिए पाप का नाश होता है, वर्तमान विघ्न का विलय होता है, आगामी पुण्य का बंध होता है इसलिए स्वर्गादिक शुभगति पाता है। इनकी आज्ञानुसार प्रवर्तने से परम्परा से संसार से निवृत्ति भी होती है इसलिए ये पांच परमेष्ठी सब जीवों के उपकारी परमगुरु हैं, सब संसारी जीवों से पूज्य हैं। इनके सिवाय अन्य संसारी जीव राग-द्वेष-मोहादिक विकारों से मलिन हैं, ये पूज्य नहीं हैं, इनके महानपना, गुरुपना, पूज्यपना नहीं है, आप ही कर्मों के वश मलिन हैं तब अन्य का पाप इनसे कैसे कटे ?

इसप्रकार जिनमत में इन पंच परमेष्ठी का महानपना प्रसिद्ध है और न्याय के बल से भी ऐसे ही सिद्ध होता है, क्योंकि जो संसार के भ्रमण से रहित हो वे ही अन्य के संसार का भ्रमण मिटाने को कारण होते हैं। जैसे जिसके पास धनादि वस्तु हो वही अन्य को धनादिक दे और आप दरिद्री हो तब अन्य की दरिद्रता कैसे मेटे, इसप्रकार जानना। जिनको संसार के दुःख मेटने हों और संसारभ्रमण के दुःखरूप जन्म-मरण से रहित होना हो वे अरहंतादिक पंच परमेष्ठी का नामरूप मंत्र जपो, इनके स्वरूप का दर्शन, स्मरण, ध्यान करो, इससे शुभ परिणाम होकर पाप का नाश होता है, सब विघ्न टलते हैं, परम्परा से संसार का भ्रमण मिटता है, कर्मों का नाश होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसा जिनमत का उपदेश है, अतः भव्यजीवों के अंगीकार करने योग्य है।

यहाँ कोई कहे - अन्यमत में ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिक इष्टदेव मानते हैं उनके भी विघ्न टलते देखे जाते हैं तथा उनके मत में राजादि बड़े-बड़े पुरुष देखे जाते हैं, उनके भी ये इष्ट विघ्नादिक को मेटनेवाले हैं ऐसे ही तुम्हारे भी कहते हो, ऐसा क्यों कहते हो कि यह पंचपरमेष्ठी ही प्रधान हैं, अन्य नहीं हैं ? उसको कहते हैं हे भाई ! जीवों के दुःख तो संसारभ्रमण का है और संसारभ्रमण के कारण रागद्वेषमोहादिक परिणाम हैं तथा रागादिक वर्तमान में आकुलतामयी दुःखस्वरूप है, इसलिए ये ब्रह्मादिक इष्टदेव कहे, ये तो रागादिक तथा काम क्रोधादि युक्त हैं, अज्ञानतप के फल से कई जीव सब लोक में चमत्कारसहित राजादिक बड़ा पद पाते हैं, उनको लोग बड़ा मानकर ब्रह्मादिक भगवान कहने लग जाते हैं और कहते हैं कि यह परमेश्वर ब्रह्मा का अवतार है तो ऐसे मानने से तो कुछ मोक्षमार्गी तथा मोक्षरूप होता नहीं है, संसारी ही रहता है।

ऐसे ही अन्यदेव सब पदवाले जानने, वे आप ही रागादिक से दुःखरूप हैं, जन्म-मरण सहित हैं, वे पर का संसार दुःख कैसे मेटेंगे ? उनके मत में विघ्न का टलना और राजादिक बड़े पुरुष कहे जाते हैं वहाँ तो उन जीवों के पहिले शुभ कर्म बंधे थे उनका फल है। पूर्वजन्म में किंचित् शुभ परिणाम किया था इसलिए पुण्यकर्म बंधा था, उसके उदय से कुछ विघ्न टलते हैं और राजादिक पद पाते हैं, वह तो पहिले कुछ अज्ञानतप किया है, उसका फल है यह तो पुण्यपापरूप संसार की चेष्टा है, इसमें कुछ बड़ाई नहीं है, बड़ाई तो वह है जिससे संसार का भ्रमण मिटे सो यह तो वीतराग-विज्ञान भावों से ही मिटेगा, इस वीतराग-विज्ञान भावयुक्त पंच परमेष्ठी हैं ये ही संसारभ्रमण का दुःख मिटाने में कारण हैं।

वर्तमान में कुछ पूर्व शुभकर्म के उदय से पुण्य का चमत्कार देखकर तथा पाप का दुःख देखकर भ्रम में नहीं पड़ना, पुण्य पाप दोनों संसार हैं इनसे रहित मोक्ष है, अतः संसार से छूटकर मोक्ष हो ऐसा उपाय करना। वर्तमान का विघ्न जैसा पंचपरमेष्ठी के नाम, मंत्र, ध्यान, दर्शन, स्मरण से मिटेगा वैसा अन्य के नामादिक से तो नहीं मिटेगा, क्योंकि ये पंचपरमेष्ठी ही शांतिरूप हैं, केवल शुभ परिणामों ही के कारण हैं। अन्य इष्टदेव के रूप तो रौद्ररूप हैं, इनके दर्शन स्मरण तो रागादिक तथा भयादिक के कारण हैं, इनसे तो शुभ परिणाम होते दीखते नहीं हैं। किसी के कदाचित् कुछ धर्मानुराग के वश से शुभ परिणाम हों तो वह उनसे हुआ नहीं कहलाता, उस प्राणी के स्वाभाविक धर्मानुराग के वश से होता है। इसलिए अतिशयवान शुभ परिणाम का कारण तो

अथ लिंगपाहुड

७

अथ लिंगपाहुड की वचनिका का अनुवाद लिखते हैं -

(दोहा)

जिनमुद्राधारक मुनी निजस्वरूपकं ध्याय ।

कर्म नाशि शिवसुख लियो बंदूं तिनके पांय ॥१॥

इसप्रकार मंगल के लिए जिन मुनियों ने शिवसुख प्राप्त किया उनको नमस्कार करके श्रीकुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत गाथाबंध लिंगपाहुडनामक ग्रंथ की देशभाषामय वचनिका का अनुवाद लिखा जाता है, प्रथम ही आचार्य मंगल के लिए इष्ट को नमस्कार कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हैं -

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।

वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥१॥

कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धानाम् ।

वक्ष्यामि श्रमणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन ॥१॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि मैं अरहन्तों को नमस्कार करके और वैसे ही सिद्धों को नमस्कार करके तथा जिसमें श्रमणलिंग का निरूपण है इसप्रकार पाहुडशास्त्र को कहूँगा ।

भावार्थ - इस काल में मुनि का लिंग जैसा जिनदेव ने कहा है उसमें विपर्यय हो गया, उसका निषेध करने के लिए यह लिंगनिरूपण शास्त्र आचार्य ने रचा है, इसकी आदि में घातिकर्म का नाश कर अनंतचतुष्टय प्राप्त करके अरहंत हुए इन्होंने यथार्थरूप से श्रमण का मार्ग प्रवर्तया और

कर नमन श्री अरिहंत को सब सिद्ध को करके नमन ।

संक्षेप में मैं कह रहा हूँ, लिंगपाहुड शास्त्र यह ॥१॥

उस लिंग को साधकर सिद्ध हुए, इसप्रकार अरहंत सिद्धों को नमस्कार करके ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा की है ॥१॥

आगे कहते हैं कि जो लिंग बाह्यभेष है वह अंतरंगधर्मसहित कार्यकारी है -

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।

जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥२॥

धर्मेण भवति लिंगं न लिंगमात्रेण धर्मसंप्राप्तिः ।

जानीहि भावधर्मं किं ते लिंगेन कर्तव्यम् ॥२॥

अर्थ - धर्म सहित तो लिंग होता है, परन्तु लिंगमात्र ही से धर्म की प्राप्ति नहीं है, इसलिए हे भव्यजीव ! तू भावरूप धर्म को जान और केवल लिंग ही से तेरा क्या कार्य होता है अर्थात् कुछ भी नहीं होता है ।

भावार्थ - यहाँ ऐसा जानो कि लिंग ऐसा चिह्न का नाम है वह बाह्य भेष धारण करना मुनि का चिह्न है ऐसा चिह्न यदि अंतरंग वीतराग स्वरूप धर्म हो तो उस सहित तो यह चिह्न सत्यार्थ होता है और इस वीतरागस्वरूप आत्मा के धर्म के बिना लिंग जो बाह्य भेषमात्र से धर्म की संपत्ति-सम्यक् प्राप्ति नहीं है, इसलिए उपदेश दिया है कि अंतरंग भावधर्म रागद्वेष रहित आत्मा का शुद्ध ज्ञान दर्शनरूप स्वभाव धर्म है, उसे हे भव्य ! तू जान, इस बाह्य लिंग भेषमात्र से क्या काम है ? कुछ भी नहीं । यहाँ ऐसा भी जानना कि जिनमत में लिंग तीन कहे हैं - एक तो मुनि का यथाजात दिगम्बर लिंग, दूजा उत्कृष्ट श्रावक का, तीजा आर्यिका का, इन तीनों ही लिंगों को धारण कर भ्रष्ट होकर जो कुक्रिया करते हैं, इसका निषेध है । अन्यमत के कई भेष हैं इनको भी धारण करके जो कुक्रिया करते हैं, वह भी निंदा ही पाते हैं, इसलिए भेष धारण करके कुक्रिया नहीं करना ऐसा बताया ॥२॥

आगे कहते हैं कि जो जिनलिंग निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप को ग्रहण कर कुक्रिया करके हँसी कराते हैं, वे जीव पापबुद्धि हैं -

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।

उवहसदि लिंगिभावं १लिंगिम्मिय णारदो लिंगी ॥३॥

१. पाठान्तर - 'लिंगिम्मिय णारदो लिंगी' के स्थान पर 'लिंग णासेदि लिंगीणं' ।

धर्म से हो लिंग केवल लिंग से न धर्म हो ।

समभाव को पहिचानिये द्रवलिंग से क्या कार्य हो ॥२॥

यः पापमोहितमतिः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्रानाम् ।
उपहसति लिंगिभावं लिंगिषु नारदः लिंगी ॥३॥

अर्थ – जो जिनवरेन्द्र अर्थात् तीर्थंकर देव के लिंग नग्न दिगम्बररूप को ग्रहण करके लिंगीपने के भाव को उपहसता है, हास्यमात्र समझता है वह लिंगी अर्थात् भेषी जिसकी बुद्धि पाप से मोहित है, वह नारद जैसा है अथवा इस गाथा के चौथे पाद का पाठान्तर ऐसा है – “लिंगासेदि लिंगीणं” इसका अर्थ – यह लिंगी कोई अन्य जो कई लिंगों के धारक हैं उनके लिंग को भी नष्ट करता है, ऐसा बताता है कि लिंगी सब ऐसे ही हैं ।

भावार्थ – लिंगधारी होकर भी पापबुद्धि से कुछ कुक्रिया करे तब उसने लिंगीपने को हास्यमात्र समझा, कुछ कार्यकारी नहीं समझा । लिंगीपना तो भावशुद्धि से शोभा पाता है, जब भाव बिगड़े तब बाह्य कुक्रिया करने लग गया तब इसने इस लिंग को लजाया और अन्य लिंगियों के लिंग को भी कलंक लगाया, लोग कहने लगे कि लिंगी ऐसे ही होते हैं अथवा जैसे नारद का भेष है, उसमें वह अपनी इच्छानुसार स्वच्छंद प्रवर्तता है वैसे ही यह भी भेषी ठहरा इसलिए आचार्य ने ऐसा आशय धारण करके कहा है कि जिनेन्द्र के भेष को लजाना योग्य नहीं है ॥३॥

आगे लिंग धारण करके कुक्रिया करे उसको प्रगट कहते हैं –

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४॥
नृत्यति गायति तावत् वाद्यं वादयति लिंगरूपेण ।
सः पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥४॥

अर्थ – जो लिंगरूप करके नृत्य करता है, गाता है, वादित्र बजाता है, सो पाप से मोहित बुद्धिवाला है, तिर्यचयोनि है, पशु है, श्रमण नहीं है ।

भावार्थ – लिंग धारण करके भाव बिगाड़कर नाचना, गाना, बजाना इत्यादि क्रियार्थें करता है, वह पापबुद्धि है, पशु है, अज्ञानी है, मनुष्य नहीं है, मनुष्य हो तो श्रमणपना रखे । जैसे नारद

परिहास में मोहितमती धारण करें जिनलिंग जो ।
वे अज्ञजन बदनाम करते नित्य जिनवर लिंग को ॥३॥
जो नाचते गाते बजाते वाद्य जिनवर लिंगधर ।
हैं पाप मोहितमती रे वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥४॥

भेषधारी नाचता है, गाता है, बजाता है जैसे यह भी भेषी हुआ तब उत्तम भेष को लजाया, इसलिए लिंग धारण करके ऐसा होना युक्त नहीं है ॥४॥

आगे फिर कहते हैं -

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥५॥
समूहयति रक्षति च आर्त्तं ध्यायति बहुप्रयत्नेन ।
सः पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥५॥

अर्थ - जो निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके परिग्रह को संग्रहरूप करता है अथवा उसकी वांछा चिंतवन ममत्व करता है और उस परिग्रह की रक्षा करता है उसका बहुत यत्न करता है, उसके लिए आर्त्तध्यान निरंतर ध्याता है, वह पाप से मोहित बुद्धिवाला है, तिर्यचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण तो नहीं है, श्रमणपने को बिगाड़ता है ऐसे जानना ॥५॥

आगे फिर कहते हैं -

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी ।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥६॥
कलहं वादं द्यूतं नित्यं बहुमानगर्वितः लिंगी ।
व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरूपेण ॥६॥

अर्थ - जो लिंगी बहुत मान कषाय से गर्ववान हुआ निरंतर कलह करता है, वाद करता है, द्यूतक्रीड़ा करता है, वह पापी नरक को प्राप्त होता है और पाप से ऐसे ही करता रहता है ।

भावार्थ - जो गृहस्थरूप करके ऐसी क्रिया करता है, उसको तो यह उलाहना नहीं है, क्योंकि कदाचित् गृहस्थ तो उपदेशादिक का निमित्त पाकर कुक्रिया करता रह जाय तो नरक न जावे, परन्तु लिंग धारण करके उसरूप से कुक्रिया करता है तो उसको उपदेश भी नहीं लगता है, इससे नरक का ही पात्र होता है ॥६॥

१. पाठान्तर 'वच्च' 'वज्ज' ।

जो आर्त्त होते जोड़ते रखते रखाते यत्न से ।
वे पाप मोहितमती हैं वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥५॥
अर कलह करते जुआ खेलें मानमंडित नित्य जो ।
वे प्राप्त होते नरकगति को सदा ही जिन लिंगधर ॥६॥

पाओपहदभावो सेवदि य अंबभु लिंगिरूवेण ।
 सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकंतारे ॥७॥
 पापोपहतभावः सेवते च अब्रह्म लिंगिरूपेण ।
 सः पापमोहितमतिः हिंडते संसारकांतारे ॥७॥

अर्थ – पाप से उपहत अर्थात् घात किया गया है आत्मभाव जिसका ऐसा होता हुआ जो लिंगी का रूप करके अब्रह्म का सेवन करता है वह पाप से मोहित बुद्धिवाला लिंगी संसाररूपी कांतार-वन में भ्रमण करता है ।

भावार्थ – पहिले तो लिंग धारण किया और पीछे ऐसा पाप परिणाम हुआ कि व्यभिचार सेवन करने लगा, उसकी पाप बुद्धि का क्या कहना ? उसका संसार में भ्रमण क्यों न हो ? जिसके अमृत भी जहररूप परिणमे उसके रोग जाने की क्या आशा ? वैसे ही यह हुआ, ऐसे का संसार कटना कठिन है ॥७॥

आगे फिर कहते हैं -

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगिरूवेण ।
 अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि ॥८॥
 दर्शनज्ञानचारित्राणि उपधानानि यदि न लिंगिरूपेण ।
 आर्त्तं ध्यायति ध्यानं अनंतसंसारिकः भवति ॥८॥

अर्थ – यदि लिंगरूप करके दर्शन ज्ञान चारित्र को तो उपधानरूप नहीं किये (धारण नहीं किये) और आर्त्तध्यान को ध्याता है तो ऐसा लिंगी अनन्तसंसारी होता है ।

भावार्थ – लिंग धारण करके दर्शन ज्ञान चारित्र का सेवन करना था वह तो नहीं किया और कुटुम्ब आदि विषयों का परिग्रह छोड़ा, उसकी फिर चिंता करके आर्त्तध्यान ध्याने लगा तब अनन्तसंसारी क्यों न हो ? इसका यह तात्पर्य है कि सम्यग्दर्शनादिरूप भाव तो पहिले हुए नहीं और कुछ कारण पाकर लिंग धारण कर लिया, उसकी अवधि क्या ? पहिले भाव शुद्ध करके लिंग धारण करना युक्त है ॥८॥

जो पाप उपहत आत्मा अब्रह्म सेवें लिंगधर ।
 वे पाप मोहितमती जन संसारवन में नित भ्रमें ॥७॥
 जिनलिंगधर भी ज्ञान-दर्शन-चरण धारण ना करें ।
 वे आर्त्तध्यानी द्रव्यलिंगी नंत संसारी कहे ॥८॥

आगे कहते हैं कि यदि भावशुद्धि के बिना गृहस्थपद छोड़े तो यह प्रवृत्ति होती है -

जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च ।

वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥९॥

यः योजयति विवाहं कृषिकर्मवाणिज्यजीवघातं च ।

व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरूपेण ॥९॥

अर्थ - जो गृहस्थों के परस्पर विवाह जोड़ता है, संबंध करता है, कृषिकार्य-खेती बाहना किसान का कार्य, वाणिज्य व्यापार अर्थात् वैश्य का कार्य और जीवघात अर्थात् वैद्यकर्म के लिए जीवघात करना अथवा धीवरादि के कार्यों को करता है, वह लिंगरूप धारण करके ऐसे पापकार्य करता हुआ पापी नरक को प्राप्त होता है ।

भावार्थ - गृहस्थपद छोड़कर शुभभाव बिना लिंगी हुआ था, इससे भाव की वासना मिटी नहीं तब लिंगी का रूप धारण करके भी गृहस्थी के कार्य करने लगा, आप विवाह नहीं करता है तो भी गृहस्थों के संबंध कराकर विवाह कराता है तथा खेती व्यापार जीवहिंसा आप करता है और गृहस्थों को कराता है, तब पापी होकर नरक जाता है । ऐसे भेष धारने से तो गृहस्थ ही भला था, पद का पाप तो नहीं लगता, इसलिए ऐसे भेष धारण करना उचित नहीं है - यह उपदेश है ॥९॥

आगे फिर कहते हैं -

चौराणं लाउराणं च जुद्धं विवादं च तिक्कम्महिं ।

जंतेण दिक्कमाणो गच्छति लिंगी णरयवासं ॥१०॥

चौराणां लापराणां च युद्धं विवादं च तीव्रकर्मभिः ।

यंत्रेण दीव्यमानः गच्छति लिंगी नरकवासं ॥१०॥

अर्थ - जो लिंगी ऐसे प्रवर्तता है वह नरकवास को प्राप्त होता है जो चोरों के और लापर अर्थात् झूठ बोलनेवालों के युद्ध और विवाद कराता है और तीव्रकर्म जिनमें बहुत पाप उत्पन्न हो ऐसे तीव्र कषायों के कार्यों से तथा यंत्र अर्थात् चौपड़, शतरंज, पासा, हिंदोला आदि से क्रीड़ा

१. मुद्रित सटीक संस्कृत प्रति में 'समाएण' ऐसा पाठ है जिसकी छाया में 'मिथ्यात्वावादिनां' इसप्रकार है ।

रे जो करावें शादियाँ कृषि वणज कर हिंसा करें ।

वे लिंगधर ये पाप कर जावें नियम से नरक में ॥१॥

जो चोर लाबर लड़ावें अर यंत्र से क्रीडा करें ।

वे लिंगधर ये पाप कर जावें नियम से नरक में ॥१०॥

करता रहता है, वह नरक जाता है। यहाँ 'लाउराणं' का पाठान्तर ऐसा भी है 'राउलाणं' इसका अर्थ - रावल अर्थात् राजकार्य करनेवालों के युद्ध विवाद कराता है, ऐसे जानना।

भावार्थ - लिंग धारण करके ऐसे कार्य करे वह तो नरक ही पाता है, इसमें संशय नहीं है ॥१०॥

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके लिंगयोग्य कार्य करता हुआ दुःखी रहता है, उन कार्यो का आदर नहीं करता है, वह भी नरक में जाता है -

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि ।

पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥११॥

दर्शनज्ञान चारित्रेषु तपः संयमनियमनित्यकर्मसु ।

पीडयते वर्त्तमानः प्राप्नोति लिंगी नरकवासम् ॥११॥

अर्थ - जो लिंग धारण करके इन क्रियाओं को करता हुआ बाध्यमान होकर पीड़ा पाता है, दुःखी होता है वह लिंगी नरकवास को पाता है। वे क्रियायें क्या हैं ? प्रथम तो दर्शन ज्ञान चारित्र में इनका निश्चय व्यवहाररूप धारण करना, तप-अनशनादिक बारह प्रकार, शक्ति के अनुसार करना, संयम-इन्द्रियों को और मन को वश में करना तथा जीवों की रक्षा करना, नियम अर्थात् नित्य कुछ त्याग करना और नित्यकर्म अर्थात् आवश्यक आदि क्रियाओं को नियत समय पर नित्य करना, ये लिंग के योग्य क्रियायें हैं, इन क्रियाओं को करता हुआ दुःखी होता है वह नरक पाता है। ("आतम हित हेतु विराग ज्ञान सो लखै आपको कष्टदान" मुनिपद=मोक्षमार्ग, उसको तो वह कष्टदाता मानता है, अतः वह मिथ्या रुचिवान है।)

भावार्थ - लिंग धारण करके ये कार्य करने थे, इनका तो निरादर करे और प्रमाद सेवे, लिंग के योग्य कार्य करता हुआ दुःखी हो तब जानो कि इसके भावशुद्धिपूर्वक लिंगग्रहण नहीं हुआ और भाव बिगड़ने पर तो उसका फल नरक ही होता है, इसप्रकार जानना ॥११॥

आगे कहते हैं कि जो भोजन में भी रसों का लोलुपी होता है वह भी लिंग को लजाता है -

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं ।

मायी लिंगविवाइ तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१२॥

ज्ञान-दर्शन-चरण तप संयम नियम पालन करें।

पर दुःखी अनुभव करें तो जावें नियम से नरक में ॥११॥

कन्दर्प आदि में रहें अति गृह्यता धारण करें।

हैं छली व्याभिचारी अरे ! वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥१२॥

कंदर्पादिषु वर्तते कुर्वाणः भोजनेषु रसगृद्धिम् ।

मायावी लिंगव्यवायी तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥१२॥

अर्थ – जो लिंग धारण करके भोजन में भी रस की गृद्धि अर्थात् अति आसक्तता को करता रहता है, वह कंदर्प आदिक में वर्तता है, उसके काम सेवन की वांछा तथा प्रमाद निद्रादिक प्रचुर मात्रा में बढ़ जाते हैं तब 'लिंगव्यवायी' अर्थात् व्यभिचारी होता है, मायावी अर्थात् कामसेवन के लिए अनेक छल करना विचारता है, जो ऐसा होता है वह तिर्यचयोनि है, पशुतुल्य है, मनुष्य नहीं है, इसलिए श्रमण भी नहीं है ।

भावार्थ – गृहस्थपद छोड़कर आहार में लोलुपता करने लगा तो गृहस्थपद में अनेक रसीले भोजन मिलते थे, उनको क्यों छोड़े ? इसलिए ज्ञात होता है कि आत्मभावना के रस को पहिचाना ही नहीं है, इसलिए विषयसुख की ही चाह रही तब भोजन के रस की, साथ के अन्य भी विषयों की चाह होती है तब व्यभिचार आदि में प्रवर्त कर लिंग को लजाता है, ऐसे लिंग से तो गृहस्थपद ही श्रेष्ठ है, ऐसे जानना ॥१२॥

आगे फिर इसी को विशेषरूप से कहते हैं -

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुञ्जदे पिंडं ।

अवरपरुई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥१३॥

धावति पिंडनिमित्तं कलहं कृत्वा भुंक्ते पिंडम् ।

अपरप्ररूपी सन् जिनमार्गी न भवति सः श्रमणः ॥१३॥

अर्थ – जो लिंगधारी पिंड अर्थात् आहार के निमित्त दौड़ता है, आहार के निमित्त कलह करके आहार को भोगता है, खाता है और उसके निमित्त अन्य से परस्पर ईर्ष्या करता है, वह श्रमण जिनमार्गी नहीं है ।

भावार्थ – इस काल में जिनलिंग से भ्रष्ट होकर पहिले अर्द्धफालक हुए, पीछे उनमें श्वेताम्बरादिक संघ हुए, उन्होंने शिथिलाचार पुष्ट कर लिंग की प्रवृत्ति बिगाड़ी, उनका यह निषेध है । इनमें अब भी कई ऐसे देखे जाते हैं जो आहार के लिए शीघ्र दौड़ते हैं, ईर्यापथ की सुध नहीं है और आहार गृहस्थ के घर से लाकर दो चार शामिल बैठकर खाते हैं, उसमें बंटवारे में सरस, नीरस आवे तब परस्पर कलह करते हैं और उसके निमित्त परस्पर ईर्ष्या करते हैं, इसप्रकार की

जो कलह करते दौड़ते हैं इष्ट भोजन के लिये ।

अर परस्पर ईर्षा करें वे श्रमण जिनमार्गी नहीं ॥१३॥

प्रवृत्ति करें तब कैसे श्रमण हुए ? वे जिनमार्गी तो हैं नहीं, कलिकाल के भेषी हैं। इनको साधु मानते हैं वे भी अज्ञानी हैं ॥१३॥

आगे फिर कहते हैं -

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं ।

जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥१४॥

गृह्णाति अदत्तदानं परनिंदामपि च परोक्षदूषणैः ।

जिनलिंग धारयन् चौरैणेव भवति सः श्रमणः ॥१४॥

अर्थ - जो बिना दिया तो दान लेता है और परोक्ष पर के दूषणों से पर की निंदा करता है वह जिनलिंग को धारण करता हुआ भी चोर के समान श्रमण है।

भावार्थ - जो जिनलिंग धारण करके बिना दिये आहार आदि को ग्रहण करता है, पर के देने की इच्छा नहीं है, परन्तु कुछ भयादिक उत्पन्न करके लेना तथा निरादर से लेना, छिपकर कार्य करना - ये तो चोर के कार्य हैं। यह भेष धारण करके ऐसे करने लगा तब चोर ही ठहरा इसलिए ऐसा भेषी होना योग्य नहीं है ॥१४॥

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके ऐसे प्रवर्तते हैं, वे श्रमण नहीं हैं -

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि

लिंग व ण ।

इरियावहं धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१५॥

उत्पतति पतति धावति पृथिवीं खनति लिंगरूपेण ।

ईर्यापथं धारयन् तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥१५॥

अर्थ - जो लिंग धारण करके ईर्यापथ सोधकर चलना था उसमें सोधकर नहीं चले, दौड़कर चलता हुआ उछले, गिर पड़े, फिर उठकर दौड़े और पृथ्वी को खोदे, चलते हुए ऐसे पैर पटके जो उससे पृथ्वी खुद जाय इसप्रकार से चले सो तिर्यचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, मनुष्य नहीं

बिना दीये ग्रहें परनिन्दा करें जो परोक्ष में।

वे धरें यद्यपि लिंगजिन फिर भी अरे वे चोर हैं ॥१४॥

ईर्या समिति की जगह पृथ्वी खोदते दौड़ें गिरें।

रे पशूवत उठकर चलें वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥१५॥

है ॥१५॥

आगे कहते हैं कि जो वनस्पति आदि स्थावरजीवों की हिंसा से कर्मबंध होता है उसको न गिनता स्वच्छंद होकर प्रवर्तता है, वह श्रमण नहीं है -

बंधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि ।

छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१६॥

बंध नीरजाः सन् सस्यं खंडयति तथा च वसुधामपि ।

छिनत्ति तरुगणं बहुशः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥१६॥

अर्थ - जो लिंग धारण करके वनस्पति आदि की हिंसा से बंध होता है, उसको दोष न मानकर बंध को नहीं गिनता हुआ सस्य अर्थात् अनाज को कूटता है और वैसे ही वसुधा अर्थात् पृथ्वी को खोदता है तथा बारबार तरुगण अर्थात् वृक्षों के समूह को छेदता है, ऐसा लिंगी तिर्यच-योनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है ।

भावार्थ - वनस्पति आदि स्थावर जीव जिनसूत्र में कहे हैं और इनकी हिंसा से कर्मबंध होना भी कहा है उसको निर्दोष समझता हुआ कहता है कि इसमें क्या दोष है ? क्या बंध है ? इसप्रकार मानता हुआ तथा वैद्य कर्मादिक के निमित्त औषधादिक को, धान्य को, पृथ्वी को तथा वृक्षों को खंडता है, खोदता है, छेदता है वह अज्ञानी पशु है, लिंग धारण करके श्रमण कहलाता है, वह श्रमण नहीं है ॥१६॥

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके स्त्रियों से राग करता है वह पर को दूषण देता है, वह श्रमण नहीं है -

रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि ।

दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१७॥

रागं करोति नित्यं महिलावर्गं परं च दूषयति ।

दर्शनज्ञानविहीनः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥१७॥

जो बंधभय से रहित पृथ्वी खोदते तरु छेदते ।

अर हरित भूमी रोंधते वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥१६॥

राग करते नारियों से दूसरों को दोष दें ।

सद्ज्ञान-दर्शन रहित हैं वे श्रमण नहीं तिर्यच है ॥१७॥

अर्थ – जो लिंग धारण करके स्त्रियों के समूह के प्रति जो निरंतर राग-प्रीति करता है और पर को (कोई अन्य निर्दोष हैं उनको) दोष लगाता है वह दर्शनज्ञान रहित है, ऐसी लिंगी तिर्यचयोनि है, पशु समान है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

भावार्थ – लिंग धारण करनेवाले के सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है और परद्रव्यों से रागद्वेष नहीं करनेवाला चारित्र होता है। वहाँ जो स्त्रीसमूह से तो राग-प्रीति करता है और अन्य के दोष लगाकर द्वेष करता है व्यभिचारी का सा स्वभाव है तो उसके कैसा दर्शन-ज्ञान ? और कैसा चारित्र? लिंग धारण करके लिंग के योग्य आचरण करना था वह नहीं किया, तब अज्ञानी पशु समान ही है, श्रमण कहलाता है वह आप (स्वयं) भी मिथ्यादृष्टि है और अन्य को भी मिथ्यादृष्टि करनेवाला है, ऐसे का प्रसंग भी युक्त नहीं है ॥१७॥

आगे फिर कहते हैं -

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो ।

आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१८॥

प्रव्रज्याहीनगृहिणि स्नेहं शिष्ये वर्तते बहुशः ।

आचारविनयहीनः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥१८॥

अर्थ – जिस लिंगी 'प्रव्रज्या हीन' अर्थात् दीक्षा रहित गृहस्थों पर और शिष्यों में बहुत स्नेह रखता है और आचार अर्थात् मुनियों की क्रिया और गुरुओं के विनय से रहित होता है वह तिर्यचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

भावार्थ – गृहस्थों से तो बारम्बार लालपाल रक्खे और शिष्यों से बहुत स्नेह रक्खे तथा मुनि की प्रवृत्ति आवश्यक आदि कुछ करे नहीं, गुरुओं के प्रतिकूल रहे, विनयादिक करे नहीं, ऐसा लिंगी पशु समान है, उसको साधु नहीं कहते हैं ॥१८॥

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके पूर्वोक्त प्रकार प्रवर्तता है, वह श्रमण नहीं है, ऐसा संक्षेप में कहते हैं -

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं ।

श्रावकों में शिष्यगण में नेह रखते श्रमण जो ।

हीन विनयाचार से वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं ॥१८॥

इस तरह वे भ्रष्ट रहते संयतों के संघ में ।

रे जानते बहुशास्त्र फिर भी भाव से तो नष्ट हैं ॥१९॥

बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्टो ण सो समणो ॥१९॥

एवं सहितः मुनिवर ! संयतमध्ये वर्तते नित्यम् ।

बहुलमपि जानन् भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥१९॥

अर्थ – एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार प्रवृत्ति सहित जो वर्तता है वह हे मुनिवर ! जो ऐसा लिंग धारी संयमी मुनियों के मध्य भी निरन्तर रहता है और बहुत शास्त्रों को भी जानता है तो भी भावों से नष्ट है, श्रमण नहीं है ।

भावार्थ – ऐसा पूर्वोक्त प्रकार का लिंगी जो सदा मुनियों में रहता है और बहुत शास्त्रों को जानता है तो भी भाव अर्थात् शुद्ध दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणाम से रहित है, इसलिए मुनि नहीं है, भ्रष्ट है, अन्य मुनियों के भाव बिगाड़नेवाला है ॥१९॥

आगे फिर कहते हैं कि जो स्त्रियों का संसर्ग बहुत रखता है वह भी श्रमण नहीं है -

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वीसट्टो ।

पासत्थ वि हु णियट्टो भावविणट्टो ण सो समणो ॥२०॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि महिलावर्गे ददाति विश्वस्तः ।

पार्श्वस्थादपि स्फुटं विनष्टः भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥२०॥

अर्थ – जो लिंग धारण करके स्त्रियों के समूह में उनका विश्वास करके और उनको विश्वास उत्पन्न कराके दर्शन ज्ञान चारित्र को देता है उनको सम्यक्त्व बताता है, पढ़ना-पढ़ाना, ज्ञान देता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है, इसप्रकार विश्वास उत्पन्न कराके उनमें प्रवर्तता है वह ऐसा लिंगी तो पार्श्वस्थ से भी निकृष्ट है, प्रगट भाव से विनष्ट है, श्रमण नहीं है ।

भावार्थ – लिंग धारण करके स्त्रियों को विश्वास उत्पन्न कराकर उनसे निरंतर पढ़ना, पढ़ाना, लालपाल रखना, उसको जानो कि इसका भाव खोटा है । पार्श्वस्थ तो भ्रष्ट मुनि को कहते हैं उससे भी यह निकृष्ट है, ऐसे को साधु नहीं कहते हैं ॥२०॥

आगे फिर कहते हैं -

पुंछलिघरि जो भुञ्जइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं ।

पार्श्वस्थ से भी हीन जो विश्वस्त महिलावर्ग में ।

रत ज्ञान-दर्शन-चरण दें वे नहीं पथ अपवर्ग हैं ॥२०॥

जो पुंश्चली के हाथ से आहार लें शंशा करें ।

निज पिंड पोसें वालमुनि वे भाव से तो नष्ट हैं ॥२१॥

पावदि बालसहावं भावविणट्टो ण सो सवणो ॥२१॥

पुंश्चलीगृहे यः भुंक्ते नित्यं संस्तौति पुष्पाति पिंडं ।

प्राप्नोति बालस्वभावं भावविनष्टः न सः

श्र म ण : । । २ १ । ।

अर्थ – जो लिंगधारी पुंश्चली अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्री के घर पर भोजन लेता है, आहार करता है और नित्य उसकी स्तुति करता है कि यह बड़ी धर्मात्मा है इसके साधुओं की बड़ी भक्ति है इसप्रकार से नित्य उसकी प्रशंसा करता है इसप्रकार पिंड को (शरीर को) पालता है वह ऐसा लिंगी बालस्वभाव को प्राप्त होता है, अज्ञानी है, भाव से विनष्ट है, वह श्रमण नहीं है।

भावार्थ – जो लिंग धारण करके व्यभिचारिणी का आहार खाकर पिंड पालता है, उसकी नित्य प्रशंसा करता है, तब जानो कि यह भी व्यभिचारी है, अज्ञानी है, उसको लज्जा भी नहीं आती है, इसप्रकार वह भाव से विनष्ट है, मुनित्व के भाव नहीं हैं, तब मुनि कैसे ? ॥२१॥

आगे इस लिंगपाहुड को सम्पूर्ण करते हैं और कहते हैं कि जो धर्म का यथार्थरूप से पालन करता है, वह उत्तम सुख पाता है -

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहिं देसियं धम्मं ।

पालेइ कट्टसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥२२॥

इति लिंगप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं धर्मम् ।

पालयति कष्टसहितं सः गाहते उत्तमं स्थानम् ॥२२॥

अर्थ – इसप्रकार इस लिंगपाहुड शास्त्र का-सर्वबुद्ध जो ज्ञानी गणधरादि उन्होंने उपदेश दिया है उसको जानकर जो मुनि धर्म को कष्टसहित बड़े यत्न से पालता है, रक्षा करता है वह उत्तमस्थान मोक्ष को पाता है।

भावार्थ – यह मुनि का लिंग है वह बड़े पुण्य के उदय से प्राप्त होता है उसे प्राप्त करके भी फिर खोटे कारण मिलाकर उसको बिगाड़ता है तो जानो कि यह बड़ा ही अभागा है-चिंतामणि रत्न पाकर कौड़ी के बदले में नष्ट करता है इसीलिए आचार्य ने उपदेश दिया है कि ऐसा पद पाकर इसकी बड़े यत्न से रक्षा करना, कुसंगति करके बिगाड़ेगा तो जैसे पहिले संसार भ्रमण था वैसे ही

सर्वज्ञ भाषित धर्ममय यह लिंगपाहुड जानकर ।

अप्रमत्त हो जो पालते वे परमपद को प्राप्त हों ॥२२॥

फिर संसार में अनन्तकाल भ्रमण होगा और यत्नपूर्वक मुनित्व का पालन करेगा तो शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करेगा, इसलिए जिसको मोक्ष चाहिए वह मुनिधर्म को प्राप्त करके यत्नसहित पालन करो, परीषह का, उपसर्ग का उपद्रव आवे तो भी चलायमान मत होओ, यह श्री सर्वज्ञदेव का उपदेश है ॥२२॥

इसप्रकार यह लिंगपाहुड ग्रंथ पूर्ण किया। इसका संक्षेप इसप्रकार है कि इस पंचमकाल में जिनलिंग धारण करके फिर दुर्भिक्ष के निमित्त से भ्रष्ट हुए, भेष बिगाड़ दिया वे अर्द्धफालक कहलाये, इनमें से फिर श्वेताम्बर हुए, इनमें से भी यापनीय हुए, इत्यादि होकर के शिथिलाचार को पुष्ट करने के शास्त्र रचकर स्वच्छंद हो गये, इनमें से कितने ही निपट-बिल्कुल निंद्य प्रवृत्ति करने लगे, इनका निषेध करने के लिए तथा सबको सत्य उपदेश देने के लिए यह ग्रंथ है, इसको समझकर श्रद्धान करना। इसप्रकार निंद्य आचरणवालों को साधु-मोक्षमार्गी न मानना, इनकी वंदना व पूजा न करना - यह उपदेश है।

(छप्पय)

लिंग मुनी को धारि पाप जो भाव बिगाड़ै।
वह निंदाकूं पाय आपको अहित विथारै ॥
ताकूं पूजै थुवै वंदना करै जु कोई।
वे भी तैसे होइ साथि दुर्गतिकूं लेई ॥
इससे जे सांचे मुनि भये भाव शुद्धि में थिर रहे।
तिनि उपदेश्या मारग लगे ते सांचे ज्ञानी कहे ॥१॥

(दोहा)

अंतर बाह्य जु शुद्ध जे जिनमुद्राकूं धारि।
भये सिद्ध आनंदमय वंदूं जोग सँवारि ॥२॥

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामि विरचित श्री लिंगप्राभृत शास्त्र की
जयपुरनिवासी पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ाकृत देशभाषामयवचनिका का
हिन्दी भाषानुवाद समाप्त ॥७॥



अथ शीलपाहुड



अब शीलपाहुड ग्रंथ की देशभाषामयवचनिका का हिन्दी भाषानुवाद लिखते हैं -
(दोहा)

भव की प्रकृति निवारिकै, प्रगट किये निजभाव ।

है अरहंत जु सिद्ध फुनि, वंदूं तिनि धरि चाव ॥१॥

इसप्रकार इष्ट के नमस्काररूप मंगल करके शीलपाहुड नामक ग्रंथ श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कृत प्राकृत गाथाबंध की देशभाषामय वचनिका का हिन्दी भाषानुवाद लिखते हैं । प्रथम श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ग्रंथ की आदि में इष्ट को नमस्काररूप मंगल करके ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हैं -

वीरं विसालणयणं रक्तुप्पलकोमलस्समप्पायं ।

तिविहेण पणमिऊण सीलगुणाणं णिसामेह ॥१॥

वीरं विशालनयनं रक्तोत्पलकोमलसमपादम् ।

त्रिविधेन प्रणम्य शीलगुणान् निशाम्यामि ॥१॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि मैं वीर अर्थात् अंतिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमानस्वामी परम भट्टारक को मन वचन काय से नमस्कार करके शील अर्थात् निजभावरूप प्रकृति उसके गुणों को अथवा शील और सम्यग्दर्शनादिक गुणों को कहूँगा, कैसे हैं श्री वर्द्धमानस्वामी - विशालनयन हैं, उनके बाह्य में तो पदार्थों को देखने को नेत्र विशाल हैं, विस्तीर्ण हैं, सुन्दर हैं और अंतरंग में केवलदर्शन केवलज्ञानरूप नेत्र समस्त पदार्थों को देखनेवाले हैं और वे कैसे हैं - 'रक्तोत्पलकोमलसमपादं' अर्थात् उनके चरण रक्त कमल के समान कोमल हैं, ऐसे अन्य के नहीं हैं, इसलिए सबसे प्रशंसा करने के योग्य हैं, पूजने योग्य हैं । इसका दूसरा अर्थ ऐसा भी होता है कि रक्त अर्थात् रागरूप

विशाल जिनके नयन अर रक्तोत्पल जिनके चरण ।

त्रिविध नम उन वीर को मैं शील गुण वर्णन करूँ ॥१॥

आत्मा का भाव, उत्पल अर्थात् दूर करने में कोमल अर्थात् कठोरतादि दोष रहित और सम अर्थात् रागद्वेष रहित, पाद अर्थात् जिनके वाणी के पद हैं, जिनके वचन कोमल हितमित मधुर राग द्वेषरहित प्रवर्तते हैं, उनसे सबका कल्याण होता है।

भावार्थ – इसप्रकार वर्द्धमान स्वामी को नमस्काररूप मंगल करके आचार्य ने शीलपाहुड ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा की है ॥१॥

आगे शील का रूप तथा इससे (ज्ञान) गुण होता है, वह कहते हैं –

शीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्धो ।

णवरि य शीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥२॥

शीलस्य च ज्ञानस्य च नास्ति विरोधो बुधैः निर्दिष्टः ।

केवलं च शीलेन विना विषयाः ज्ञानं विनाशयंति ॥२॥

अर्थ – शील के और ज्ञान के ज्ञानियों ने विरोध नहीं कहा है। ऐसा नहीं है कि जहाँ शील हो वहाँ ज्ञान न हो और ज्ञान हो वहाँ शील न हो। यहाँ णवरि अर्थात् विशेष है वह कहते हैं – शील के बिना विषय अर्थात् इन्द्रियों के विषय हैं वह ज्ञान को नष्ट करते हैं—ज्ञान को मिथ्यात्व रागद्वेषमय अज्ञानरूप करते हैं।

यहाँ ऐसा जानना कि शील नाम स्वभाव का प्रकृति का प्रसिद्ध है, आत्मा का सामान्यरूप से ज्ञान स्वभाव है। इस ज्ञानस्वभाव में अनादि कर्मसंयोग से (पर संग करने की प्रवृत्ति से) मिथ्यात्व रागद्वेषरूप परिणाम होता है इसलिए यह ज्ञान की प्रकृति कुशील नाम को प्राप्त करती है इससे संसार बनता है, इसलिए इसको संसार प्रकृति कहते हैं, इस प्रकृति को अज्ञानरूप कहते हैं, इस कुशील-प्रकृति से संसार पर्याय में अपनत्व मानता है तथा परद्रव्यों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि करता है।

यह प्रकृति पलटे तब मिथ्यात्व का अभाव कहा जाय, तब फिर न संसार पर्याय में अपनत्व मानता है, न परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती है और (पद-अनुसार अर्थात्) इस भाव की पूर्णता न हो तबतक चारित्रमोह के उदय से (उदय में युक्त होने से) कुछ रागद्वेष कषाय परिणाम उत्पन्न होते हैं उनको कर्म का उदय जाने, उन भावों को त्यागने योग्य जाने, त्यागना चाहे ऐसी प्रकृति हो तब सम्यग्दर्शनरूप भाव कहते हैं, इस सम्यग्दर्शन भाव से ज्ञान भी सम्यक् नाम पाता है

शील एवं ज्ञान में कुछ भी विरोध नहीं कहा।

शील बिन तो विषयविष से ज्ञानधन का नाश हो ॥२॥

और पद के अनुसार चारित्र की प्रवृत्ति होती है जितने अंश रागद्वेष घटता है उतने अंश चारित्र कहते हैं ऐसी प्रकृति को सुशील कहते हैं, इसप्रकार कुशील व सुशील शब्द का सामान्य अर्थ है।

सामान्यरूप से विचारे तो ज्ञान ही कुशील है और ज्ञान ही सुशील है, इसलिए इसप्रकार कहा है कि ज्ञान के और शील के विरोध नहीं है, जब संसार प्रकृति पलट कर मोक्ष सन्मुख प्रकृति हो तब सुशील कहते हैं, इसलिए ज्ञान में और शील में विशेष नहीं कहा है यदि ज्ञान में सुशील न आवे तो ज्ञान को इन्द्रियों के विषय नष्ट करते हैं, ज्ञान को अज्ञान करते हैं तब कुशील नाम पाता है।

यहाँ कोई पूछे - गाथा में ज्ञान अज्ञान का तथा सुशील कुशील का नाम तो नहीं कहा, ज्ञान और शील ऐसा ही कहा है इसका समाधान - पहिले गाथा में ऐसी प्रतिज्ञा की है कि मैं शील के गुणों को कहूँगा अतः इसप्रकार जाना जाता है कि आचार्य के आशय में सुशील ही के कहने का प्रयोजन है, सुशील ही को शीलनाम से कहते हैं, शील बिना कुशील कहते हैं।

यहाँ गुणशब्द उपकारवाचक लेना तथा विशेषवाचक लेना, शील से उपकार होता है तथा शील के विशेष गुण हैं वह कहेंगे। इसप्रकार ज्ञान में जो शील न आवे तो कुशील होता है, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति होती है तब वह ज्ञान नाम नहीं प्राप्त करता, इसप्रकार जानना चाहिए। व्यवहार में शील का अर्थ स्त्री संसर्ग वर्जन करने का भी है, अतः विषय-सेवन का ही निषेध है। परद्रव्यमात्र का संसर्ग छोड़ना, आत्मा में लीन होना वह परमब्रह्मचर्य है। इसप्रकार ये शील ही के नामान्तर जानना ॥२॥

आगे कहते हैं कि ज्ञान होने पर भी ज्ञान की भावना करना और विषयों से विरक्त होना कठिन है (दुर्लभ है) -

१दुःखे णज्जदि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुःखं ।

भावियमई व जीवो विसयेसु विरज्जे दुःखं ॥३॥

१दुःखेनेयते ज्ञानं ज्ञानं ज्ञात्वा भावना दुःखम् ।

भावितमतिश्च जीवः विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥३॥

अर्थ - प्रथम तो ज्ञान ही दुःख से प्राप्त होता है, कदाचित् ज्ञान भी प्राप्त करे तो उसको

१. पाठान्तरः - दुःखे णज्जदि । २. पाठान्तरः - दुःखेन ज्ञायते ।

बड़ा दुष्कर जानना अर जानने की भावना।

एवं विरक्ति विषय से भी बड़ी दुष्कर जानना ॥३॥

जानकर उसकी भावना करना, बारंबार अनुभव करना दुःख से (दृढ़तर सम्यक् पुरुषार्थ से) होता है और कदाचित् ज्ञान की भावनासहित भी जीव हो जावे तो विषयों को दुःख से त्यागता है।

भावार्थ – ज्ञान की प्राप्ति करना, फिर उसकी भावना करना, फिर विषयों का त्याग करना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं और विषयों का त्याग किये बिना प्रकृति पलटी नहीं जाती है इसलिए पहिले ऐसा कहा है कि विषय ज्ञान को बिगाड़ते हैं, अतः विषयों को त्यागना ही सुशील है ॥३॥

आगे कहते हैं कि यह जीव जबतक विषयों में प्रवर्तता है तबतक ज्ञान को नहीं जानता है और ज्ञान को जाने बिना विषयों से विरक्त हो तो भी कर्मों का क्षय नहीं करता है –

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो ।

विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं ॥४॥

तावत् न जानाति ज्ञानं विषयबलः यावत् वर्त्तते जीवः ।

विषये विरक्तमात्रः न क्षिपते पुरातनं कर्म ॥४॥

अर्थ – जबतक यह जीव विषयबल अर्थात् विषयों के वशीभूत रहता है, तबतक ज्ञान को नहीं जानता है और ज्ञान को जाने बिना केवल विषयों में विरक्तमात्र ही से पहिले बाँधे हुए कर्मों का क्षय नहीं करता है।

भावार्थ – जीव का उपयोग क्रमवर्ती है और स्वस्थ (स्वच्छत्व) स्वभाव है, अतः जैसे ज्ञेय को जानता है, उससमय उससे तन्मय होकर वर्तता है, अतः जबतक विषयों में आसक्त होकर वर्तता है, तबतक ज्ञान का अनुभव नहीं होता है, इष्ट अनिष्ट भाव ही रहते हैं और ज्ञान का अनुभव किये बिना कदाचित् विषयों को त्यागे तो वर्तमान विषयों को छोड़े, परन्तु पूर्व कर्म बाँधे थे उनका तो ज्ञान का अनुभव किये बिना क्षय नहीं होता है, पूर्व कर्म के बंध का क्षय करने में (स्वसन्मुख) ज्ञान ही का सामर्थ्य है इसलिए ज्ञानसहित होकर विषय त्यागना श्रेष्ठ है, विषयों को त्यागकर ज्ञान की ही भावना करना यही सुशील है ॥४॥

आगे ज्ञान का, लिंगग्रहण का तथा तप का अनुक्रम कहते हैं –

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्रहणं च दंसणविहूणं ।

संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व ॥५॥

विषय बल हो जबतलक तबतलक आतमज्ञान ना ।

केवल विषय की विरक्ति से कर्म का हो नाश ना ॥४॥

दर्शन रहित यदि वेष हो चारित्र विरहित ज्ञान हो ।

संयम रहित तप निरर्थक आकास-कुसुम समान हो ॥५॥

ज्ञानं चारित्रहीनं लिंगग्रहणं च दर्शनविहीनं ।
संयमहीनं च तपः यदि चरति निरर्थकं सर्वम् ॥५॥

अर्थ – ज्ञान यदि चारित्ररहित हो तो वह निरर्थक है और लिंग का ग्रहण यदि दर्शनरहित हो तो वह भी निरर्थक है तथा संयमरहित तप भी निरर्थक है इसप्रकार ये आचरण करे तो सब निरर्थक है ।

भावार्थ – हेय उपादेय का ज्ञान तो हो और त्याग ग्रहण न करे तो ज्ञान निष्फल है, यथार्थ श्रद्धान के बिना भेष ले तो वह भी निष्फल है (स्वात्मानुभूति के बल द्वारा) इन्द्रियों को वश में करना, जीवों की दया करना यह संयम है इसके बिना कुछ तप करे तो अहिंसादिक विपर्यय हो तब तप भी निष्फल हो इसप्रकार से इनका आचरण निष्फल होता है ॥५॥

आगे इसीलिए कहते हैं कि ऐसा करके थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है –

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्रहणं च दंसणविसुद्धं ।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥६॥

ज्ञान चारित्रशुद्धं लिंगग्रहणं च दर्शनविशुद्धम् ।
संयमसहितं च तपः स्तोकमपि महाफलं भवति ॥६॥

अर्थ – ज्ञान तो चारित्र से शुद्ध और लिंग का ग्रहण दर्शन से शुद्ध तथा संयम सहित तप ऐसे थोड़ा भी आचरण करे तो महाफलरूप होता है ।

भावार्थ – ज्ञान थोड़ा भी हो और आचरण शुद्ध करे तो बड़ा फल हो और यथार्थ श्रद्धापूर्वक भेष ले तो बड़ा फल करे जैसे सम्यग्दर्शनसहित श्रावक ही हो तो श्रेष्ठ और उसके बिना मुनि का भेष भी श्रेष्ठ नहीं है, इन्द्रियसंयम प्राणीसंयम सहित उपवासादिक तप थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है और विषयाभिलाष तथा दयारहित बड़े कष्ट सहित तप करे तो भी फल नहीं होता है, ऐसे जानना ॥६॥

आगे कहते हैं कि यदि कोई ज्ञान को जानकर भी विषयासक्त रहते हैं वे संसार ही में भ्रमण करते हैं –

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता ।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥७॥

दर्शन सहित हो वेश चारित्र शुद्ध सम्यग्ज्ञान हो ।
संयम सहित तप अल्प भी हो तदपि सुफल महान हो ॥६॥

ज्ञानं ज्ञात्वा नराः केचित् विषयादिभावसंसक्ताः ।

हिंडंते चतुर्गतिं विषयेषु विमोहितां मूढाः ॥७॥

अर्थ – कई मूढ़ मोही पुरुष ज्ञान को जानकर भी विषयरूप भावों में आसक्त होते हुए चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करते हैं, क्योंकि विषयों से विमोहित होने पर ये फिर भी जगत में प्राप्त होंगे इसमें भी विषय कषायों का ही संस्कार है ।

भावार्थ – ज्ञान प्राप्त करके विषय कषाय छोड़ना अच्छा है, नहीं तो ज्ञान भी अज्ञानतुल्य ही है ॥७॥

आगे कहते हैं कि जब ज्ञान प्राप्त करके इसप्रकार करे तब संसार कटे –

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा ।

छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥८॥

ये पुनः विषयविरक्ताः ज्ञानं ज्ञात्वा भावनासहिताः ।

छिन्दन्ति चतुर्गतिं तपोगुणयुक्ताः न संदेहः ॥८॥

अर्थ – जो ज्ञान को जानकर और विषयों से विरक्त होकर उस ज्ञान की बारबार अनुभवरूप भावनासहित होते हैं वे तप और गुण अर्थात् मूलगुण उत्तरगुणयुक्त होकर चतुर्गतिरूप संसार को छेदते हैं, काटते हैं, इसमें संदेह नहीं है ।

भावार्थ – ज्ञान प्राप्त करके विषय कषाय छोड़कर ज्ञान की भावना करे, मूलगुण उत्तरगुण ग्रहण करके तप करे वह संसार का अभाव करके मुक्तिरूप निर्मलदशा को प्राप्त होता है – यह शीलसहित ज्ञानरूप मार्ग है ।

आगे इसप्रकार शीलसहित ज्ञान से जीव शुद्ध होता है उसका दृष्टान्त कहते हैं –

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण ।

तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण ॥९॥

ज्ञान हो पर विषय में हों लीन जो नर जगत में ।

रे विषयरत वे मूढ़ डोलें चार गति में निरन्तर ॥७॥

जानने की भावना से जान निज को विरत हों ।

रे वे तपस्वी चार गति को छेदते संदेह ना ॥८॥

जिसतरह कंचन शुद्ध हो खड़िया-नमक के लेप से ।

बस उसतरह हो जीव निर्मल ज्ञान जल के लेप से ॥९॥

यथा कांचनं विशुद्धं धमत् खटिकालघणलेपेन ।

तथा जीवोऽपि विशुद्धः ज्ञानविसलिलेनं विमलेन ॥१॥

अर्थ – जैसे कांचन अर्थात् सुवर्ण खडिय अर्थात् सुहागा (खड़िया क्षार) और नमक के लेप से विशुद्ध निर्मल कांतियुक्त होता है, वैसे ही जीव भी विषयकषायों के मलरहित निर्मल ज्ञानरूप जल से प्रक्षालित होकर कर्मरहित विशुद्ध होता है ।

भावार्थ – ज्ञान आत्मा का प्रधान गुण है, परन्तु मिथ्यात्व विषयों से मलिन है इसलिए मिथ्यात्व-विषयरूप मल को दूर करके इसकी भावना करे इसका एकाग्रता से ध्यान करे तो कर्मों का नाश करे, अनन्तचतुष्टय प्राप्त करके मुक्त होकर शुद्धात्मा होता है, यहाँ सुवर्ण का तो दृष्टान्त है वह जानना ॥१॥

आगे कहते हैं कि जो ज्ञान पाकर विषयासक्त होता है वह ज्ञान का दोष नहीं है, कुपुरुष का दोष है –

णाणस्स णत्थि दोसो कुप्पुरिसाणं वि मंदबुद्धीणं ।

जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति ॥१०॥

ज्ञानस्य नास्ति दोषः कापुरुषस्यापि मंदबुद्धेः ।

ये ज्ञानगर्विताः भूत्वा विषयेषु रज्जन्ति ॥१०॥

अर्थ – जो पुरुष ज्ञानगर्वित होकर ज्ञानमद से विषयों में रंजित होते हैं सो यह ज्ञान का ही दोष नहीं है वे मंदबुद्धि कुपुरुष हैं, उनका दोष है ।

भावार्थ – कोई जाने कि ज्ञान से बहुत पदार्थों को जाने तब विषयों में रंजायमान होता है सो यह ज्ञान का दोष है, यहाँ आचार्य कहते हैं कि ऐसे मत जानो, ज्ञान प्राप्त करके विषयों में रंजायमान होता है सो यह ज्ञान का दोष नहीं है, यह पुरुष मंदबुद्धि है और कुपुरुष है उसका दोष है, पुरुष का होनहार खोटा होता है तब बुद्धि बिगड़ जाती है फिर ज्ञान को प्राप्त कर उसके मद में मस्त हो विषयकषायों में आसक्त हो जाता है तो यह दोष-अपराध पुरुष का है, ज्ञान का नहीं है । ज्ञान का कार्य तो वस्तु को जैसी हो वैसी बता देना ही है, पीछे प्रवर्तना तो पुरुष का कार्य है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१०॥

हो ज्ञानगर्भित विषयसुख में रमें जो जन योग से ।

उस मंदबुद्धि कापुरुष के ज्ञान का कुछ दोष ना ॥१०॥

आगे कहते हैं कि पुरुष को इसप्रकार निर्वाण होता है -

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिण्ण सम्मसहिण्ण ।
 होहदि परिणिव्वाणं जीवाण चरित्तसुद्धाणं ॥११॥
 ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन ।
 भविष्यति परिनिर्वाणं जीवानां चारित्रशुद्धानाम् ॥११॥

अर्थ - ज्ञान दर्शन तप इनका सम्यक्त्व भावसहित आचरण हो तब चारित्र से शुद्ध जीवों को निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

भावार्थ - सम्यक्त्व सहित ज्ञान दर्शन तप का आचरण करे तब चारित्र शुद्ध होकर राग-द्वेषभाव मिट जावे तब निर्वाण होता है, यह मार्ग है ॥११॥ (तप=शुद्धोपयोगरूप मुनिपना, यह हो तो २२ प्रकार व्यवहार के भेद हैं ।)

आगे इसी को शील की मुख्यता द्वारा नियम से निर्वाण कहते हैं -

शीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं ।
 अत्थि धुवं णिव्वाणं विसण्णसु विरत्तचित्ताणं ॥१२॥
 शीलं रक्षतां दर्शनशुद्धानां दृढचारित्राणाम् ।
 अस्ति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ॥१२॥

अर्थ - जिन पुरुषों का चित्त विषयों से विरक्त है, शील की रक्षा करते हैं, दर्शन से शुद्ध हैं और जिनका चारित्र दृढ़ है ऐसे पुरुषों को ध्रुव अर्थात् निश्चय से-नियम से निर्वाण होता है ।

भावार्थ - विषयों से विरक्त होना ही शील की रक्षा है, इसप्रकार से जो शील की रक्षा करते हैं, उन ही के सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है और चारित्र अतिचाररहित शुद्ध-दृढ़ होता है ऐसे पुरुषों को नियम से निर्वाण होता है । जो विषयों में आसक्त हैं, उनके शील बिगड़ता है तब दर्शन शुद्ध न होकर चारित्र शिथिल हो जाता है, तब निर्वाण भी नहीं होता है, इसप्रकार निर्वाण मार्ग में शील ही प्रधान है ॥१२॥

जब ज्ञान, दर्शन, चरण, तप सम्यक्त्व से संयुक्त हो।
 तब आत्मा चारित्र से प्राप्ति करे निर्वाण की ॥११॥
 शील रक्षण शुद्ध दर्शन चरण विषयों से विरत।
 जो आत्मा वे नियम से प्राप्ति करें निर्वाण की ॥१२॥

आगे कहते हैं कि कदाचित् कोई विषयों से विरक्त न हुआ और 'मार्ग' विषयों से विरक्त होनेरूप ही कहता है उसको मार्ग की प्राप्ति होती भी है, परन्तु जो विषय सेवन को ही 'मार्ग' कहता है, तो उसका ज्ञान भी निरर्थक है -

विसणसु मोहिदाणं कहियं मगं पि इट्टदरिसीणं ।

उम्मगं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं ॥१३॥

विषयेषु मोहितानां कथितो मार्गोऽपि इष्टदर्शनां ।

उन्मार्गं दर्शनां ज्ञानमपि निरर्थकं तेषाम् ॥१३॥

अर्थ - जो पुरुष इष्ट मार्ग को दिखानेवाले ज्ञानी हैं और विषयों से विमोहित हैं तो भी उनको मार्ग की प्राप्ति कही है, परन्तु जो उन्मार्ग को दिखानेवाले हैं उनकी तो ज्ञान की प्राप्ति भी निरर्थक है ।

भावार्थ - पहिले कहा था कि ज्ञान और शील के विरोध नहीं है और यह विशेष है कि ज्ञान हो और विषयासक्त होकर ज्ञान बिगड़े तब शील नहीं है । अब यहाँ इसप्रकार कहा है कि ज्ञान प्राप्त करके कदाचित् चारित्रमोह के उदय से (उदयवश) विषय न छूटे वहाँ तक तो उनमें विमोहित रहे और मार्ग की प्ररूपणा विषयों के त्यागरूप ही करे उसको तो मार्ग की प्राप्ति होती भी है, परन्तु जो मार्ग ही को कुमार्गरूप प्ररूपण करे विषय-सेवन को सुमार्ग बतावे तो उसकी तो ज्ञान-प्राप्ति भी निरर्थक ही है, ज्ञान प्राप्त करके भी मिथ्यामार्ग प्ररूपे उसके ज्ञान कैसा ? वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है ।

यहाँ यह आशय सूचित होता है कि सम्यक्त्वसहित अविरत सम्यग्दृष्टि तो अच्छा है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि कुमार्ग की प्ररूपणा नहीं करता है, अपने को (चारित्रदोष से) चारित्रमोह का उदय प्रबल हो तबतक विषय नहीं छूटते हैं इसलिए अविरत है परन्तु जो सम्यग्दृष्टि नहीं है और ज्ञान भी बड़ा हो, कुछ आचरण भी करे, विषय भी छोड़े और कुमार्ग का प्ररूपण करे तो वह अच्छा नहीं है, उसका ज्ञान और विषय छोड़ना निरर्थक है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१३॥

आगे कहते हैं कि जो उन्मार्ग के प्ररूपण करनेवाले कुमत-कुशास्त्र की प्रशंसा करते हैं, वे बहुत शास्त्र जानते हैं तो भी शीलव्रतज्ञान से रहित हैं, उनके आराधना नहीं है -

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।

शीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ॥१४॥

सन्मार्गदर्शी ज्ञानि तो है सुज्ञ यद्यपि विषयरत ।

किन्तु जो उन्मार्गदर्शी ज्ञान उनका व्यर्थ है ॥१३॥

कुमतकुश्रुतप्रशंसकाः जानंतो बहुविधानि शास्त्राणि ।

शीलव्रतज्ञानरहिता न स्फुटं ते आराधका भवन्ति ॥१४॥

अर्थ – जो बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं और कुमत कुशास्त्र की प्रशंसा करनेवाले हैं वे शीलव्रत और ज्ञान रहित हैं, वे इनके आराधक नहीं हैं ।

भावार्थ – जो बहुत शास्त्रों को जानकर ज्ञान तो बहुत रखते हैं और कुमत कुशास्त्रों की प्रशंसा करते हैं तो जानो कि इनके कुमत से और कुशास्त्र से राग है प्रीति है तब उनकी प्रशंसा करते हैं – ये तो मिथ्यात्व के चिह्न हैं, जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ ज्ञान भी मिथ्या है और विषय-कषायों से रहित होने को शील कहते हैं वह भी उसके नहीं है, व्रत भी उसके नहीं है, कदाचित् कोई व्रताचरण करता है तो भी मिथ्याचारित्ररूप है, इसलिए दर्शन ज्ञान चारित्र का आराधनेवाला नहीं है, मिथ्यादृष्टि है ॥१४॥

आगे कहते हैं कि यदि रूप सुन्दरादिक सामग्री प्राप्त करे और शील रहित हो तो उसका मनुष्य जन्म निरर्थक है –

रूपसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं ।

शीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म ॥१५॥

रूपश्रीगर्वितानां यौवनलावण्यकांतिकलितानाम् ।

शीलगुणवर्जितानां निरर्थकं मानुषं जन्म ॥१५॥

अर्थ – जो पुरुष यौवन अवस्था सहित हैं और बहुतों को प्रिय लगते हैं ऐसे लावण्य सहित हैं, शरीर की कांति-प्रभा से मंडित है और सुन्दर रूप लक्ष्मी संपदा से गर्वित हैं, मदोन्मत्त हैं, परन्तु वे यदि शील और गुणों से रहित हैं तो उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है ।

भावार्थ – मनुष्य जन्म प्राप्त करके शीलरहित हैं, विषयों में आसक्त रहते हैं, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गुणों से रहित हैं और यौवन अवस्था में शरीर की लावण्यता कांतिरूप सुन्दर धन, संपदा प्राप्त करके इनके गर्व से मदोन्मत्त रहते हैं तो उन्होंने मनुष्य जन्म निष्फल खोया, मनुष्य जन्म में

यद्यपि बहुशास्त्र जाने कुमत कुश्रुत प्रशंसक ।

रे शीलव्रत से रहित हैं वे आत्म-आराधक नहीं ॥१४॥

रूप यौवन कान्ति अर लावण्य से सम्पन्न जो ।

पर शीलगुण से रहित हैं तो निरर्थक मानुष जनम ॥१५॥

सम्यग्दर्शनादिक का अंगीकार करना और शील संयम पालना योग्य था वह तो अंगीकार किया नहीं तब मनुष्यजन्म निष्फल ही गया ।

ऐसा भी बताया है कि पहिली गाथा में कुमत्-कुशास्त्र की प्रशंसा करनेवाले का ज्ञान निरर्थक कहा था वैसे ही यहाँ रूपादिक का मद करे तो यह भी मिथ्यात्व का चिह्न है, जो मद करे उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना तथा लक्ष्मी रूप यौवन कांति से मंडित हो और शीलरहित व्यभिचारी हो तो उसकी लोक में निंदा ही होती है ॥१५॥

आगे कहते हैं कि बहुत शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी शील ही उत्तम है -

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थे सु ।

वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं शीलं ॥१६॥

व्याकरणछन्दोवैशेषिकव्यवहारन्यायशास्त्रेषु ।

विदित्वा श्रुतेषु च तेषु श्रुतं उत्तमं शीलम् ॥१६॥

अर्थ - व्याकरण छंद वैशेषिक व्यवहार न्यायशास्त्र ये शास्त्र और श्रुत अर्थात् जिनागम इनमें उन व्याकरणादिक को और श्रुत अर्थात् जिनागम को जानकर भी इनमें शील हो वही उत्तम है ।

भावार्थ - व्याकरणादिक शास्त्र जाने और जिनागम को भी जाने तो भी उनमें शील ही उत्तम है । शास्त्रों को जानकर भी विषयों में ही आसक्त है तो उन शास्त्रों का जानना वृथा है, उत्तम नहीं है ॥१६॥

आगे कहते हैं कि जो शील गुण से मंडित हैं, वे देवों के भी वल्लभ हैं -

शीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति ।

सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥१७॥

शीलगुणमंडितानां देवा भव्यानां वल्लभा भवन्ति ।

श्रुतपारगप्रचुराः नं दुःशीला अल्पकाः लोके ॥१७॥

अर्थ - जो भव्यप्राणी शील और सम्यग्दर्शनादि गुण से मंडित हैं वह देवों के भी उनका देव

व्याकरण छन्दरु न्याय जिनश्रुत आदि से सम्पन्नता ।

हो किन्तु इनमें जान लो तुम परम उत्तम शील गुण ॥१६॥

शील गुण मण्डित पुरुष की देव भी सेवा करें ।

ना कोई पूछे शील विरहित शास्त्रपाठी जनों को ॥१७॥

भी वल्लभ होते हैं, उनकी सेवा देव भी करते हैं, जो श्रुतपारग अर्थात् शास्त्र के पार पहुँचे हैं, ग्यारह अंग तक पढ़े हैं, ऐसे बहुत हैं और उनमें कई शीलगुण से रहित हैं, दुःशील हैं, विषय-कषायों में आसक्त हैं वे तो लोक में 'अल्पका' अर्थात् न्यून हैं, वे मनुष्यों के भी प्रिय नहीं होते हैं तब देव कहाँ से सहायक हो ?

भावार्थ – शास्त्र बहुत जाने और विषयासक्त हो तो उसका कोई सहायक न हो, चोर और अन्यायी की लोक में कोई सहायता नहीं करता है, परन्तु शीलगुण से मंडित हो और ज्ञान थोड़ा भी हो तो उसके उपकारी सहायक देव भी होते हैं, तब मनुष्य तो सहायक होते ही हैं। शील गुणवाला सबका प्यारा होता है ॥१७॥

आगे कहते हैं कि जिनके शील है सुशील हैं उनका मनुष्यभव में जीना सफल है अच्छा है –

सव्वे वि य परिहीणा रूवणिरूवा वि पडिदसुवया वि ।

शीलं जेसु सुशीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ॥१८॥

सर्वेऽपि च परिहीनाः रूपविरूपा अपि पतितसुवयसोऽसि ।

शीलं येषु सुशीलं संजीविदं मानुष्यं तेषाम् ॥१८॥

अर्थ – जो सब प्राणियों में हीन हैं, कुलादिक से न्यून हैं और रूप से विरूप हैं, सुन्दर नहीं हैं, 'पतितसुवयसः' अर्थात् अवस्था से सुन्दर नहीं है, वृद्ध हो गये हैं, परन्तु जिनमें शील सुशील है, स्वभाव उत्तम है, कषायादिक की तीव्र आसक्तता नहीं है उनका मनुष्यपना सुजीवित है, जीना अच्छा है।

भावार्थ – लोक में सब सामग्री से जो न्यून हैं, परन्तु स्वभाव उत्तम है, विषय-कषायों में आसक्त नहीं हैं तो वे उत्तम ही हैं, उनका मनुष्यभव सफल है, उनका जीवन प्रशंसा के योग्य है ॥१८॥

आगे कहते हैं कि जितने भी भले कार्य हैं वे सब शील के परिवार हैं –

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे ।

सम्मदंसण णाणं तओ य शीलस्स परिवारो ॥१९॥

हों हीन कुल सुन्दर न हों सब प्राणियों से हीन हों।

हों वृद्ध किन्तु सुशील हों नरभव उन्हीं का सफल है ॥१८॥

इन्द्रियों का दमन करुणा सत्य सम्यक् ज्ञान-तप।

अचौर्य ब्रह्मोपासना सब शील के परिवार हैं ॥१९॥

जीवदया दमः सत्यं अचौर्यं ब्रह्मचर्यसंतोषौ ।

सम्यग्दर्शनं ज्ञानं तपश्च शीलस्य परिवारः ॥१९॥

अर्थ – जीवदया, इन्द्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप – ये सब शील के परिवार हैं ।

भावार्थ – शील स्वभाव तथा प्रकृति का नाम प्रसिद्ध है । मिथ्यात्वसहित कषायरूप ज्ञान की परिणति तो दुःशील है इसको संसारप्रकृति कहते हैं, यह प्रकृति पलटे और सम्यक् प्रकृति हो वह सुशील है इसको मोक्षसन्मुख प्रकृति कहते हैं । ऐसे सुशील के 'जीवदयादिक' गाथा में कहे वे सब ही परिवार हैं, क्योंकि संसारप्रकृति पलटे तब संसारदेह से वैराग्य हो और मोक्ष से अनुराग हो तब ही सम्यग्दर्शनादिक परिणाम हों, फिर जितनी प्रकृति हो वह सब मोक्ष के सन्मुख हो, यही सुशील है । जिसके संसार का अंत आता है, उसके यह प्रकृति होती है और यह प्रकृति न हो तबतक संसारभ्रमण ही है, ऐसे जानना ॥१९॥

आगे शील ही तप आदिक हैं ऐसे शील की महिमा कहते हैं –

शीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।

शीलं विसयाण अरी शीलं मोक्खस्स सोवाणं ॥२०॥

शीलं तपः विशुद्धं दर्शनशुद्धिश्च ज्ञानशुद्धिश्च ।

शीलं विषयाणामरिः शीलं मोक्षस्य सोपानम् ॥२०॥

अर्थ – शील ही विशुद्ध निर्मल तप है, शील ही दर्शन की शुद्धता है, शील ही ज्ञान की शुद्धता है, शील ही विषयों का शत्रु है और शील ही मोक्ष की सीढ़ी है ।

भावार्थ – जीव-अजीव पदार्थों का ज्ञान करके उसमें से मिथ्यात्व और कषायों का अभाव करना यह सुशील है, यह आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह संसारप्रकृति मिटकर मोक्षसन्मुख प्रकृति हो तब इस शील ही के तप आदिक सब नाम हैं – निर्मल तप, शुद्ध दर्शन ज्ञान, विषय-कषायों का मेटना, मोक्ष की सीढ़ी – ये सब शील के नाम के अर्थ हैं, ऐसे शील के माहात्म्य का वर्णन किया है और यह केवल महिमा ही नहीं है, इन सब भावों के अविनाभावीपना बताया है ॥२०॥

आगे कहते हैं कि विषयरूप विष महा प्रबल है –

शील दर्शन-ज्ञान शुद्धि शील विषयों का रिपू ।

शील निर्मल तप अहो यह शील सीढ़ी मोक्ष की ॥२०॥

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं ।
 सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥२१॥
 यथा विषयलुब्धः विषदः तथा स्थावरजंगमान् घोरान् ।
 सर्वान् अपि विनाशयति विषयविषं दारुणं भवति ॥२१॥

अर्थ – जैसे विषय सेवनरूपी विष विषयलुब्ध जीवों को विष देनेवाला है वैसे ही घोर तीव्र स्थावर जंगम सब ही विष प्राणियों का विनाश करते हैं तथापि इन सब विषों में विषयों का विष उत्कृष्ट है, तीव्र है ।

भावार्थ – जैसे हस्ती, मीन, भ्रमर, पतंग आदि जीव विषयों में लुब्ध होकर विषयों के वश हो नष्ट होते हैं, वैसे ही स्थावर का विष मोहरा सोमल आदिक और जंगम का विष सर्प घोहरा आदिक का विष इन विषों से भी प्राणी मारे जाते हैं, परन्तु सब विषों में विषयों का विष अति ही तीव्र है ॥२१॥

आगे इसी का समर्थन करने के लिए विषयों के विष का तीव्रपना कहते हैं कि विष की वेदना से तो एकबार मरता है और विषयों से संसार में भ्रमण करता है –

वारि एक्कम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो ।
 विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकंतारे ॥२२॥
 वारे एकस्मिन् च जन्मनि गच्छेत् विषवेदनाहतः जीवः ।
 विषयविषपरिहता भ्रमंति संसारकांतारे ॥२२॥

अर्थ – विष की वेदना से नष्ट जीव तो एक जन्म में ही मरता है, परन्तु विषयरूप विष से नष्ट जीव अतिशयतया-बारबार संसाररूपी वन में भ्रमण करते हैं । (पुण्य की और राग की रुचि वही विषयबुद्धि है ।)

भावार्थ – अन्य सर्पादिक के विष से विषयों का विष प्रबल है, इनकी आसक्ति से ऐसा कर्मबंध होता है कि उससे बहुत जन्म मरण होते हैं ॥२२॥

हैं यद्यपि सब प्राणियों के प्राण घातक सभी विष ।
 किन्तु इन सब विषों में है महादारुण विषयविष ॥२१॥
 बस एक भव का नाश हो इस विषम विष के योग से ।
 पर विषयविष से ग्रसितजन चिरकाल भववन में भ्रमें ॥२२॥

आगे कहते हैं कि विषयों की आसक्ति से चतुर्गति में दुःख ही पाते हैं -

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणवेसु दुक्खाइं ।
 देवेसु वि दोहगं लहंति विसयासिया जीवा ॥२३॥
 नरकेषु वेदनाः तिर्यक्षु मानुषेषु दुःखानि ।
 देवेषु अपि दौर्भाग्यं लभंते विषयासक्ता जीवाः ॥२३॥

अर्थ - विषयों में आसक्त जीव नरक में अत्यंत वेदना पाते हैं, तिर्यचों में तथा मनुष्यों में दुःखों को पाते हैं और देवों में उत्पन्न हों तो वहाँ भी दुर्भाग्यपना पाते हैं, नीच देव होते हैं, इसप्रकार चारों गतियों में दुःख ही पाते हैं ।

भावार्थ - विषयासक्त जीवों को कहीं भी सुख नहीं है, परलोक में तो नरक आदिक के दुःख पाते ही हैं, परन्तु इस लोक में भी इनके सेवन करने में आपत्ति व कष्ट आते ही हैं तथा सेवन से आकुलता; दुःख ही है, यह जीव भ्रम से सुख मानता है, सत्यार्थ ज्ञानी तो विरक्त ही होता है ॥२३॥

आगे कहते हैं कि विषयों को छोड़ने से कुछ भी हानि नहीं है -

तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि ।
 तवशीलमंत कुसली खवंति विसयं विस व खलं ॥२४॥
 तुषधमद्बलेन च यथा द्रव्यं न हि नराणां गच्छति ।
 तपः शीलमंतः कुशलाः क्षिपंते विषयं विषमिव खलं ॥२४॥

अर्थ - जैसे तुषों के चलाने से, उड़ाने से मनुष्य का कुछ द्रव्य नहीं जाता है वैसे ही तपस्वी और शीलवान् पुरुष विषयों को खल की तरह क्षेपते हैं, दूर फेंक देते हैं ।

भावार्थ - जो ज्ञानी तप शील सहित हैं उनके इन्द्रियों के विषय खल की तरह हैं, जैसे ईख का रस निकाल लेने के बाद खल नीरस हो जाते हैं तब वे फेंक देने के योग्य ही हैं, वैसे ही विषयों को जानना, रस था वह तो ज्ञानियों ने जान लिया तब विषय तो खल के समान रहे, उनके त्यागने

अरे विषयासक्त जन नर और तिर्यग् योनि में ।
 दुःख सहें यद्यपि देव हों पर दुःखी हों दुर्भाग्य से ॥२३॥
 अरे कुछ जाता नहीं तुष उड़ाने से जिसतरह ।
 विषय सुख को उड़ाने से शीलगुण उड़ता नहीं ॥२४॥

में क्या हानि ? अर्थात् कुछ भी नहीं है। उन ज्ञानियों को धन्य है जो विषयों को ज्ञेयमात्र जानकर आसक्त नहीं होते हैं।

जो आसक्त होते हैं, वे तो अज्ञानी ही हैं, क्योंकि विषय तो जड़पदार्थ हैं, सुख तो उनको जानने से ज्ञान में ही था, अज्ञानी ने आसक्त होकर विषयों में सुख माना। जैसे श्वान सूखी हड्डी चबाता है तब हड्डी की नोक मुख के तलवे में चुभती है, इससे तालवा फट जाता है और उसमें से खून बहने लगता है तब अज्ञानी श्वान जानता है कि यह रस हड्डी में से निकला है और उस हड्डी को बारबार चबाकर सुख मानता है, वैसे ही अज्ञानी विषयों में सुख मानकर बारबार भोगता है, परन्तु ज्ञानियों ने अपने ज्ञान ही में सुख जाना है, उनको विषयों के त्याग में दुःख नहीं है, ऐसे जानना ॥२४॥

आगे कहते हैं कि कोई प्राणी शरीर के सब अवयव सुन्दर प्राप्त करता है तो भी सब अंगों में शील ही उत्तम है -

*वट्टेसु य खंडेसु य भद्रेसु य विसालेसु अंगेसु ।
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं शीलं ॥२५॥

वृत्तेषु च खंडेषु च भद्रेषु च विशालेषु अंगेषु ।
अंगेषु च प्राप्तेषु च सर्वेषु च उत्तमं शीलं ॥२५॥

अर्थ - प्राणी के देह में कई अंग तो वृत्त अर्थात् गोल सुघट प्रशंसायोग्य होते हैं, कई अंग खंड अर्थात् अर्द्ध गोल सदृश प्रशंसा योग्य होते हैं, कई अंग भद्र अर्थात् सरल सीधे प्रशंसा योग्य होते हैं और कई अंग विशाल अर्थात् विस्तीर्ण चौड़े प्रशंसा योग्य होते हैं, इसप्रकार सब ही अंग यथास्थान सुन्दर पाते हुए भी सब अंगों में यह शील नाम का अंग ही उत्तम है, यह न हो तो सब ही अंग शोभा नहीं पाते हैं, यह प्रसिद्ध है।

भावार्थ - लोक में प्राणी सर्वांग सुन्दर हो, परन्तु दुःशील हो तो सब लोक द्वारा निंदा करने योग्य होता है, इसप्रकार लोक में भी शील ही की शोभा है तो मोक्ष में भी शील ही को प्रधान कहा है, जितने सम्यग्दर्शनादिक मोक्ष के अंग हैं, वे शील ही के परिवार हैं, ऐसा पहिले कह आये हैं ॥२५॥

आगे कहते हैं कि जो कुबुद्धि से मूढ़ हो गये हैं वे विषयों में आसक्त हैं, कुशील हैं, संसार में भ्रणम करते हैं -

* 'वट्टे' पाठान्तर।

गोल हों गोलाद्ध हों सुविशाल हों इस देह के ।
सब अंग किन्तु सभी में यह शील उत्तम अंग है ॥२५॥

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलैहिं ।
संसार भमिदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहिं ॥२६॥

पुरिषेणापि सहितेन कुसमयमूढैः विषयलोलैः ।
संसारे भ्रमितव्यं अरहटघरट्टं इव भूतैः ॥२६॥

अर्थ – जो कुसमय अर्थात् कुमत् से मूढ हैं वे ही अज्ञानी हैं और वे ही विषयों में लोलुपी हैं, आसक्त हैं, वे जैसे अरहट में घड़ी भ्रमण करती है वैसे ही संसार में भ्रमण करते हैं, उनके साथ अन्य पुरुषों के भी संसार में दुःखसहित भ्रमण होता है ।

भावार्थ – कुमती विषयासक्त मिथ्यादृष्टि आप तो विषयों को अच्छे मानकर सेवन करते हैं । कई कुमती ऐसे भी हैं जो इसप्रकार कहते हैं कि सुन्दर विषय सेवन करने से ब्रह्म प्रसन्न होता है (यह तो ब्रह्मानन्द है) यह परमेश्वर की बड़ी भक्ति है, ऐसा कहकर अत्यंत आसक्त होकर सेवन करते हैं । ऐसा ही उपदेश दूसरों को देकर विषयों में लगाते हैं, वे आप तो अरहट की घड़ी की तरह संसार में भ्रमण करते ही हैं, अनेकप्रकार के दुःख भोगते हैं, परन्तु अन्य पुरुषों को भी उनमें लगाकर भ्रमण कराते हैं इसलिए यह विषयसेवन दुःख ही के लिए है, दुःख ही का कारण है, ऐसा जानकर कुमतियों का प्रसंग न करना, विषयासक्तपना छोड़ना, इससे सुशीलपना होता है ॥२६॥

आगे कहते हैं कि जो कर्म की गांठ विषय सेवन करके आप ही बाँधी है उसको सत्पुरुष तपश्चरणादि करके आप ही काटते हैं –

आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा ँविसयरागरंगेहिं ।
तं छिन्दन्ति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥२७॥
आत्मनि कर्मग्रंथिः या बद्धा विषयरागरागैः ।
तां छिन्दन्ति कृतार्थाः तपः संयमशीलगुणेन ॥२७॥

अर्थ – जो विषयों के रागरंग करके आप ही कर्म की गांठ बाँधी है, उसको कृतार्थ पुरुष (उत्तम पुरुष) तप संयम शील के द्वारा प्राप्त हुआ जो गुण उनके द्वारा छेदते हैं, खोलते हैं ।

१. संस्कृत प्रति में – ‘विषयराय मोहेहि’ ऐसा पाठ है छाया में ‘विषय राग मोहै’ है ।

भव-भव भ्रमें अरहट घटीसम विषयलोलुप मूढजन ।
साथ में वे भी भ्रमें जो रहे उनके संग में ॥२६॥
इन्द्रिय विषय के संग पढ़ जो कर्म बाँधे स्वयं ही ।
सत्पुरुष उनको खपावे व्रत-शील-संयमभाव से ॥२७॥

भावार्थ – जो कोई आप गांठ घुलाकर बांधे उसको खोलने का विधान भी आप ही जाने, जैसे सुनार आदि कारीगर आभूषणादिक की संधि के टांका ऐसा झाले कि यह संधि अदृष्ट हो जाय तब उस संधि को टाँके का झालनेवाला ही पहिचानकर खोले वैसे ही आत्मा ने अपने ही रागादिक भावों से कर्मों की गांठ बाँधी है, उसको आप ही भेदविज्ञान करके रागादिक के और आप के जो भेद हैं उस संधि को पहिचानकर तप संयम शीलरूप भावरूप शस्त्रों के द्वारा उस कर्मबंध को काटता है, ऐसा जानकर जो कृतार्थ पुरुष हैं वे अपने प्रयोजन के करनेवाले हैं, वे इस शीलगुण को अंगीकार करके आत्मा को कर्म से भिन्न करते हैं, यह पुरुषार्थी पुरुषों का कार्य है ॥२७॥

आगे जो शील के द्वारा आत्मा शोभा पाता है उसको दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं -

उदधी व रदणभरिदो तवविणयंशीलदाणरयणाणं ।

सोहेंतो य ससीलो णिब्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥२८॥

उदधिरिव रत्नभृतः तपोविनयशीलदानरत्नानाम् ।

शोभते य सशीलः निर्वाणमनुत्तरं प्राप्तः ॥२८॥

अर्थ – जैसे समुद्र रत्नों से भरा है तो भी जलसहित शोभा पोता है वैसे ही यह आत्मा तप, विनय, शील, दान – इन रत्नों में शीलसहित शोभा पाता है क्योंकि जो शीलसहित हुआ उसने अनुत्तर अर्थात् जिससे आगे और नहीं है ऐसे निर्वाणपद को प्राप्त किया ।

भावार्थ – जैसे समुद्र में रत्न बहुत हैं तो भी जल ही से 'समुद्र' नाम को प्राप्त करता है वैसे ही आत्मा अन्य गुणसहित हो तो भी शील से निर्वाणपद को प्राप्त करता है, ऐसे जानना ॥२८॥

आगे जो शीलवान पुरुष हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं यह प्रसिद्ध करके दिखाते हैं -

सुणहाण गद्दहाण ण गोवसुमहिलाण दीसदे

म ा ँ क ख ा ँ ।

जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं ॥२९॥

शुनां गर्दभानां च गोपशुमहिलानां दृश्यते मोक्षः ।

ज्यों रत्नमंडित उदधि शोभे नीर से बस उसतरह ।

विनयादि हों पर आत्मा निर्वाण पाता शील से ॥२८॥

श्वान गर्दभ गाय पशु अर नारियों को मोक्ष ना ।

पुरुषार्थ चौथा मोक्ष तो बस पुरुष को ही प्राप्त हो ॥२९॥

ये शोधयन्ति चतुर्थं दृश्यतां जनैः सर्वैः ॥२९॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि यह सब लोग देखो- श्वान गर्दभ इनमें और गौ आदि पशु तथा स्त्री इनमें किसी को मोक्ष होना दीखता है क्या ? वह तो दीखता नहीं है। मोक्ष तो चौथा पुरुषार्थ है इसलिए जो चतुर्थ पुरुषार्थ को सोधते हैं, उन्हीं के मोक्ष का होना देखा जाता है।

भावार्थ – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – ये चार पुरुष के प्रयोजन कहे हैं यह प्रसिद्ध है, इसी से इनका नाम पुरुषार्थ है ऐसा प्रसिद्ध है। इसमें चौथा पुरुषार्थ मोक्ष है, उसको पुरुष ही सोधते हैं और पुरुष ही उसको हेरते हैं, उसकी सिद्धि करते हैं, अन्य श्वान गर्दभ बैल पशु स्त्री इनके मोक्ष का सोधना प्रसिद्ध नहीं है जो हो तो मोक्ष का पुरुषार्थ ऐसा नाम क्यों हो। यहाँ आशय ऐसा है कि मोक्ष शील से होता है, जो श्वान गर्दभ आदिक हैं वे तो अज्ञानी हैं, कुशीली हैं, उनका स्वभाव प्रकृति ही ऐसी है कि पलटकर मोक्ष होने योग्य तथा उसके सोधने योग्य नहीं है, इसलिए पुरुष को मोक्ष का साधन शील को जानकर अंगीकार करना, सम्यग्दर्शनादिक हैं वह तो शील ही के परिवार पहिले कहे ही हैं इसप्रकार जानना चाहिए ॥२९॥

आगे कहते हैं कि शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है, इसका उदाहरण कहते हैं –

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो ।

तो सो सच्चइपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥३०॥

यदि विषयलोलैः ज्ञानिभिः भवेत् साधितः मोक्षः ।

तर्हि सः सात्यकिपुत्रः दशपूर्विकः किं गतः नरकं ॥३०॥

अर्थ – जो विषयों में लोल अर्थात् लोलुप आसक्त और ज्ञानसहित, ऐसे ज्ञानियों ने मोक्ष साधा हो तो दशपूर्व को जाननेवाला रुद्र नरक को क्यों गया ?

भावार्थ – शुष्क कोरे ज्ञान ही से मोक्ष किसी ने साधा कहे तो दश पूर्व का पाठी रुद्र नरक क्यों गया ? इसलिए शील के बिना केवल ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है, रुद्र कुशील सेवन करनेवाला हुआ, मुनिपद से भ्रष्ट होकर कुशील सेवन किया इसलिए नरक में गया, यह कथा पुराणों में प्रसिद्ध है ॥३०॥

आगे कहते हैं कि शील के बिना ज्ञान से ही भाव की शुद्धता नहीं होती है –

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्धिदो ।

यदि विषयलोलुप ज्ञानियों को मोक्ष हो तो बताओ ।

दशपूर्वधारी सात्यकीसुत नरकगति में क्यों गया ॥३०॥

दसपुव्वियस्स भावो य ण किं पुणु णिम्मलो जादो ॥३१॥

यदि ज्ञानेन विशुद्धः शीलेन विना बुधैर्निर्दिष्टः ।

दशपूर्विकस्य भावः च न किं पुनः निर्मलः जातः ॥३१॥

अर्थ – जो शील के बिना ज्ञान ही से विसोह अर्थात् विशुद्ध भाव पंडितों ने कहा हो तो दश पूर्व को जाननेवाला जो रुद्र उसका भाव निर्मल क्यों नहीं हुआ, इसलिए ज्ञात होता है कि भाव निर्मल शील ही से होते हैं ।

भावार्थ – कोरा ज्ञान तो ज्ञेय को ही बताता है, इसलिए वह मिथ्यात्व कषाय होने पर विपर्यय हो जाता है, अतः मिथ्यात्व कषाय का मिटना ही शील है, इसप्रकार शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष की सिद्धि होती नहीं, शील के बिना मुनि भी हो जाय तो भ्रष्ट हो जाता है । इसलिए शील को प्रधान जानना ॥३१॥

आगे कहते हैं कि यदि नरक में भी शील हो जाय और विषयों में विरक्त हो जाय तो वहाँ से निकलकर तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है –

जाए विसयविरक्तो सो गमयदि णरयवेयणा पउरा ।

ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥३२॥

यः विषयविरक्तः सः गमयति नरकवेदनाः प्रचुराः ।

तत् लभते अर्हत्पदं भणितं जिनवर्द्धमानेन ॥३२॥

अर्थ – विषयों से विरक्त है सो जीव नरक की बहुत वेदना को भी गँवाता है वहाँ भी अति दुःखी नहीं होता है और वहाँ से निकलकर तीर्थंकर होता है ऐसा जिन वर्द्धमान भगवान् ने कहा है ।

भावार्थ – जिनसिद्धान्त में ऐसे कहा है कि तीसरी पृथ्वी से निकलकर तीर्थंकर होता है यह भी शील का माहात्म्य है । वहाँ सम्यक्त्व सहित होकर विषयों से विरक्त हुआ भली भावना भावे तब नरक वेदना भी अल्प हो जाती है और वहाँ से निकलकर अरहंतपद प्राप्त करके मोक्ष पाता है, ऐसा विषयों से विरक्तभाव वह शील का ही माहात्म्य जानो । सिद्धान्त में इसप्रकार कहा है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य की शक्ति नियम से होती है, वह वैराग्यशक्ति है वही शील का

यदि शील बिन भी ज्ञान निर्मल ज्ञानियों ने कहा तो ।

दशपूर्वधारी रुद्र का भी भाव निर्मल क्यों न हो ॥३१॥

यदि विषयविरक्त हो तो वेदना जो नरकगत ।

वह भूलकर जिनपद लहे यह बात जिनवर ने कही ॥३२॥

एकदेश है इसप्रकार जानना ॥३२॥

आगे इस कथन का संकोच करते हैं -

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरसीहिं ।

सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं य लोयणाणेहिं ॥३३॥

एवं बहुप्रकारं जिनैः प्रत्यक्षज्ञानदर्शिभिः ।

शीलेन च मोक्षपदं अक्षातीतं च लोकज्ञानैः ॥३३॥

अर्थ - एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार तथा अन्य प्रकार (बहुत प्रकार) जिनके प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन पाये जाते हैं और जिनके लोक अलोक का ज्ञान है ऐसे जिनदेव ने कहा है कि शील से-अक्षातीत जिसमें इन्द्रियरहित अतीन्द्रिय ज्ञान सुख है ऐसा मोक्षपद होता है ।

भावार्थ - सर्वज्ञदेव ने इसप्रकार कहा है कि शील से अतीन्द्रिय ज्ञान सुखरूप मोक्षपद प्राप्त होता है, अतः भव्यजीव इस शील को अंगीकार करो, ऐसा उपदेश का आशय सूचित होता है, बहुत कहाँ तक कहें इतना ही बहुत प्रकार से कहा जानो ॥३३॥

आगे कहते हैं कि इस शील से निर्वाण होता है उसका बहुतप्रकार से वर्णन है वह कैसे ?

सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं ।

जलणो वि पवणसहिदो डहंति पोरायणं कम्मं ॥३४॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनतपोवीर्यपंचाचाराः आत्मनाम् ।

ज्वलनोऽपि पवनसहितः दहंति पुरातनं कर्म ॥३४॥

अर्थ - सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप, वीर्य - ये पंच आचार हैं वे आत्मा का आश्रय पाकर पुरातन कर्मों को वैसे ही दग्ध करते हैं जैसे कि पवन सहित अग्नि पुराने सूखे ईंधन को दग्ध कर देती है ।

भावार्थ - यहाँ सम्यक्त्व आदि पंच आचार तो अग्निस्थानीय हैं और आत्मा के त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को शील कहते हैं, यह आत्मा का स्वभाव पवनस्थानीय है वह पंच आचाररूप अग्नि और शीलरूपी पवन की सहायता पाकर पुरातन कर्मबंध को दग्ध करके आत्मा को शुद्ध

अरे! जिसमें अतीन्द्रिय सुख ज्ञान का भण्डार है ।

वह मोक्ष केवल शील से हो प्राप्त - यह जिनवर कहें ॥३३॥

ये ज्ञान दर्शन वीर्य तप सम्यक्त्व पंचाचार मिल ।

जिम आग ईंधन जलावे तैसे जलावें कर्म को ॥३४॥

करता है, इसप्रकार शील ही प्रधान है। पाँच आचारों में चारित्र कहा है और यहाँ सम्यक्त्व कहने में चारित्र ही जानना, विरोध न जानना ॥३४॥

आगे कहते हैं कि ऐसे अष्टकर्मों को जिनने दग्ध किये वे सिद्ध हुए हैं -

णिद्दुद्धअट्टकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा ।

तवविणयशीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्ता ॥३५॥

निर्दग्धाष्टकर्माणः विषयविरक्ता जितेंद्रिया धीराः ।

तपोविनयशीलसहिताः सिद्धाः सिद्धिं गतिं प्राप्ताः ॥३५॥

अर्थ - जिन पुरुषों ने इन्द्रियों को जीत लिया है इसी से विषयों से विरक्त हो गये हैं और धीर हैं परीषहादि उपसर्ग आने पर चलायमान नहीं होते हैं, तप विनय शील सहित हैं वे अष्टकर्मों को दूर करके सिद्धगति जो मोक्ष उसको प्राप्त हो गये हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

भावार्थ - यहाँ भी जितेन्द्रिय और विषयविरक्तता ये विशेषण शील ही को प्रधानता से दिखाते हैं ॥३५॥

आगे कहते हैं कि जो लावण्य और शीलयुक्त हैं वे मुनि प्रशंसा के योग्य होते हैं -

लावण्यशीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स ।

सो सीलो स महप्पा भमिज्ज गुणवित्थरं भविए ॥३६॥

लावण्यशीलकुशलः जन्ममहीरुहः यस्य श्रमणस्य ।

सः शीलः स महात्मा भ्रमेत् गुणविस्तारः भव्ये ॥३६॥

अर्थ - जिस मुनि का जन्मरूप वृक्ष लावण्य अर्थात् अन्य को प्रिय लगता है ऐसा सर्व अंग सुन्दर तथा मन वचन काय की चेष्टा सुन्दर और शील अर्थात् अंतरंग, मिथ्यात्व विषय रहित परोपकारी स्वभाव - इन दोनों में प्रवीण निपुण हो वह मुनि शीलवान् है, महात्मा है, उसके गुणों का विस्तार लोक में भ्रमता है, फैलता है।

भावार्थ - ऐसे मुनि के गुण लोक में विस्तार को प्राप्त होते हैं, सर्वलोक के प्रशंसा योग्य होते

जो जितेन्द्रिय धीर विषय विरक्त तपसी शीलयुत ।

वे अष्ट कर्मों से रहित हो सिद्धगति को प्राप्त हों ॥३५॥

जिस श्रमण का यह जन्म तरु सर्वांग सुन्दर शीलयुत ।

उस महात्मन् श्रमण का यश जगत में है फैलता ॥३६॥

हैं, यहाँ भी शील ही की महिमा जानना और वृक्ष का स्वरूप कहा, जैसे वृक्ष के शाखा, पत्र, पुष्प, फल सुन्दर हों और छायादि करके रागद्वेष रहित सब लोक का समान उपकार करे उस वृक्ष की महिमा सब लोग करते हैं ऐसे ही मुनि भी ऐसा हो तो सबके द्वारा महिमा करने योग्य होता है ॥३६॥

आगे कहते हैं कि जो ऐसा हो वह जिनमार्ग में रत्नत्रय की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त होता है -

णाणं ज्ञाणं जोगो दंसणसुद्धीय वीरियायत्तं ।

सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोधिं ॥३७॥

ज्ञानं ध्यानं योगः दर्शनशुद्धिश्च वीर्यायत्ताः ।

सम्यक्त्वदर्शनेन च लभन्ते जिनशासने बोधिं ॥३७॥

अर्थ - ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता - ये तो वीर्य के आधीन हैं और सम्यग्दर्शन से जिनशासन में बोधि को प्राप्त करते हैं, रत्नत्रय की प्राप्ति होती है ।

भावार्थ - ज्ञान अर्थात् पदार्थों को विशेषरूप से जानना, ध्यान अर्थात् स्वरूप में एकाग्रचित्त होना, योग अर्थात् समाधि लगाना, सम्यग्दर्शन को निरतिचार शुद्ध करना - ये तो अपने वीर्य (शक्ति) के आधीन है, जितना बने उतना हो, परन्तु सम्यग्दर्शन से बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति होती है, इसके होने पर विशेष ध्यानादिक भी यथाशक्ति होते ही हैं और इससे शक्ति भी बढ़ती है । ऐसे कहने में भी शील ही का माहात्म्य जानना, रत्नत्रय है वही आत्मा का स्वभाव है, उसको शील भी कहते हैं ॥३७॥

आगे कहते हैं कि यह प्राप्ति जिनवचन से होती है -

जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्ता तवोधणा धीरा ।

सीलसलिलेण णहादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥३८॥

जिनवचनगृहीतसारा विषयविरक्ताः तपोधना धीराः ।

१. मुद्रित सं. प्रति में 'वीरियावत्तं' ऐसा पाठ है जिसकी छाया 'वीर्यत्व' है ।

ज्ञानध्यानरु योगदर्शन शक्ति के अनुसार हैं ।

पर रत्नत्रय की प्राप्ति तो सम्यक्त्व से ही जानना ॥३७॥

जो शील से सम्पन्न विषय विरक्त एवं धीर हैं ।

वे जिनवचन के सारग्राही सिद्ध सुख को प्राप्त हो ॥३८॥

शीलसलिलेन स्नाताः ते सिद्धालयसुखं यांति ॥३८॥

अर्थ – जिनने जिनवचनों से सार को ग्रहण कर लिया है और विषयों से विरक्त हो गये हैं, जिनके तप ही धन है तथा धीर हैं ऐसे होकर मुनि शीलरूप जल से स्नानकर शुद्ध हुए वे सिद्धालय, जो सिद्धों के रहने का स्थान उसके सुखों को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ – जो जिनवचन के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर उसका सार जो अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का ग्रहण करते हैं वे इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तप अंगीकार करते हैं—मुनि होते हैं धीर वीर बनकर परिषह उपसर्ग आने पर भी चलायमान नहीं होते हैं तब शील जो स्वरूप की प्राप्ति की पूर्णतारूप चौरासी लाख उत्तरगुण की पूर्णता वही हुआ निर्मल जल, उससे स्नान करके सब कर्ममल को धोकर सिद्ध हुए, वह मोक्षमंदिर में रहकर वहाँ परमानन्द अविनाशी अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख को भोगते हैं, यह शील का माहात्म्य है। ऐसा शील जिनवचन से प्राप्त होता है, जिनागम का निरन्तर अभ्यास करना उत्तम है ॥३८॥

आगे अंतसमय में सल्लेखना कही है, उसमें दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चार आराधना का उपदेश है ये भी शील ही से प्रगट होते हैं, उसको प्रगट करके कहते हैं –

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा ।

पप्फोडियकम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥३९॥

सर्वगुणक्षीणकर्माणः सुखदुःखविवर्जिताः मनोविशुद्धाः ।

प्रस्फोटितकर्मरजसः भवंति आराधनाप्रकटाः ॥३९॥

अर्थ – सर्वगुण जो मूलगुण उत्तरगुणों से जिसमें कर्म क्षीण हो गये हैं, सुख-दुःख से रहित हैं, जिसमें मन विशुद्ध है और जिसमें कर्मरूप रज को उड़ा दी है ऐसी आराधना प्रगट होती है।

भावार्थ – पहिले तो सम्यग्दर्शन सहित मूलगुण व उत्तरगुणों के द्वारा कर्मों की निर्जरा होने से कर्म की स्थिति अनुभाग क्षीण होता है, पीछे विषयों के द्वारा कुछ सुख दुःख होता था उससे रहित होता है, पीछे ध्यान में स्थित होकर श्रेणी चढ़े तब उपयोग विशुद्ध हो, कषायों का उदय अव्यक्त हो, तब दुःख-सुख की वेदना मिटे, पीछे मन विशुद्ध होकर क्षयोपशम ज्ञान के द्वारा कुछ ज्ञेय से ज्ञेयान्तर होने का विकल्प होता है वह मिटकर एकत्ववितर्क अविचार नाम का शुक्लध्यान

सुख-दुख विवर्जित शुद्धमन अर कर्मरज से रहित जो ।

वह क्षीणकर्मा गुणमयी प्रकटित हुई आराधना ॥३९॥

बारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है यह मन का विकल्प मिटकर विशुद्ध होना है।

पीछे घातिया कर्म का नाश होकर अनन्त चतुष्टय प्रकट होते हैं, यह कर्मरज का उड़ना है, इसप्रकार आराधना की संपूर्णता प्रकट होना है। जो चरमशरीरी हैं उनके तो इसप्रकार आराधना प्रकट होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है। अन्य के आराधना का एकदेश होता है अंत में उसका आराधन करके स्वर्ग प्राप्त होता है, वहाँ सागरों पर्यंत सुख भोग कर वहाँ से चयकर मनुष्य हो आराधना को संपूर्ण करके मोक्ष प्राप्त होता है, इसप्रकार जानना, यह जिनवचन का और शील का माहात्म्य है ॥३९॥

आगे ग्रंथ को पूर्ण करते हैं वहाँ ऐसे कहते हैं कि ज्ञान से सर्वसिद्धि है यह सर्वजन प्रसिद्ध है वह ज्ञान तो ऐसा हो उसको कहते हैं -

अरहंते सुहभक्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।

शीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥४०॥

अर्हति शुभभक्तिः सम्यक्त्वं दर्शनेन सुविसुद्धं।

शीलं विषयविरागः ज्ञानं पुनः कीदृशं भणितं ॥४०॥

अर्थ - अरहंत में शुभ भक्ति का होना सम्यक्त्व है, वह कैसा है ? सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है तत्त्वार्थों को निश्चय-व्यवहारस्वरूप श्रद्धान और बाह्य जिनमुद्रा नग्न दिगम्बररूप का धारण तथा उसका श्रद्धान ऐसा दर्शन से विशुद्ध अतीचार रहित निर्मल है - ऐसा तो अरहंत भक्तिरूप सम्यक्त्व है, विषयों से विरक्त होना शील है और ज्ञान भी यही है तथा इससे भिन्न ज्ञान कैसा कहा है ? सम्यक्त्व शील बिना तो ज्ञान मिथ्या ज्ञानरूप अज्ञान है।

भावार्थ - यह सब मतों में प्रसिद्ध है कि ज्ञान से सर्वसिद्धि है और ज्ञान शास्त्रों से होता है। आचार्य कहते हैं कि हम तो ज्ञान उसको कहते हैं जो सम्यक्त्व और शील सहित हो, ऐसा जिनागम में कहा है, इससे भिन्न ज्ञान कैसा है ? इससे भिन्न ज्ञान को तो हम ज्ञान नहीं कहते हैं, इनके बिना तो वह अज्ञान ही है और सम्यक्त्व व शील हो वह जिनागम से होते हैं। वहाँ जिसके द्वारा सम्यक्त्व शील हुए और उसकी भक्ति न हो तो सम्यक्त्व कैसे कहा जावे, जिसके वचन द्वारा

विषय से वैराग्य अर्हतभक्ति सम्यक्दर्श से।

अर शील से संयुक्त ही हो ज्ञान की आराधना ॥४०॥

यह प्राप्त किया जाता है उसकी भक्ति हो तब जानें कि इसके श्रद्धा हुई और जब सम्यक्त्व हो तब विषयों से विरक्त होय ही हो, यदि विरक्त न हो तो संसार और मोक्ष का स्वरूप क्या जाना ? इसप्रकार सम्यक्त्व शील होने पर ज्ञान सम्यक्ज्ञान नाम पाता है । इसप्रकार इस सम्यक्त्व शील के संबंध से ज्ञान की तथा शास्त्र की महिमा है । ऐसे यह जिनागम है सो संसार से निवृत्ति करके मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, यह जयवंत हो । यह सम्यक्त्व सहित ज्ञान की महिमा है वही अंतमंगल जानना ॥४०॥

इसप्रकार श्रीकुन्दकुन्द आचार्यकृत शीलपाहुड ग्रंथ समाप्त हुआ ।

इसका संक्षेप तो कहते आये कि शील नाम स्वभाव का है । आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञान दर्शनमयी चेतना स्वरूप है वह अनादि कर्म के संयोग से विभावरूप परिणमता है । इसके विशेष मिथ्यात्व कषाय आदि अनेक हैं, इनको रागद्वेषमोह भी कहते हैं, इनके भेद संक्षेप से चौरासी लाख किये हैं, विस्तार से असंख्यात अनन्त होते हैं, इनको कुशील कहते हैं । इनके अभावरूप संक्षेप से चौरासी लाख उत्तरगुण हैं, इन्हें शील कहते हैं, यह तो सामान्य परद्रव्य के संबंध की अपेक्षा शील-कुशील का अर्थ है और प्रसिद्ध व्यवहार की अपेक्षा स्त्री के संग की अपेक्षा कुशील के अठारह हजार भेद कहे हैं, इनका अभाव शील के अठारह हजार भेद हैं, इनको जिनागम से जानकर पालना । लोक में भी शील की महिमा प्रसिद्ध है, जो पालते हैं, वे स्वर्ग-मोक्ष के सुख पाते हैं उनको हमारा नमस्कार है वे हमें भी शील की प्राप्ति करावें, यह प्रार्थना है ।

(छप्पय)

आन वस्तु के संग राचि जिनभाव भंग करि ।
वरतै ताहि कुशीलभाव भाखे कुरंग धरि ॥
ताहि तजै मुनिराय पाय निज शुद्धरूप जल ।
धोय कर्मरज होय सिद्ध पावै सुख अविचल ॥
यह निश्चय शील सुब्रह्ममय व्यवहारै तिय तज नमै ।
जो पालै सबविधि तिनि नमूं पाऊं जिन भव न जनम मैं ॥१॥

(दोहा)

नमूं पंचपद ब्रह्ममय मंगलरूप अनूप ।
उत्तम शरण सदा लहूं फिरि न परूं भवकूप ॥२॥
इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यस्वामि प्रणीत शीलप्राभृत की जयपुर निवासी
पण्डित जयचन्द्र छाबड़ा कृत देशभाषामय वचनिका का

हिन्दी भाषानुवाद समाप्त ॥८॥



वचनिकाकार की प्रशस्ति

इसप्रकार श्रीकुन्दकुन्द आचार्यकृत गाथाबंध पाहुडग्रन्थ है इनमें ये पाहुड हैं इनकी यह देशभाषामय वचनिका लिखी है। छह पाहुड की तो टीका टिप्पण है। इनमें टीका तो श्रुतसागर कृत है और टिप्पण पहिले किसी और ने किया है। इनमें कई गाथा तथा अर्थ अन्यप्रकार हैं, मेरे विचार में आया उनका आश्रय भी लिया है और जैसा अर्थ मुझे प्रतिभासित हुआ वैसा लिखा है। लिंगपाहुड और शीलपाहुड इन दोनों पाहुड की टीका टिप्पण मिला नहीं इसलिए गाथा का अर्थ जैसा प्रतिभास में आया वैसा लिखा है।

श्री श्रुतसागरकृत टीका षट्पाहुड की है, उसमें ग्रन्थान्तर की साक्षी आदि कथन बहुत हैं वह उस टीका की यह वचनिका नहीं है, गाथा का अर्थमात्र वचनिका कर भावार्थ में मेरी प्रतिभास में आया उनके अनुसार अर्थ लिखा है। प्राकृत व्याकरण आदि का ज्ञान मेरे में विशेष नहीं है इसलिए कहीं व्याकरण से तथा आगम से शब्द और अर्थ अपभ्रंश हुआ हो तो बुद्धिमान पंडित मूलग्रन्थ विचार कर शुद्ध करके पढ़ना, मुझे अल्पबुद्धि जानकर हँसी मत करना, क्षमा करना, सत्पुरुषों का स्वभाव उत्तम होता है, दोष देखकर क्षमा ही करते हैं।

यहाँ कोई कहे - तुम्हारी बुद्धि अल्प है तो ऐसे महान ग्रन्थ की वचनिका क्यों की ? उसको ऐसे कहना कि इस काल में मेरे से भी मंदबुद्धि बहुत हैं उनके समझने के लिए की है। इसमें सम्यग्दर्शन को दृढ़ करने का प्रधानरूप से वर्णन है, इसलिए अल्पबुद्धि भी बाँचे पढ़ें अर्थ को धारण करें तो उनके जिनमत का श्रद्धान दृढ़ हो। यह प्रयोजन जानकर जैसा अर्थ प्रतिभास में आया वैसा लिखा है और जो बड़े बुद्धिमान हैं वे मूल ग्रन्थ को पढ़कर ही श्रद्धान दृढ़ करेंगे, मेरे कोई ख्याति लाभ पूजा का तो प्रयोजन है नहीं, धर्मानुराग से यह वचनिका लिखी है, इसलिए बुद्धिमानों के लिए क्षमा करने योग्य है।

इस ग्रन्थ की गाथा की संख्या ऐसे है - प्रथम दर्शनपाहुड की गाथा ३६। सूत्रपाहुड की गाथा २७। चारित्रपाहुड की गाथा ४५। बोधपाहुड की गाथा ६२। भावपाहुड की गाथा १६५। मोक्षपाहुड की गाथा १०६। लिंगपाहुड की गाथा २२। शीलपाहुड की गाथा ४०। ऐसे आठों पाहुड की गाथा संख्या ५०३ है।

(छप्पय)

जिनदर्शन निर्ग्रथरूप तत्त्वारथ धारन ।
 सूतर जिनके वचन सार चारित व्रत पारन ॥
 बोध जैन का जानि आन का सरन निवारन ।
 भाव आत्मा बुद्ध मानि भावन शिव कारन ॥
 फुनि मोक्ष कर्म का नाश है लिंग सुधारन तजि कुनय ।
 धरि शील स्वभाव संवारनां आठ पाहुड का फल सुजय ॥१॥

(दोहा)

भई वचनिका यह जहाँ सुनो तास संक्षेप ।
 भव्यजीव संगति भली मेटै कुकरमलेप ॥२॥
 जयपुर पुर सूवस बसै तहाँ राज जगतेश ।
 ताके न्याय प्रतापतैं सुखी दुंदाहर देश ॥३॥
 जैनधर्म जयवंत जग किछु जयपुर में लेश ।
 तामधि जिनमंदिर घणे तिनको भलो निवेश ॥४॥
 तिनिमें तेरापंथ को मंदिर सुन्दर एव ।
 धर्मध्यान तामैं सदा जैनी करै सुसेव ॥५॥
 पंडित तिनिमें बहुत हैं मैं भी इक जयचंद ।
 प्रेस्यां सबके मन कियो करन वचनिका मंद ॥६॥
 कुन्दकुन्द मुनिराजकृत प्राकृत गाथा सार ।
 पाहुड अष्ट उदार लखि करी वचनिका तार ॥७॥
 इहाँ जिते पंडित हुते तिनिनें सोधी येह ।
 अक्षर अर्थ सुवांचि पढ़ि नहिं राख्यो संदेह ॥८॥
 तौऊ कछू प्रमादतैं बुद्धि मंद परभाव ।
 हीनाधिक कछु अर्थ है सोधो बुध सतभाव ॥९॥
 मंगलरूप जिनेन्द्रकूं नमस्कार मम होहु ।
 विघ्न टलै शुभबंध है यह कारन है मोहु ॥१०॥
 संवत्सर दस आठ सत सतसठि विक्रमराय ।
 मास भाद्रपद शुक्ल तिथि तेरसि पूरन थाय ॥११॥
 इति वचनिकाकार प्रशस्ति । जयतु जिनशासनम् । शुभमिति ।



अकारादि—अनुक्रम से गाथा—सूची

गाथा	पृष्ठ	गाथा	पृष्ठ
	अ		
अइसोहणजोएण	२५१	आदेहि कम्मगंठी	३३६
अक्खाणि बाहिरप्पा	२४०	आयदणं चेदिहरं	८९
* अङ्गाइं दस य दुण्णि य	१६३	आरुहवि अंतरप्पा	२४२
अच्चेयणं पि चेदा	२७२	आहारभयपरिगह	१९८
अज्ज वि तिरियणसुद्धा	२८२	आहारासणिद्वाजयं	२७४
अण्णाणं मिच्छत्तं	७०	आहारो य सरीरो	१०८
अण्णं च वसिट्ठ मुणि	१५७	आसवहेदू य तहा	२६९
अण्णे कुमरणमरणं	१४७		
अपरिगह समणुण्णेसु	८२	इ	
अप्पा अप्पम्मि रओ	१८२	इच्छायार महत्थं	५०
अप्पा अप्पम्मि रओ	१४७	इड्ढिमतुलं विउव्विय	२१३
अप्पा चरित्तवंतो	२७५	इय घाइकम्ममुक्को	२२७
अप्पा ज्ञायंताणं	२७८	इय उवएसं सारं	२६०
अप्पा णारुण णरा	२७६	इय जाणिरुण जोई	२५५
अमणुण्णे य मणुण्णे	७८	इय णाउं गुणदोसं	२२२
अमराण वंदियाण	२६	इय णारुण खमागुण	१९६
अयसाण भायणेण य	१७२	इय तिरिय मणुयजम्मे	१४४
अरसमरूवमगंध	१६९	इय भावपाहुणमिणं	२३४
अरहंतभासियत्थ	३५	इय मिच्छत्तावासे	२१९
अरहंतेण सुदिट्ठं	८९	इय लिंगपाहुडमिणं	३१८
अरहंते सुहभत्ती	३४४	इरियाभासाएसण	८२
अरुहा सिद्धायरिया	२९८		
अवरो वि दव्वसवणो	१६१	उ	
अवसेसा जे लिंगी	५०	उक्किट्ठसीहचरिय	४८
असियसय किरियवाई	२१६	उगतवेणणाणी	२६८
असुईवीहत्थेहि य	१४०	उच्छाहभावणा	६८
असजदं ण वंदे	२७	उच्छाहभावणा	६९
अह पुण अप्पा णिच्छदि	५१	उत्तममज्झिमगेहे	११७
अह पुण अप्पा णिच्छदि	१८३	उत्थरइ जा ण जरओ	२१४
	आ	उद्धम्मज्झलोये	२८४
आगंतुक माणसियं	१३७	उदधी व रदणभरिदो	३३७
आदसहावादणं	२४७	उप्पडदि पडदि धावदि	३१४
आदा खु मज्झ णाणे	१६६	उवसग्गपरिसहसहा	१२१
		उवसमखमदमजुत्ता	११९
		ए	
		एण कारणेण य	५१

गाथा	पृष्ठ	गाथा	पृष्ठ
जस्सपरिगहगहणं	५४	जीवो जिणपण्णत्तो	१६८
जदि पढदि बहु	२९६	जीवदया दम सच्चं	३३१
जह कंचणं विशुद्धं	३२५	जे के वि दव्वसवणा	२०८
जहजायरुवरुवं	२९०	जे ज्ञायंति सदव्वं	२४८
जहजायरुवसरिसा	११९	जेण रागो परे दव्वे	२७९
जहजायरुवसरिसो	५२	जे दंसणेसु भट्टा गाणे	१५
जह ण वि लहदि हु लक्खं	९९	जे दंसणेसु भट्टा पाए	१८
जह तारयाण चंदो	२२१	जे पावमोहियमई	२८२
जह तारायणसहियं	२२२	जे वि पडंति य तेसिं	१९
जह दीवो गब्भहरे	२०९	जे पुण विसयविरत्ता	३२५
जहपत्थरो ण भिज्जइ	१८८	जे पुण विसयविरत्ता	२७७
जह फणिराओ सोहइ	२२१	जे पंचचेलसत्ता	२८३
जल फलिहमणि विसुद्धो	२६७	जे रायसंगजुत्ता	१७४
जह फुल्लं गंधमयं	९६	जे बावीसपरीषह	४९
जह मूलम्मि विणट्टे	१७	जेसिं जीवसहावो	१६९
जह मूलाओ खंधो	१७	जो इच्छइ णिस्सरिहुं	२५२
जह रयणाणं पवरं	१८०	जो कम्मजादमइओ	२७०
जह विसयलुद्ध विसदो	३३३	जो कोडिए ण जिप्पइ	२५०
जह बीयम्मि य दड्ढे	२११	जो को वि धम्मसीलो	१६
जह सल्लिलेण ण लिप्पइ	२२८	जो जाइं जोयणसयं	२४९
जाए विसय विरत्तो	३३९	जो जीवो भवंतो	१६८
जाणहि भावं पढमं	१३४	जो जोडेदि विवाहं	३११
जाव ण भावइ तच्चं	२०१	जो देहे णिरवेक्खो	२४४
जिणणाणदिट्ठिसुद्धं	६२	जो पावमोहिदमदी	३०७
जिणबिंब णाणमयं	९६	जो पुण परदव्वरओ	२४६
जिणमग्गे पव्वज्जा	१२०	जो रयणत्तयजुत्तो	२६२
जिणमुद्धं सिद्धिसुहं	२६५	जो सुत्तो ववहारे	२५५
जिणवयणमोसहमिणं	२२	जो संजमेसु सहिओ	४९
जिणवयणगहिदसारा	३४२	जं किंचि कयं दोसं	१९४
जिणवरचरणंबुरुहं	२२८	जं चरदि शुद्ध चरणं	९३
जिणवरमएण जोई	२४९	जं जाणइ तं णाणं	२५८
जीवविमुक्को सबओ	२२०	जं जाणइ तं णाणं	६१
जीवाजीवविभत्ती	८४	जं जाणिरुण जोई	२६२
जीवाजीवविहत्ती	२६०	जं जाणिरुण जोई	२३९
जीवाणमभयदाणं	२१६	जं णिम्मलं सुधम्मं	१०२
जीवादीसद्दहणं	२४	जं मया दिस्सदे रूवं	२५४

गाथा	पृष्ठ	गाथा	पृष्ठ
जं सक्कइ तं कीरइ	२५	णिग्गंथमोहमुक्का	२८४
ज सूतं जिणउत्तं	४३	णिग्गंथा णिस्संगा	११७
		णिच्चेल पाणिपत्तं	४८
झायहि धम्मं सुक्कं	२०७	णिच्छयणयस्स एवं	२८५
झायहि पंच वि गुरवे	२०९	णिण्णेहा णिल्लोहा	११८
		णिंदाए य पसंसाए	२७९
णग्गतणं अकज्जं	१६५	णियदेहसरिच्छं	२४३
णग्गो पावइ दुक्खं	१७२	णियसत्तीए महाजस	१९४
णच्चदि गायदि तावं	३०८	णिरुवममचलखोहा	९४
णमिऊण जिणवरिदे	१३०	णिस्संक्रिय णिक्कंखिय	६५
णमिऊण य तं देवं	२३९	णिदड्ढुअट्टकम्मा	३४१
ण मुयइ पयडि अभव्वो	२१८		
णरएसु वेयणाओ	३३४	तच्चरुई सम्मत्तं	२५९
णावणोकसायवग्गं	१८६	तवरहियं जं णाणं	२७२
णवविहबभं पयडहि	१८९	तववयगुणेहिं सुद्धो	९७
णविएहिं जं णविज्जइ	२९७	तववयगुणेहिं सुद्धा	१२३
णवि देहो वंदिज्जइ	२८	तव्विरीओ बंधइ	२०३
ण वि सिज्जदि वत्थधरो	५६	तस्स य करइ पणामं	९७
णाणगुणेहिं विहीणा	८५	ताम ण णज्जइ अप्पा	२७६
णाणमयविमलसीयल	२१०	ताव ण जाणदि णाणं	२३२
णाणमयं अप्पाणं	२३८	तित्थयरगणहराइं	२१२
णाणम्मि दंसणम्मि य	३०	तित्थयरभासियत्थं	१८६
णाणस्स णत्थि दोसो	३२६	तिपयारो सो अप्पा	२४०
णाणावरणादीहिं	२०३	तिलतुसमत्तणिमित्तं	१२१
णाणी सिवपरमेट्टी	२२६	तिहित्तिण्णि धरवि णिच्चं	२६३
णाणेण दंसणेण य	३२७	तिहुयणसलिलं सयलं	१४३
णाणेण दंसणेण य	३०	तुसमासं घोसंतो	१६३
णाणं चरित्तसुद्धं	३२४	तुस धम्मंत बलेण य	३३४
णाण चरित्तहीणं	३२३	तुह मरणे दुक्खेण	१४१
णाणं चरित्तहीणं	२७१	ते धण्णा ताण णमो	२१२
णाणं ज्ञाणं जोगो	३४२	ते धण्णा सुकयत्था	२८९
णाणं णरस्स सारो	३०	ते धीरवीर पुरिसा	२३०
णाणं णाऊण णरा	३२४	ते मे तिहुवणमहिया	२३३
णाणं दंसण सम्मं	६०	तेयाला तिण्णि सया	१५२
णाणं पुरिसस्स हवदि	९९	तेरहमे गुणठाणे	१०६
णामे ठवणे हि य संदव्वे	१०३	ते रोया वि य सयला	१५३

गाथा	पृष्ठ	गाथा	पृष्ठ
ते च्विय भणामि हं जे	२२१	दंसणमूलो धम्मो	३
तं चेव गुण विशुद्धं	६६	दंसणवयसामाइय	७४
		दंसणसुद्धो सुद्धो	२५९
थूले तसकायवहे	७५	दसेइ मोकखमगं	९५
दढसंजममुद्दाए	७८	धणधणवत्थदाणं	१६
दव्वेण सयल णग्गा	१७१	धण्णा ते भयवंता	२३०
दस दस दोसुपरीसह	१८७	धम्ममि णिप्पवासो	१७४
दस पाणा पज्जती	११०	धम्मेण होइ लिंगं	३०७
दसविहपाणाहारो	२१५	धम्मो दयाविसुद्धो	१०१
दिक्खाकालाईयं	१९६	धावदि पिंड णिमित्तं	३१३
दियसंगद्वियमसणं	१५४	धुवसिद्धी तित्थयरो	२७३
दिसिविदिसिमाणपढमं	७६		
दुइयं च उत लिंगं	५५	पडिदेससमयपुग्गल	१५१
दुक्खे णज्जइ अप्पा	२७५	पढिएणवि किं कीरइ	१७१
दुक्खे णज्जदि णाणं	३२२	पयडहिं जिणवरलिंगं	१७३
दुज्जणवयण चडक्कं	१९५	पयलियमाणकसाओ	१७७
दुट्ठकम्मरहियं	२४८	परदव्वरओ बज्झदि	२४५
दुविहं पि गंथचायं	२०	परदव्वादो दुग्गइ	२४६
दुविहं संजमचरणं	७३	परमप्पयं ज्ञायंतो	२६६
देव गुरुम्मि य भत्तो	२६८	परमाणुपमाणं वा	२७७
देवगुरूणं भत्ता	२८५	परिणामम्मि असुद्धे	१३३
देवाणगुणविहूई	१३९	पव्वज्ज संगचाए	७०
देहादिचत्तसंगो	१५६	पव्वज्जहीणगहिणं	३१६
देहादिसंगरहिओ	१६५	पसुमहिलसंढसंगं	१२२
दंडयणपरं सयल	१६०	पाऊणणाण सलिलं	८५
दसणअणंतणाणं	९४	पीऊण णाणसलिलं	१८७
दंसणअणंतणाणे	१०४	पाओपहदंभावो	३१०
दंसणणाणचरित्ते	३१७	पाणिवहेहि महाजस	२१५
दंसणणाणचरित्ते	३९२	पावं खवइ असेसं	१९५
दंसणणाणचरित्ते	३९०	पावंति भावसवणा	१९१
दंसणणाणचरित्ते	२५	पावं हवइ असेसं	२०२
दंसणणाणचरित्तं	८४	पासत्थभावणाओ	१३८
दंसणणाणावरणं	२२५	पासंडी तिण्णि सया	२२०
दंसणभट्टाभट्टा	११२	पित्त तमुत्तफेफस	१५३
		पीओसि थणच्छीरं	१४०

गाथा	पृष्ठ	गाथा	पृष्ठ
पुंछलिघरि जो भुंजइ	३१७	भावहि अणुवेखाओ	१८८
पुरिसायारो अप्पा	२८६	भावहि पढमं तच्चं	१९९
पुरिसेण वि सहियाए	३३६	भावहि पंचपयारं	१७०
पुरिसोवि जो ससुत्तो	४२	भावेण होइ णग्गो	१७५
पूयादिसु वयसहिय	१८१	भावेण होइ णग्गो	१६४
पंचमहव्वयजुत्ता	११४	भावेण होइ लिंगी	१५९
पंच महव्वय जुत्तो	५५	भावेह भावसुद्धं	१६७
पंचविहचेलचायं	१७९	भावेह भावसुद्धं	८७
पंच वि इंदियपाणा	१०९	भावो वि दिव्वसिवसु	१७५
पंचसु महव्वदेसु य	२८१	भावो हि पढमलिंगं	१३१
पचेन्दियसंवरणं	७८	भावं तिविहपयारं	१७६
पंचेव णुव्वयाइं	७४	भीसणणरयगईए	१३५
		भंजसु इंदियसेणं	१८५
ब		म	
बलसोक्खणाणदंसण	२२५	मइधणुहं जस्स थिरं	१००
बहिरत्थे फुरियमणो	२४२	मच्छो वि सालिसिथो	१८४
बहुसत्थ अत्थजाणे	८८	मणवयणकायदव्वा	९०
बारसविहतवयरणं	१७८	मणुयभवेपंचिन्दिय	१०९
बारस अङ्गवियाणं	१२८	ममत्तिं परिवज्जामि	१६६
बारसविहतवजुत्ता	३३	मयमायकोहरहियो	२६४
बाहिरसंगच्चाओ	१८५	मय राय दोस मोहो	१११
बाहिरलिंगेण जुदो	२७३	मयराय दोषरहिओ	९०
बाहिरसयणत्तावण	१९९	मलरहिओ कलचत्तो	२४१
बाहिरसंगविमुक्को	२१४	महुपिंगो णाम मुणी	१५६
बुद्धं जं बोहंतो	९२	मायावेल्लि असेसा	२३१
बंधो णिरओ संतो	३१५	मिच्छत्तछण्णदिट्ठी	२१८
		मिच्छत्त तह कसाया	२०२
भ		मिच्छत्तं अण्णाणं	२५३
भरहे दुस्समकाले	२८१	मिच्छादिट्ठी जो सो	२९३
भव्वजणबोहणत्थं	८३	मिच्छाणाणेसु रओ	२४४
भवसाथरे अणते	१४१	मिच्छादंसणमग्गे	७१
भावरहिण सपुरिस	१३४	मूलगुणं छित्तूण य	२९४
भावरहिओ ण सिज्जइ	१३३	मोहमयगारवेहिं	२३१
भावविमुत्तो मुत्तो	१५५	मंसट्टिसुक्कसोणिय	१५५
भावविसुद्धिणिमित्तं	१३२		
भावसमणो य धीरो	१६२		
भावसवणो वि पावइ	२११		
भावसहिदो य मुणिणो	१९०		

अकारादि-अनुक्रम से गाथा सूची

३५५

गाथा	पृष्ठ	गाथा	पृष्ठ
सिसुकाले च अयाणे	१५४	सूतत्थं जिणभणियं	४२
सीलगुणमंडिदाणं	३३०	सेयासेयविदण्हू	२१
सीलस्स य णाणस्य य	३२१	सेवहि चउविहलिंगं	१९७
सीलसहस्सट्टारस	२०४	सो णत्थि तत्पएसो	१५९
सीलं तवो विसुद्ध	३३२	सो णत्थि दव्व सवणो	१५०
सीलं रक्खंताणं	३२७	सो देवो जो अत्थं	१००
सुण्णहरे तरुहिट्ठे	११४	संखिज्जमसंखिज्जगुणं	७३
सुद्धं सुद्ध सहावं	१७६	सग्गं तवेण सव्वो	२५०
सुणहाण गद्दहाण य	३३७	संजम संजुत्तस्स य	९८
सुण्णायार णिवासो	८१		
सुत्तं जाणमाणो हि	७१	हरिहरतुल्लो वि णरो	४७
सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं	३६	हिमजलणसलिलगुरुय	१४४
सुरणिलयेसुसुरच्छर	१३७	हिंसारहिए धम्मो	२९०
सुहजोएण सुभावं	२६९	हिंसाविरइ अहिंसा	७९
सुहेण भाविदं णाणं	२७४	होऊण दिढ्ढचरित्तो	२६६
सूत्तत्थपयविणट्ठो	४६		

●●●